CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीत-मंजुषा

6.3

इन्द्राणी चक्रवर्ती

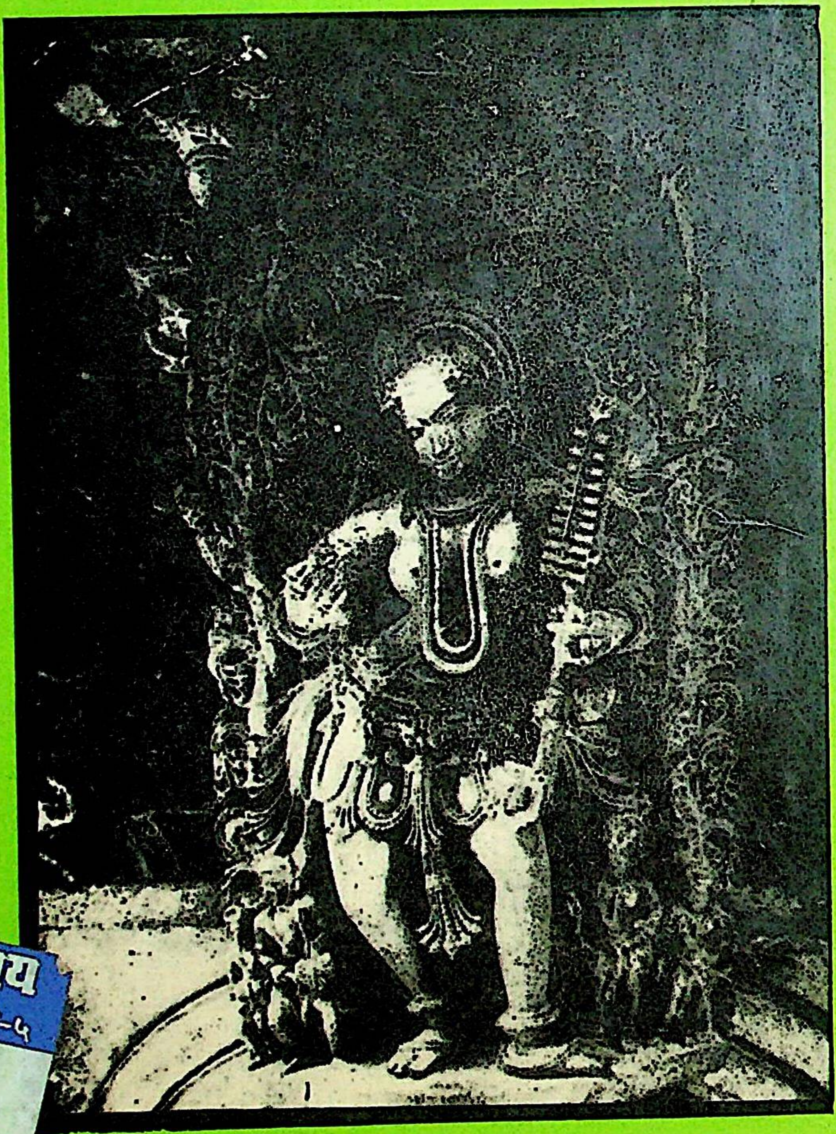

न्थालय
वाराणसी-५
78

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ. इन्द्राणी चक्रवर्ती के निरन्तर मनन व चिन्तन के प्रयास के फलस्वरूप 'संगीत मंजुषा' गुणीजन सम्मुख रखा गया है। संगीत के विभिन्न पहलुओं पर इतना गहरा प्रतिपादन बहुत कम हुआ है। हर एक प्रबन्ध शास्त्र-पक्ष के साथ-साथ प्रयोग-पक्ष को भी उजागर करता है। यही लेखिका की विशेषता है।

'संगीत मंजुषा' संगीत चिन्तकों के लिए नवीन तथ्यों को सामने रखेगा, साथ ही संगीत के छात्रवर्ग की ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ उन्हें शोध-प्रवृति की ओर प्रेरित करेगा, ऐसा विश्वास है।

रुपये १२०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अ: 2/78
आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परम आदरणीया व पूज्या बहनजी को
यह

संगीत मंजुषा
(SANGĪT MANJUṢĀ)

श्रद्धा-सुमन-रूप में समर्पित
रुद्राणी
10.5.88

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीत मंजुषा

(SANGĪT MANJUṢĀ)

आम्नाय–ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

डा० इन्द्राणी चक्रवर्ती

आमुख
डा० ठाकुर जयदेव सिंह

MITTAL PUBLICATIONS
मित्तल पब्लिकेशंस
दिल्ली-100035

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

[संगीत नाटक अकादमी द्वारा प्रदत्त
आर्थिक सहायता से प्रकाशित]

प्रथम प्रकाशन—1988
© इन्द्राणी चक्रवर्ती
Indrani Chakravarti, 1988

ISBN 81-7099-030-0

प्रकाशक :
के० एम० मित्तल
मित्तल पब्लिकेशंस
बी-2/19 बी, लारेंस रोड
दिल्ली-110035

मुद्रक :
अशोक प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली-110006

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Author Comp.

माँ और बाबा

को

जो देह-बुद्धि

व

प्रेरणा के मूल स्रोत हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

आमुख

डा० कुमारी इन्द्राणी चक्रवर्ती ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रशंसनीय शोधकार्य किया है। उनका शोध प्रबन्ध "स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान" पुस्तकाकार में प्रकाशित हो गया है जिससे उनकी गम्भीर शोध-प्रवृत्ति का पता चलता है।

इधर उन्होंने समय-समय पर संगीत विषयक कुछ निबन्ध लिखे हैं और यह निबन्धावली पुस्तकाकार में प्रकाशित होने जा रही है। इस संग्रह में 12 निबन्ध हैं।

हमारे संगीत का यह दुर्भाग्य है कि इसके प्रयोक्ता शास्त्र से अपरिचित हैं और शास्त्र के ज्ञाता प्रयोग से अनभिज्ञ हैं। कुमारी इन्द्राणी चक्रवर्ती अपवाद स्वरूप हैं। इन्होंने संगीतशास्त्र का भी अध्ययन किया है और सितार-वादन में भी प्रवीण हैं। साथ ही अध्यापन का भी कई वर्षों का अनुभव है जिसके परिणामस्वरूप वह संगीत की मुख्य समस्याओं से पूर्णरूपेण अवगत हैं। ये उच्च कोटि की विचारशील अध्यापिका हैं। प्रत्येक निबन्ध में इन्होंने केवल संगीत सम्बन्धी समस्याओं को उठाया ही नहीं है, अपितु उनके समुचित समाधान का भी प्रयत्न किया है।

उदाहरणस्वरूप कुछ विद्वानों ने एक भ्रान्त मत प्रतिपादित किया है कि ईरानी मकाम से भारतीय संगीत के मेल और थाट निकले। इन्होंने अपने निबन्ध में यह सिद्ध किया है कि मकाम गेय हैं, गेय के आश्रय नहीं हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक निबन्ध में इनकी चिन्तनशीलता का उदाहरण मिलेगा। मेरा विश्वास है कि इनके प्रत्येक निबन्ध में पाठक को चिन्तन की सामग्री मिलेगी। आशा है संगीत प्रेमी इस निबन्धावली का स्वागत करेंगे।

23 मार्च, 1986 —जयदेव सिंह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपक्रमणिका

जैसे-जैसे जिन्दगी का एक दिन समाप्त होता है, मानव का अनुभव-भण्डार बिन्दु से स्फीत होते हुए क्रमशः सागर के अभिमुख बढ़ता जाता है। पल-पल में चुना हुआ अनुभवों का क्षण कभी व्यर्थ नहीं जाता—चाहे वे सुखमय या कटुतिक्त। वह तो नित्य नवीन रूप धारण कर मन विस्मयाप्लुत करता रहता है। पर प्रश्न यह है कि अनुभव के इन दुर्लभ क्षणों को मनुष्य किस रूप में जीवित रखने का प्रयास करता है। अगर उसका ध्येय इस प्रयास को सर्वतोमुखी बनाना हो, तो वहीं उसकी सार्थकता है।

शिक्षा अनुभव क्षेत्र को व्यापक बनाती है, और यह शिक्षण अगर सुयोग्य गुरु के निर्देशन में हो तो चार चाँद लग जाते हैं—शिष्य को उसकी अनुभव-परिधि के विकास-विस्तार में। लेखिका का परम सौभाग्य है कि जीवन की गहराई तक झाँकने की प्रवृत्ति को उभारने में तथा आत्मनिर्भर होने में उसके गुरुवर्ग सदैव सहयोगी रहे हैं। फलतः 'संगीत मंजुषा' आपके सामने है।

इस ग्रन्थ की परिकल्पना और निर्माण के बीच अनुभव के चौदह वर्ष गुजर गए। सहृदयों के बारम्बार अनुरोध ने परिकल्पना को रूप दे ही दिया। यद्यपि अधिकांश विचार-बिन्दु प्रबन्ध के रूप में किसी न किसी शोध पत्रिका में छप चुके हैं, किन्तु इन पत्रिकाओं के सम्पादकों के द्वारा दिये प्रोत्साहन व स्वीकृति ने भी इन अनुभव बिन्दुओं को एकत्र कर एक ही 'मंजुषा' के अन्दर रखने को प्रेरित किया। लेखिका इन सभी सहयोगी बन्धुओं, विशेषतः सम्पादक, संगीत कार्यालय हाथरस तथा सम्पादक, 'छायानट' (उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ) की कृतज्ञ है। संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ के अधिकारी वर्ग को धन्यवाद देना मेरा परम कर्त्तव्य है जिनके द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता से यह प्रकाशित हो पा रहा है।

कृतज्ञता ज्ञापन करती हुई लेखिका को इस बात का सन्ताप है कि जिनकी असीम स्नेह-स्वीकृति का परिणाम ग्रन्थ का 'आमुख' है, वे परम श्रद्धेय डा० ठाकुर जयदेव सिंह ग्रंथ रूप देखने के लिए हमारे बीच नहीं रहे। लेखिका के खोज के परिणामस्वरूप जो भी तथ्य सामने आये हैं उनका ठाकुर साहब के विचारों से विचित्र सामञ्जस्य रहा; लेखिका यहीं अपनी सफलता मानती है। अनन्त में विलीन उनकी आत्मा को परमकरुणामय परमपिता शान्ति दें, यही काम्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रन्थ को अत्यल्प समय में छापने के लिए मैसर्स मित्तल पब्लिकेशंस, दिल्ली के अधिकारी श्री के० एम० मित्तल विशेष आभार के पात्र हैं, जिन्होंने अत्यल्प समय में ही ग्रन्थ को प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया और उसे निभाया। धन्यवाद के पात्र हैं लेखिका के भाई-बहन, जिन्होंने आगे बढ़ने में सदा सहयोग दिया। प्रिय मित्र डा० सतीश चन्द्रा को धन्यवाद दिये बिना अपना कर्तव्य मैं पूरा नहीं मान सकती क्योंकि इनके सहयोग से ही यह ग्रन्थ इस रूप में आ सका है। पाण्डुलिपि तैयार करने में मदद देने के लिए मेरी शिष्या गुरप्रीत मनचन्दा को आन्तरिक शुभेच्छा ज्ञापन करती हूं।

ग्रन्थ रूप

'संगीत मंजुषा' में संकलित प्रबन्धों का सन् 1972 से प्रकाशन हो रहा है। किन्तु विषय-क्रम सन्-तारीख मानकर नहीं किया गया, बल्कि कुछ अभिनव कल्पना की गई। प्रथम प्रबन्ध 'संगीत विषयक कुछ पारिभाषिक शब्दावली, समस्यायें एवं समाधान' अब तक किसी पत्रिका में प्रकाशित नहीं हुआ। संयोग की बात है कि प्रथम तथा अन्तिम प्रबन्ध क्रमशः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के सेमिनारों में पढ़े गये थे, और दोनों सत्र में अध्यक्ष ठाकुर जयदेव सिंह थे। पाठ किये गये प्रबन्धों के प्रत्येक विचार-विन्दु से वे सहमत थे तथा लेखिका को अधिकाधिक खोज करने की प्रेरणा और आशीर्वाद भी उनसे मिला।

द्वितीय तथा तृतीय निबन्ध अलंकारों पर है जो लेखिका की प्रारम्भिक चेष्टा थी। गुण-दोष का अलग-अलग रूप में विचार तो हुआ किन्तु नारदीय शिक्षा से संगीत राज (अप्रकाशित संस्करण) तक किये गये समस्त विचारों को एक प्रबन्ध में प्रस्तुत कर गागर में सागर भरने की चेष्टा की गई है। वृत्ति एवं गीति अथवा ग्राम-मूर्च्छना पद्धति में तान की व्याख्या सहज नहीं। इन दुरुह विषयों को सहजतम पन्था में समझाने का प्रयास किया गया है, जो निःसन्देह अनेक भ्रान्तियों को दूर करेगा।

श्रुति-सारणा-मूर्च्छना शब्दों का प्रयोग केवल एक ही अर्थ में संगीत में प्रयुक्त नहीं हुआ है। संगीत-ग्रन्थों के अलावा अन्य अनेक काव्यों में भी उदाहरण ढूंढ़कर एक नवीन लेख प्रस्तुत किया गया है जो पाठक को अवश्य ही रूचिप्रद लगेगा।

अष्टम तथा नवम् प्रबन्ध एक ही लेख के रूप में छपा था। विषय की दुरुहता को मद्देनजर रखते हुए इसे दो लेखों में विभाजित किया गया। पाठक को इससे विषय को गहराई से सोचने का मौका मिलेगा। भरत से शार्ङ्गदेव तक किस प्रकार आधार स्वर में परिवर्तन हुआ, वीणाओं के विभिन्न रूपों ने कैसी भूमिका निभाई थी, इन सब की विस्तृत पर्यालोचना है दसवें प्रबन्ध में। यह विषय लेखिका के विशेष शोध का परिणाम है। जो स्पष्ट करता है कि किन्नरी वीणा के आविष्कार ने ग्राम-मूर्च्छना पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त की समाप्ति कर देशी पद्धति के विकास में किस तरह सहयोग दिया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक के ग्रन्थकारों पर शार्ङ्गदेव का ऐसा प्रभाव पड़ा है, जैसे आसमान में एक चन्द्रमा तथा सैकड़ों तारे। यहाँ तक कि शार्ङ्गदेव के कटु समालोचक भी उनके प्रभाव से पूर्णतः अछूते नहीं रह पाये हैं। 'सप्ताध्यायी' में प्रतिपादित विभिन्न पहलुओं को सामने रखकर परवर्ती ग्रन्थकारों पर शार्ङ्गदेव के प्रभावों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

अपने शोध-ग्रन्थ 'स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान' में जिस विषय को संकोच से, डरते हुए कहा गया, उसी विषय को साधिकार, तथ्यों सहित उजागर किया गया है—'थाट सिद्धान्त' नामक अन्तिम लेख में। पाठक स्वयं ही इसकी प्रमाणिकता पर विचार करें, लेखिका तो मात्र-शोधकर्त्री है।

लेखिका ने अपनी हिम्मत का थोड़ा विस्तार दिया है स्वरचित राग 'देव-विभा' का परिचय, स्वरूप, बन्दिशें देकर। लेखिका के विचार से 'संगीत शास्त्री' का 'प्रयोगकर्त्ता' होना गुनाह नहीं, बल्कि यह एक विरल किन्तु प्रत्यक्ष साहसिक कदम है। अतः शास्त्र-पाठ ने उनके प्रयोग-पक्ष के साथ कभी बैर नहीं किया है, अपितु नीर-क्षीर विवेकी बनाने में अग्रसरित किया है। फलतः विचार-बिन्दुओं में लेख के साथ-साथ प्रयोग-बिन्दु भी आ मिला। गंगा-कावेरी का मिलन एक तट पर बिना गुरु कृपा सम्भव नहीं, और लेखिका अपने सौभाग्य से ऐसी कृपा से कभी वंचित नहीं रही।

परिशिष्ट ग में ग्रन्थ पन्जी दी गई है। अन्वेषक पाठक उनमें हर तथ्यों की खोज कर सकते हैं।

संगीत के हर पहलू को गम्भीरता से देखने की निष्कपट चेष्टा की गई है। अतः पाठक इस ग्रन्थ में 'सस्ती या चालू चीज' पाने की व्यर्थ चेष्टा न करें। वर्षों के शोध का क्रम-रूप इन लेखों में मिलेगा जो संगीत के ईमानदार जिज्ञासुओं के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हो सकता है। चिन्तन के क्षेत्र में सुधीजन के मस्तिष्क को शक्ति-वर्धक आहार जुटा सकने में 'संगीत मंजुषा' समर्थ हो सकेगा, इस विश्वास के साथ इसे 'सर्वजनहिताय' प्रस्तुत करती हूं।

—इन्द्राणी चक्रवर्ती

अध्यक्ष,
संगीत विभाग,
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुक्रमणी

आमुख		vii
उपक्रमणिका		ix
1. संगीत विषयक कुछ पारिभाषिक शब्दावली—समस्याएं एवं समाधान	...	1
2. शार्ङ्गदेव के अलंकार—एक विवेचन	...	43
3. संगीत पारिजात के अलंकारों का विवेचन	....	56
4. संगीत में गुण-दोष विचार	...	74
5. संगीत में वृत्ति एवं गीति	...	101
6. ग्राम मूर्च्छना पद्धति में 'तान'	...	120
7. श्रुति, सारणा तथा मूर्च्छना का विभिन्नार्थक प्रयोग	...	128
8. वीणा-वादन की प्रविधि—धातु तथा करण	...	134
9. वीणाओं पर हस्तव्यापार तथा वाद्य	...	148
10. वीणाओं में आधार-स्वर के क्रमिक परिवर्त्तन	...	162
11. स्वर तथा श्रुति के प्रतिपादन में परवर्त्ती ग्रन्थकारों पर शार्ङ्गदेव का प्रभाव	...	168
12. थाट सिद्धान्त	...	181
परिशिष्ट		
(क) सारणी	....	197
(ख) राग 'देवविभा'	...	198
(ग) ग्रन्थपञ्जी	...	211
शुद्धि पत्र	...	215

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1

संगीत विषयक कुछ पारिभाषिक शब्दावली समस्याएँ एवं समाधान

भूमिका

मानविक वृत्ति के साथ-साथ संगीत जुड़ा है। संगीत केवल संस्कृति का ही परिचायक है ऐसी बात नहीं; जीवन के आरम्भ क्षण से अन्तिम यात्रा तक मानव की स्वाभाविक वृत्ति के साथ-साथ संगीत ओत-प्रोत है। जैसे-जैसे मानव-संस्कार में परिष्कार आया, संगीत का विकास होता गया। केवल गान-वादन की क्रिया में ही यह महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ ऐसी बात नहीं, संगीत के नये-नये सिद्धान्त बने, गहन अध्ययन का रास्ता खुला। सिद्धांतों में परिवर्तन तथा परिवर्धन भी होता रहा अतः संगीत तथा उनकी विभिन्न विधाओं की परिभाषाएँ बनी। कालभेद से शैली में भेद हुआ; नये शब्द सामने आये, नयी टीकाएँ लिखी गयीं। कुछ पुराने शब्दों का या तो बहिष्कार हुआ या वे नयी परिभाषा के साथ सामने आये। कुछ ऐसे शाश्वत शब्द भी रहे जिनके अर्थ में परिवर्तन होने का कोई प्रश्न ही न था। उदाहरण के लिए 'स्वर'। कालानुसार स्वर स्थान या स्वर संज्ञा में भेद हुए किन्तु स्वर शब्द के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और न ही यह सम्भव भी है।

संगीत के ऐसे पारिभाषिक शब्दों का पुनर्चिन्तन या पुनर्विवेचन की आवश्यकता को महसूस कर इस लेख की परिकल्पना की गई है।

निर्धारित लेख को चार क्रम में विभाजित किया गया है—संगीत, नाद, स्वर, गान।

संगीत शब्द का अर्थ तथा उसकी व्याख्या यहाँ प्रस्तुत की गई है, फिर उसके विभिन्न विधाओं पर प्रकाश डाला गया। हर सम्भव नवीन तथ्यों से पाठकों को परिचित कराने की चेष्टा की गयी है।

नाद पर अब तक अनेक विचार किये गये हैं। केवल संगीत-शास्त्र में ही ध्वनि भौतिकी (Sound Physics) में भी ध्वनि सम्बन्धी नये तथ्यों का प्रकाश हो चुका है, साथ संगीतिक ध्वनि या नाद के पारस्परिक सम्बन्धों की भी खोज हो चुकी है। इन सभी विचारों का विश्लेषण कर 'असार' का वर्जन व 'सार' को ग्रहण करने की चेष्टा की गई है जिससे अनर्गल धारणाओं को आगे बढ़ावा न मिल सके।

प्राचीन काल से आज तक 'स्वर' पर बहुत कहा जा चुका है, सुना भी गया है। आवश्यक नहीं कि सदा उचित ही कहा गया हो। आधुनिक काल में स्वर पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष रूप से जो चिन्तन व मनन किये गए उनके औचित्य पर प्रकाश डालते हुए स्वमत देने की चेष्टा की गई है तथा एक स्थायी सिद्धान्त बनाने की भी।

गान आधेय है, उसका आधार है गायक व वादक; इन तत्त्वों पर भी विचार करना आवश्यक रहा।

पूर्वाग्रह तथा राग-द्वेष की भावना से रहित हो पारिभाषिक शब्दावली का विवेचन किया गया है। विवेचन करते समय विषय को अधिक महत्त्व दिया गया है, व्यक्ति विशेष से आत्मिक सम्बन्ध को कम। शोध का यह प्रथम पाठ भी है।

संगीत

रस का ग्रहण तथा अभिव्यक्ति सहृदयजन नाट्य, काव्य और संगीत द्वारा करता है। इनके साधन क्रमशः आंगिक चेष्टायें, भाषा और नाद हैं। इन तीनों कलाओं का पृथक अस्तित्व होने के कारण इनमें से कोई भी एक कला, रसानुभव में पूर्णरूपेण समर्थ है। प्रथम दो कलाओं के साधनों का भी समावेश संगीत (गीत-वाद्य तथा नृत्य) में हो जाने के कारण, इन तीनों कलाओं में संगीत श्रेष्ठ है—ऐसा गुणियों का विचार है। फिर भी इन तीनों कलाओं में ऐसी क्षमता है कि ये कुछ क्षण के लिए व्यक्ति को रागद्वेष से मुक्त कर 'आनन्द' की ओर ले जाता है।

'संगीत' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में 'सम्यक् गीतम्' के रूप में बताया गया है। उपनिषद व पुराणों में संगीत का लय-ताल वाद्य विशेष के संयोजन से परिमार्जित गीत रूप में माना गया है। बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में 'गन्धव्ववेद' के अन्तर्गत गीत-वादित्त-नच्च (नृत्य), नाद्य तथा आख्यानम् (आख्यान या कथापठन) का समावेश है।

विस्तृत अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि 'संगीत' शब्द की विस्तृति या व्याप्ति वैदिक काल से भरत काल तक गीत या अधिक से अधिक वाद्य तक ही सीमित रही है (यद्यपि भरत ने 'संगीत' के स्थान पर 'गान्धर्व' शब्द का प्रयोग किया है, पर गीत व वाद्य ही उसका प्राण है), गीत-वाद्य-नृत्य इन त्रयी का संयोग-स्थल संगीत नहीं है। वैदिक वाङ्मय में गीत व गान शब्द का बहुल प्रयोग है। किन्तु मध्ययुगीन 'संगीत' की परिभाषा के रूप में नहीं।

'संगीत' शब्द का पारिभाषिक उपयोग 'व्याप्ति' के रूप में भरत के पश्चात् किया गया है भरत का 'गान्धर्व' 'स्वर ताल पदात्मक' है। इसका अर्थ तथा उद्देश्य 'संगीत' से किञ्चित् भिन्न है। गान्धर्व का अर्थ है —जो गान (वाक्य, पद), धातु (स्वर) तथा वाद्य को धारण करता है और जिसका प्रयोग गन्धर्व करते हैं। ध्यान देने की बात है कि बाद के 'संगीत' यानी 'गीत वाद्य-नृत्य-का समुच्चय से गान्धर्व की परिभाषा में अन्तर था। नृत्य का भरत ने एक अलग तथा स्वयंसम्पूर्ण विषय के रूप में वर्णन किया, गन्धर्व का एक अंशमात्र नहीं। अतः आधुनिक संगीत की परिभाषा में 'नृत्य' को अलग विधा मानना भरत की दृष्टि से उपयुक्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गीत-वाद्य-नृत्य का समाहार 'संगीत' है—यह कथन शार्ङ्गदेव का है। इनके अनुसार नृत्य वाद्य का, वाद्य गीत का अनुकारक है। अभिनवगुप्त के अनुसार वाद्य गीत का अनुरञ्जक है, और जहाँ प्रयोजन हो, वहाँ वाद्य कण्ठ की परुषता (कर्कशता) जैसे दोषों को अपने स्वभावमधुर ध्वनि से ढक देता है, अतः ततातोद्य को श्रेष्ठ मानना चाहिए। भरत ने इसीलिए 'तत कुतप' में कण्ठ का भी अन्तर्भाव कर लिया है। कण्ठ के लिए इन्होंने अलग कुतप नहीं कहा।

डॉ॰ बृहस्पति ने निर्गीत में वाद्य के साथ नृत्य का भी अन्तर्भाव किया है। उनके अनुसार—'यदि······गीत को निकाल दिया जाय और वाद्य और नृत्य मात्र अवशिष्ट रह जाय, तो इन दोनों की संज्ञा 'संगीत' न होकर 'निर्गीत' रह जायगी। संगीत व निर्गीत दोनों प्राचीन शब्द हैं······उत्पत्तिक्रम में निर्गीत, जिसका नाम वहिर्गीत भी है, बाद का है। गीतहीनता के कारण जहाँ वह निर्गीत कहलाता है, वहाँ रंगभूमि में खेले जाने वाले नाटक की वस्तु से बाहर होने के कारण इसे बहिर्गीत कहा जाता है।

'आज साधारणतया निर्गीत, वहिर्गीत या संगीत में कोई अन्तर नहीं समझा जाता और संगीत शब्द का प्रयोग अर्थहीन गान या वादन के लिए भी होने लगा है। इस स्थिति में जब हम प्राचीन आचार्यों की संगीत विषयक उक्तियों का सामञ्जस्य संगीत के अपने माने हुए अर्थ में बिठाने लगते हैं तब असामञ्जस्य की सृष्टि होती है।'

यहाँ कुछ बातें स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

1. भरत ने निर्गीत या वहिर्गीत में नृत्य का समावेश नहीं किया। वाद्य के शुष्काक्षरों को ही निर्गीत नाम दिया गया जिनमें सार्थक पद नहीं होते हैं।
2. पारिभाषिक शब्द के रूप में संगीत से प्राचीन निर्गीत है। आज का विद्यार्थी तो कम से कम शार्ङ्गदेव को प्राचीन ग्रन्थकार नहीं मानता।
3. शार्ङ्गदेव स्वयं ने गीत-वादन-नृत्य के समावेश को 'संगीत' कहा है; पर यह नहीं कहा कि गीत में केवल सार्थक पद ही होना चाहिए, और वादन तो सदैव शुष्काक्षरों का होता है। तराना जैसी शैली को अगर शुष्काक्षर कहा जाता है तो उसमें शार्ङ्गदेवोक्त परिभाषा को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचता।
4. अतः या तो गान्धर्व के अनुसार 'गीत' और 'निर्गीत' की व्याख्या की जानी चाहिए अथवा गीत-वाद्य-नृत्य के समाहार के रूप में 'संगीत' की व्याख्या करनी चाहिए। दो युगों की दो व्याख्याओं को मिलाकर एक नवीन परिभाषा की सृष्टि करते हुए आधुनिक संगीतकारों पर दोषारोपण करना न्याय नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आधुनिक परिभाषा—संगीत का सामान्य अर्थ है— सम्यक् रूप (अवधारणा) से जो गाया (या बजाया) जाय, वह 'संगीत' है।

संगीत का पारिभाषिक अर्थ और थोड़ा व्यापक है। 'सम्' का अर्थ है 'सह' यानी साथ-साथ या मिलकर। कोष के अनुसार संगीत का अर्थ है वह गायन जो नृत्य और वाद्ययन्त्र के साथ गाया जाय। इस दृष्टि से शाङ्‌र्गदेव की व्याख्या भी भिन्न है। क्योंकि कोषों 'समाहार' अर्थ लिया गया है, अनुकारक नहीं।

पं० भातखंडे के अनुसार गीत की प्रधानता होने के कारण संगीत' नाम चुना गया है। इसलिए कुछ लोग संकुचित अर्थ में केवल गान के लिए ही 'संगीत' शब्द का प्रयोग करते हैं। कुछ संगीत का सम्बन्ध केवल गान-वादन से मानते हैं, नृत्य से नहीं। पाश्चात्य में Music का अर्थ गान-वादन से लिया जाता है, नृत्य (Dance) एक स्वतन्त्र विधा है। इस दृष्टि से उपर्युक्त दोनों विचार 'गान्धर्व' से मिलते हैं।

संगीताञ्जलि तथा अन्य ग्रन्थों में गीत की प्रधानता दिखाने के लिए उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। संगीताञ्जलि के अनुसार—'नृत्य में चूंकि मृदंग, तबला आदि का सहारा लिया जाता है, अतः नृत्य वाद्य का अनुगमन करता है। वाद्य पर गान का अनुसरण किया जाता है, क्योंकि बजाते समय भी व्यक्ति मन ही मन उसे गुनगुनाता है। इस प्रकार वाद्य का आदर्श गला ही रहता है।' परन्तु इसके विपरीत यह तर्क 'नर्त्तन व वादन' की ओर से प्रस्तुत किया जा सकता है कि—नृत्य में मृदंग, तबला का सहारा लिया जाता है, तथा उन्हीं के बोलों को मुख्यतः पैरों से दिखाया जाता है, परन्तु यह कार्य अनुसरण करते हुए नहीं, बल्कि साथ-साथ होता है। उसी प्रकार वादन करते हुए व्यक्ति पहले गाता हो, फिर उसका अनुकरण करता हो, ऐसा नहीं, बल्कि यहाँ भी वादन तथा गुनगुनाना साथ-साथ होता है। केवल नृत्य के साथ ही क्यों, मृदंग, तबला तथा तन्त्री वाद्यों के सहारे के विना क्या गान-क्रिया सम्पादित हो सकती है ? कम से कम 'शास्त्रीय संगीत' में तो नहीं। अतः वाद्य के बिना गान-नृत्य असम्पूर्ण तथा असम्भव है। किन्तु यह भी सत्य है कि सफल वादन या नृत्य के लिए गान का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। ध्वनि-वैचित्र्य और भावों के प्रदर्शन के लिए गान का सहारा लेना ही पड़ता है। केवल इस दृष्टि से ही गान का वाद्य और नृत्य दोनों पर आधिपत्य है।

संगीत के दो मुख्य तत्त्व हैं जो प्रकृति से प्राप्त हुए हैं। ये हैं—लय तथा ध्वनि। लय शब्द से गति का बोध होता है। जड़ तथा चेतन दोनों पदार्थों में गति का दर्शन होता है, तभी पत्थर फटता है, निर्जीव शव में विकार आता है। पेड़ की डालियाँ एक निश्चित लय में हिलती हैं। वस्तु की गति में सदा एकरसता भी नहीं होती है। जैसे ट्रेन की धुक धुक, वर्षा की झमझम ध्वनियों में लय होगा, और उनमें से कोई ध्वनि जोर से सुनाई पड़ेगी, कोई धीमी। अर्थात् गतिखण्ड के अनुसार कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध्वनि बलयुक्त होगी, कोई बलहीन। गतिखण्ड के इस बल-अबल चक्र को देखकर ही तालों की कल्पना की गई।

दूसरा तत्त्व है ध्वनि। झरने का कलकल, डालियों का हिलना आदि प्राकृतिक क्रियाओं में ध्वनि का अनुभव होता है। इसी तरह इन ध्वनियों में चक्र की भाँति उतार-चढ़ाव को भी मानव ने परिलक्षित किया। शिशु जन्म लेता है और क्रमश: यौवन की सीढ़ी तक चढ़ता है, वृद्धावस्था में उसकी शक्ति में ढलान आता है। जीवन-चक्र में संघटित इस आरोह-अवरोह रूप का दर्शन कर ध्वनियों में भी ऐसी क्रिया की कल्पना की गयी और स्वररूप में उसका साकार दर्शन किया गया।

लय तथा ध्वनि ही संगीत का प्राण है। पद उसके पश्चात् आता है। वाणी के विकास के बाद ही पद का आधार गान में लिया गया। संगीत की प्राथमिक अवस्था में तो गति या लय का बोध हुआ किन्तु स्वरों की पहचान होने के बाद स्वर ने लय (ताल) पर विजय प्राप्त की और संगीत में मुख्य तत्त्व 'स्वर' माना गया, पश्चात् ताल और फिर पद। इसीलिए भरत ने 'गान्धर्व' को 'स्वरतालपदात्मक' माना है 'पदस्वरतालात्मक' नहीं।

(2) शास्त्रीय संगीत

जो संगीत परम्परानुसार तथा शास्त्रबद्ध हो, वह शास्त्रीय संगीत कहलाता है। यह आवश्यक नहीं कि शास्त्रीय संगीत में कोई परिवर्तन न हो, क्योंकि आज का 'लोक' कल नियमबद्ध होने से 'शास्त्र' बन सकता है। अथवा आज का शास्त्र प्रयोग में न रहने के कारण आने वाले कल का 'लोक' बन सकता है। जीवन के हर क्षेत्र में ऐसा आदान-प्रदान चलता रहता है। कितने ही ऐसे वाद्य हैं जिनको कभी शास्त्रों में अत्यधिक महत्त्व मिला था, और आज वह लोक परम्परा में अवशिष्ट मात्र रह गया है। किन्नरी, जितन्त्री (जन्तर), मर्दल (मादल) इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इनमें मादल का उपयोग लोकगीत (संथाल गीत) के साथ-साथ अर्धशास्त्रीय संगीत जैसे कीर्तन आदि के साथ भी होता है। कितनी ऐसी गान शैलियां तथा वाद्य हैं जिनका प्रयोग कभी अशास्त्रीय या असम्माननीय माना जाता था। आज वे ही विकास के चरमोत्कर्ष तक पहुंच कर शास्त्रीय संगीत में छाये हुए हैं। उदाहरणस्वरूप—ख्याल, ठूमरी, टप्पा, शैली तथा सितार, सरोद आदि वाद्य व उनमें बजने वाली गत शैली। संक्षेप में, जब लौकिक पद्धति का विकास होता है और उसके सिद्धान्त एवं लक्षण बनते हैं तो उसे ही शास्त्र का सहारा मिलता है, और इसी तरह किसी समय का लौकिक संगीत विकास-क्रम को प्राप्त कर शास्त्रीय संगीत बनता है। हाँ, परस्पर आदान-प्रदान अवश्य होता रहता है। प्रयोग पक्ष की सदा गतिशीलता के कारण ही शास्त्रीय संगीत आज भी जीवित है, चाहे वह किसी भी विधा से गाया-बजाया जाता हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शास्त्रीय संगीत की शास्त्र बद्धता में कुछ विशेष बातों का ध्यान रखा जाता है—(1) जिस शैली का गान-वादन होता है, उनमें पद-स्वर तथा ताल की संगति हो; अर्थात् तीनों का सन्तुलित प्रयोग हो; (2) गीत के पद तथा वाद्य के शुष्काक्षर (दा, रा, दिर आदि तत वाद्यों में तथा धा, धिं, तिटं आदि ताल वाद्यों में) का स्पष्ट प्रयोग हो; (3) स्वर के उतार-चढ़ाव उपयुक्त हो तथा उसके विभिन्न प्रयोगों का सटीक व्यवहार हो; (4) वन्दिशों (Compositions) की उपयुक्तता; (5) परम्परा का निर्वाह।

जब किसी नयी शैली का जन्म होता है तो एक ही पीढ़ी में वह शास्त्रीयता की मर्यादा नहीं पाती। कम से कम तीन पीढ़ी तक उसका प्रयोग करने तथा उस शैली को एक विशेष सीमा तक 'माँजने' के पश्चात् ही वह शैली शास्त्रीय संगीत की मान्यता प्राप्त करती है। जैसे 18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक 'ख्याल' को शास्त्रीय मर्यादा नहीं मिली थी और अदारंग-सदारंग जैसे गायकों ने भी इसे अपने पुत्रों को नहीं सिखाया क्योंकि यह 'जनाना गाना' माना जाता था। किन्तु उनके शिष्यों के अथक प्रयास तथा क्रमवर्धमान चाह ने ही इसे शास्त्रीय संगीत की मर्यादा दी, और वर्तमान में शास्त्रीय संगीत का अन्य नाम 'ख्याल' ही है। ध्रुपद-धमार शैली को जिन्दा रखने का प्रयास किया जा रहा है। इसी तरह 'रुद्र वीणा' का स्थान 'सितार' ने तभी लिया जब ख्याल गायकी का प्रचार बढ़ा। इसी प्रयोजन के कारण सितार की अपनी वादन शैली—यानी 'बाज' का निर्माण किया गया। ध्रुपद के साथ संगति करना मुख्य उद्देश्य होने के कारण रुद्रवीणा में ध्रुपद का पद ही बजाया जाता रहा, जैसा आज ख्याल के साथ सारंगी की संगति होती है। किन्तु ख्याल शैली के विकास के साथ-साथ सितार आदि अर्वाचीन वाद्यों में गत शैली का आविष्कार हुआ और शास्त्रीयता मिली।

किसी भी संगीत की शैली का दो प्रकार से विवेचन कर सकते हैं—शास्त्र-पक्ष तथा क्रियापक्ष। क्रियापक्ष को 'लोकपक्ष' भी कह सकते हैं। अर्थात् किसी संगीत का विभाजन शास्त्रीय और लौकिक रीति से किया जा सकता है। लौकिक पक्ष का आधार 'शुद्ध लक्ष्य' है और शास्त्रीय पक्ष का आधार लक्ष्य का 'लक्षण' है। लक्ष्य में जो हो रहा है, उसे नियमों के साथ लिपिबद्ध करना शास्त्र का कार्य है। किन्तु लक्ष्य कभी स्थिर नहीं रहता, यानी वह सदा गतिशील है। अतः लक्ष्य के साथ लक्षण को भी आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर लेना चाहिए, अन्यथा लक्ष्य-लक्षण या शास्त्र में कभी सामंजस्य नहीं रह सकता। इसी दृष्टि से भारत में जो भी शास्त्रबद्ध संगीत रहा, वह सदा परिवर्तनशील रहा है। क्योंकि गति में ही जीवन है। अतः नवीनता चाहने वाले मानव मन ने सदा ही नया सृजन किया, उसका सिद्धान्त बनाकर शास्त्रपक्ष खड़ा किया तथा क्रमशः उस नवीन सृष्टि को शास्त्रीय संगीत की श्रेणी में ला दिया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक संगीत सभा में किसी विद्वान द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि 'शास्त्रीय संगीत' शब्द थोड़े ही समय पूर्व यानी 'फिल्म संगीत' के पनपने के बाद अपनाया गया। यह कथन सत्य नहीं है। संगीत में शास्त्र की चर्चा करना और संगीत को शास्त्रवद्ध रूप देना आधुनिक चिन्तन का फल नहीं है। शार्ङ्गदेव ने गीत-दोष का लक्षण देते हुए 'शास्त्रदुष्ट' और 'लोकदुष्ट' शब्दों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार जहाँ लोक और शास्त्र दोनों के नियमों का पालन न हो, वहाँ गीत, 'दुष्ट' (दोषयुक्त) समझना चाहिए। इसके अलावा वाद्याध्याय में भी उन्होंने वंश तथा तन्त्री वाद्यों के रागों का उल्लेख करते हुए शास्त्रीय और लौकिक शैली का वर्णन किया है। लक्ष्य-लक्षण का उपयोग तो उन्होंने हर विवेचन के साथ (विशेषकर राग, वाद्य, ताल आदि में) किया है। अतः विधिबद्ध संगीत को 'शास्त्रीय' बहुत पूर्व ही माना जाता रहा, भले ही वर्तमान समय में उत्तर में इसे 'हिन्दुस्तानी संगीत' और दक्षिण में 'कर्णाटक संगीत' के नाम से जाना जाता हो।

कालानुसार शास्त्रीय संगीत में परिवर्तन आता रहा है। एक ओर तो जाति से ग्रामराग तथा भाषादि, रागांग आदि चार भेद; राग-रागिणी या मेल-राग वर्गीकरण; दूसरी ओर जाति, विभिन्न छन्दों के आधार पर बने ध्रुवगान की शैलियों, ग्रामराग की गीतियाँ, एला-सूड आदि देशी प्रवन्ध से लेकर उत्तर में ध्रुपद, ख्याल और दक्षिण में कीर्तनम्, कृति आदि शैलियाँ हैं जो एक ही सूत्र में ग्रथित अलग-अलग मोती जैसे प्रतीत होते हैं। उत्तर और दक्षिण के शास्त्रीय संगीत में बाह्य अन्तर होते हुए भी मूल आधार एक ही है।

अध्ययन की दृष्टि से शास्त्रीय संगीत के तीन पक्ष हैं :—(क) सैद्धान्तिक पक्ष (musicology), (ख) व्यवहारिक या प्रयोग-सिद्धान्त पक्ष (applied theory) और (ग) क्रियात्मक पक्ष (practical exercise)।

(क) सैद्धान्तिक पक्ष—संगीत के सिद्धान्तों का अध्ययन करना सैद्धान्तिक पक्ष है। नाद, स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, राग, मेल आदि प्राचीन तथा अर्वाचीन विधाओं के सिद्धान्तों के इतिहास का अध्ययन करना इस पक्ष का कार्य है।

(ख) व्यावहारिक या प्रयोग सिद्धान्त पक्ष—शास्त्रीय संगीत में प्रयोग किये जाने वाली हर विधाएँ जैसे स्वर-प्रयोग, ध्वनि-वैशिष्ट्य, आलाप, तान, गानशैली या गायकी, घराना आदि विषयों का मनन, चिन्तन व तदनुरूप शिक्षण इस पक्ष का कार्य है। इस पक्ष के ज्ञाता को प्रयोग पक्ष का उतना ही ज्ञान होना चाहिए जितना व्यवहारिक शास्त्र का।

(ग) क्रियात्मक पक्ष—संगीत का प्रयोग पक्ष इसमें आता है। प्रयोक्ता शास्त्र का विद्वान हो, आवश्यक नहीं है। अभ्यास तथा गुरु-परम्परा से मिली शिक्षा का प्रदर्शन करना इस पक्ष का मुख्य उद्देश्य है। स्वर के सूक्ष्म रूप, राग-चलन, भाव आदि का ये प्रदर्शन करते हैं। यानी रागादि के प्रयोग-सिद्धान्त पक्ष के ये ज्ञाता हैं, तथा अपने विषयों का पूर्ण प्रदर्शन करने में ये सक्षम हैं, किन्तु यह प्रयोजन नहीं कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह स्वयं स्वरशास्त्र या रागशास्त्र का सैद्धान्तिक ज्ञान रखते हों। फिर भी शास्त्रीय संगीत का केवल क्रियात्मक पक्ष का ही नहीं, प्रयोग-सिद्धान्त पक्ष का भी जो ज्ञान रखते हों, मुख्यतः ऐसे कलाकार ही इतिहास प्रसिद्ध हुए हैं।

(3) अर्धशास्त्रीय संगीत

जो संगीत जिसमें शास्त्रीय से अधिक भाव पक्ष की प्रधानता दी जाती हो वह अर्धशास्त्रीय संगीत कहलाता है। इसमें पद के साहित्यिक सौन्दर्य को आधार मानकर उसके भाव को बल दिया जाता है। इन भावों को स्पष्ट करने का माध्यम है 'स्वर'। ऐसे संगीत में शृंगारी भावना अधिक होती है और शैली रसीली होती है। इसलिए इसका गान गम्भीर राग या ताल में नहीं किया जाता। कोई-कोई इसे क्षुद्र प्रकृति का संगीत मानते हैं और वह इसलिए कि इसमें गम्भीरता का अभाव होता है किन्तु इसका गान सरल नहीं है; क्योंकि इन शैली में स्वर लगाने में चमत्कारिता पर अधिक बल दिया जाता है। इसलिए विशेष शिक्षण की आवश्यकता होती है। अर्धशास्त्रीय संगीत में ठूमरी, टप्पा, तराना (?) त्रिवट, चतुरंग, लक्षणगीत आदि आते हैं।

श्री कृष्णधन वनर्जी तथा पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे ने शास्त्रीय तथा अर्धशास्त्रीय संगीत की समस्त शैलियों को चार वर्गों में बाँटा है—

1. ध्रुपद के अन्तर्गत प्रबन्ध तथा होली (धमार) का समावेश हो जाता है।
2. ख्याल के अन्तर्गत त्रिवट, चतुरंग, कौल-कलवाना को माना गया है।
3. रागमाला, तराना, जुगल-बन्द को आवश्यकता के अनुसार उपर्युक्त दोनों प्रकारों में समाविष्ट किया जा सकता है।
4. टप्पा के अन्तर्गत ठूमरी, गजल, खेमटा आदि आता है।

'शास्त्रीय' के साथ-साथ 'अर्धशास्त्रीय' शब्द का प्रयोग आधुनिक है। उपर्युक्त शास्त्रकारों ने इन सभी गीत-प्रकारों को 'उच्चकोटि का संगीत' (शास्त्रीय संगीत ?) माना है।

(4) सरल संगीत (भाव संगीत)

जिस संगीत में शास्त्रबद्धता न हो, तथा जो स्वतः स्फूर्त हो, वह सरल संगीत है। इस संगीत में स्वर से अधिक पद और भाव को प्रधानता दी जाती है। मन की किसी विशेष अवस्था में, चाहे वह भक्ति हो चाहे शोक, चाहे प्रेम, चाहे वात्सल्य और चाहे वैराग्य, अन्तर के अन्तःस्थल से जो भी शब्द स्वरों के सहारे स्फुट हो; वह 'सरल संगीत' या 'भाव संगीत' है। ऐसे संगीत को सरल संगीत न कहकर 'भाव संगीत' कहना अधिक उपयुक्त होगा। अंग्रेजी light music के पर्याय-वाची के रूप में 'सरल संगीत' का उपयोग किया जाता है। परन्तु जहाँ भाव की चरम अवस्था का दर्शन संगीत के माध्यम से हो, वह 'सरल' नहीं मानना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देश भेद तथा रुचि भेद से भाव संगीत के अनेक प्रकार होते हैं। भजन, कीर्तन, पदावली, गीत, लोक गीत आदि ऐसे ही संगीत की विधाएँ हैं।

(5) हिन्दुस्तानी तथा कर्णाटक संगीत

जैसे देश भेद से रहन सहन, खान पान, व्यवहार आदि में अन्तर पाया जाता है, उसी प्रकार संगीत में भी भेद रहा है। इसीलिए मार्ग-देशी, दो प्रकार की शैलियों का उल्लेख मतंग के पूर्व से ही होता आ रहा है। सातवीं शताब्दी के लगभग इसी देशी संगीत को अत्यधिक प्रश्रय मिला और इसमें अनेक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किए गए। भारत की सीमा विस्तृत होने के कारण उत्तर तथा दक्षिण की संस्कृति में प्राचीन काल से ही भेद रहा है। उत्तरी खंड उत्तराखण्ड को और दक्षिण प्रदेश को दक्षिणात्य के नाम से पुकारने की परम्परा वैदिक समय से ही चली आ रही है।

शिलप्पादिकारम और कुडुमिया मलाई (5 से सातवीं शताब्दी) में स्वरों की जो व्यवस्था दी गई है, उसके अध्ययन से यह पता चलता है कि मार्ग संगीत की धारा से सम्बन्ध रखते हुए भी दक्षिण की संगीत परम्परा अलग रही। एक ही स्वर को विभिन्न नाम देना मध्ययुगीन ग्रन्थकारों की देन नहीं है। आज जैसे उत्तर और दक्षिण की संगीत पद्धतियों में एक सीमा रेखा बन गई है, निश्चित रूप से तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक वैसी नहीं थी किन्तु संगीत की गान शैली में भेद दसवीं शताब्दी के वाद से अवश्य ही हो रहा था। यह ऐसा समय था जब मुसलमानों के आक्रमण से सारा देश अस्त व्यस्त हो गया था। दक्षिण भी इससे अछूता नहीं रहा। इसी कारण चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर राज्य का मन्त्री विद्यारण्य माधवाचार्य को वहुत परिश्रम के वाद केवल पचास रागों की प्राप्ति हुई और रागांगादि सम्प्रदाय पहले ही टूट जाने के कारण उन्हें राग वर्गीकरण के लिए मेल पद्धति का आविष्कार करना पड़ा।

उत्तर भारत में आक्रमण और अत्याचार कहीं अधिक हुआ, फिर भी मन्दिरों में संगीतज्ञों को संरक्षण मिलने के कारण आज भी कुछ ऐसे प्रबन्ध जीवित है जो ध्रुपद शैली से भी प्राचीन है और परम्परानुसार गाए जाते हैं। रागांग पद्धति नष्ट होने पर भी उत्तर भारत में राग-रागिनी या राग ध्यान की परम्परा नष्ट नहीं हुई, अर्थात् रागों में प्राण-प्रतिष्ठा करने की परम्परा रही। विदेशी बादशाहों ने भी इसे प्रश्रय दिया। मूर्ति पूजा आदि को स्वीकार न करने पर भी भारतीय संगीत में रमने में इन शासकों को देर न लगी किन्तु अधिकांश हिन्दू राजा के आश्रय में रह कर भी दक्षिण के संगीतज्ञ स्वर की गहनता को दूर फेंक कर संगीत को लय-ताल की पराकाष्ठा मानने लगे। आज भी उत्तर-भारतीय पद्धति में 300-400 वर्ष की पुरानी चीज़ें मिलना असम्भव नहीं किन्तु दक्षिण में 'पुरन्दर विट्ठलदास' की रचना से प्राचीन कोई 'वन्दिश या कृति' प्रयोग में नहीं है। फिर भी यह प्रचार करना कहाँ तक तर्कसंगत है कि दक्षिण भारत में ही प्राचीन संगीत परम्परा व्यवस्थित रूप से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चली आ रही है। श्री के० वासुदेव शास्त्री की निष्कपट उक्ति के अनुसार, "मुसलमानों के आक्रमण के कारण उत्तर और दक्षिण भारत का ...सम्प्रदाय विच्छिन्न हो गया। उत्तर भारत में राग रागिनी सम्प्रदाय अवशिष्ट रह गया। दक्षिण भारत में इसका भी भंग हो गया।"

फिर इस बात को दोहराया जा सकता है कि उत्तर तथा दक्षिण भारत के स्वर, लय, ताल आदि के प्रयोग में इतना अन्तर चौदहवीं शताब्दी तक नहीं आया था। गोपाल नायक दक्षिण से उत्तर को आया और अलाउद्दीन खिलजी को अपने गान से चमत्कृत किया था। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि विजयनगर साम्राज्य के विशेष प्रयत्न से 'कर्नाटकी पद्धति' का उत्थान या प्रारम्भ हुआ था और दिल्ली के बादशाह के आश्रय में रहकर 'हिन्दुस्तानी पद्धति' को बढ़ावा मिला था। कर्णाटक (मैसूर प्रदेश), तामिलनाडू (मद्रास) तथा केरल में 'कर्णाटक पद्धति' का प्रचलन है तथा इन्हें छोड़ कर सम्पूर्ण भारत में 'हिन्दुस्तानी पद्धति'। फिर भी स्थान भेद से थोड़ा बहुत शैली में भी भेद होता है जैसे—महाराष्ट्र और मैसूर के तथा उड़ीसा आन्ध्र प्रदेश के सीमावर्ती प्रदेश का संगीत एक दूसरे से प्रभावित है। यानि प्रदेशों की संस्कृति में पारस्परिक सम्पर्क कितना है वह संगीत द्वारा भी पता लगाया जा सकता है।

विशेषता एक नजर से देखने पर दोनों पद्धतियों में आज जो विशेषता दिखती है, वह है—'स्वर उच्चारण करने की रीति'। उत्तर की शैली में प्रत्येक स्वर का दीर्घ और ठहर कर उच्चारण किया जाता है, जबकि दक्षिण में स्वरों पर रुकने की प्रथा अल्प है। अधिकांश स्वरों को दक्षिण में कम्पन के साथ उच्चारण किया जाता है। इसके पीछे क्या शाङ्ँगदेव का वह श्लोक प्रभावोत्पादक है, जहां उन्होंने गमक की परिभाषा देते हुए कहा है—'स्वरस्यकम्पोगमकः श्रोतृचित सुखावहः' (?)

स्वर प्रयोग की रीति में अन्तर होने के कारण एक ही स्वर-समुदाय वाला राग भिन्न लगता है और उसका प्रभाव भी भिन्न हो जाता है। साथ ही गमक, मींड आदि अलंकरण का भी दोनों में अलग-अलग बोध होता है। दोनों पद्धतियों के स्वर बारह हैं और राग का ताल सहित गान होता है, फिर भी स्वरोच्चारण की रीति भिन्न होने से दो भिन्न पद्धतियां बन गई है। प्रयोग की दृष्टि से दोनों संगीत पद्धतियों में पांच विशेष बातें हैं, जो इस प्रकार हैं—स्वरजनक मेल जान्य राग, गान, शैली तथा ताल।

1. स्वर—हिन्दुस्तानी तथा कर्णाटक पद्धति में एक स्थान में शुद्ध विकृत मिलाकर बारह स्वर तथा बाईस श्रुतियां मानी गई हैं, किन्तु स्वर नाम तथा उनकी श्रुतियों के स्थान निश्चित करने की दिशा में दोनों के अलग-अलग मत हैं तथा लिखित रूप में यह विचार 14-15 वीं शताब्दी से प्राप्त होते हैं। दक्षिण में संगीत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का पुनरुत्थान करने वाला विद्यारण्य का ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध नहीं है किन्तु उनके मतों का उल्लेख हमें परवर्ती ग्रन्थों से मिल जाता है । 16 वीं शताब्दी में रामामात्य ने और 17 वीं शताब्दी में उत्तर के हृदयनारायणदेव तथा अहोवल ने वीणा पर जो स्वर नाम बताए, उसी से स्पष्ट होता है कि मूलतः स्वर संख्या एक होते हुए भी स्वर नामों में उत्तर-दक्षिण में भेद रहा । दोनों संगीत में षड़ज को ही स्वरित (tonic) स्वर तथा षड़ज-पंचम को अचल स्वर माना गया और अन्य पांच स्वरों में विकार । उत्तर में स्वर की निम्न स्थिति को 'कोमल' तथा उससे ऊपर की स्थिति को 'तीव्र' संज्ञा दी गई । दक्षिण में स्वर की निम्न और प्रथम स्थिति को 'शुद्ध' कहा गया और आगे-आगे के स्वरों को 'विकृत' । दोनों पद्धति के परम्परावादी अनपढ़ संगीतजीवी स-प को ही केवल शुद्ध मानते रहे और अन्य स्वरों को उत्तर में 'चढ़ी उतरी' और दक्षिण में 'चिन्न पेरियां' कहते थे । अगर हिन्दुस्तानी पद्धति के आधार पर कर्णाटक पद्धति के स्वरों पर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि कर्णाटक पद्धति में एक सप्तक में रि और ध के दो स्वरूप का क्रमशः प्रयोग होता है । अर्थात् कर्णाटक शुद्ध 'स रि ग म प ध नी सं' ही हिन्दुस्तानी पद्धति में स रि॒ रि म प ध॒ ध सं' होता है ।

जैसे कर्णाटक संगीत में एक स्वर के दो रूपों को व्यवहार योग्य माना गया है उसी प्रकार हिन्दुस्तानी संगीत के भी कुछ मध्ययुगीन ग्रन्थकारों ने विकृत स्वर के दो नामों का उल्लेख किया है । किन्तु बाद में ऐसे दो स्वर नामों का प्रयोग उत्तर में अस्वीकार किया गया और कुल मिला कर स्वर बारह ही माने गए । दक्षिण में बारह मानते हुए भी नाम-भेद से 16 स्वर गिनाए गए जो इस प्रकार हैं—

हिन्दुस्तानी स्वर नाम	कर्णाटकी स्वर नाम
1. षड़ज	षड़ज
2. कोमल ऋषभ	शुद्ध ऋषभ
3. शुद्ध या तीव्र ऋषभ	शुद्ध गान्धार या पन्चश्रुति (वर्तमान चतुःश्रुति) ऋषभ
4. कोमल गान्धार	साधारण गान्धार (षटश्रुति ऋषभ)
5. शुद्ध या तीव्र गान्धार	अन्तर गान्धार
6. शुद्ध या कोमल मध्यम	शुद्ध मध्यम
7. तीव्र मध्यम	प्रति (वराली) मध्यम
8. पंचम	पंचम
9. कोमल धैवत	शुद्ध धैवत
10. शुद्ध या तीव्र धैवत	शुद्ध निषाद या पन्चश्रुति (वर्तमान चतुःश्रुति) धैवत
11. कोमल निषाद	कौशिक निषाद
12. शुद्ध या तीव्र निषाद	काकली निषाद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जनक मेल—मेल के आधार पर राग-वर्गीकरण की प्रथा का आविष्कारक 'विद्यारण्य' को माना जाता है। 'विद्यारण्य' का 'संगीत सार' आज उपलब्ध नहीं है किन्तु दक्षिण में यह मान्यता है कि मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात 19 वीं शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य स्थापित होने के बाद राजमन्त्री 'विद्यारण्य माधवाचार्य' ने वेद शास्त्रों के साथ ललित कलाओं के पुनर्जीवन की भी चेष्टा की थी किन्तु बहुत प्रयास के बाद उन्हें केवल 50 राग ही प्राप्त हुए जिनके कोई लक्षण नहीं थे। अतः उन्होंने स्वयं लक्षण तैयार किए और रागों के स्वर-साम्य के आधार पर उन्हें एक विशेष स्वर-समूह में वर्गीकृत किया। इस विशेष स्वर ग्राम (scale) का नाम 'मेल' रखा गया और प्रत्येक मेल का नाम प्रसिद्ध रागनाम पर निर्धारित किया गया।

यहां शंका उठती है कि (1) विद्यारण्य को देश के कोने-कोने की छानबीन करने के बाद भी जब लक्षणहीन-नियमहीन 50 राग ही प्राप्त हुए तो दक्षिण के संगीतज्ञों के इस दावे का क्या आधार है कि उनका संगीत प्राचीन परम्परायुक्त विशुद्ध भारतीय संगीत है और भरत-परम्परा की रक्षा वे ही कर रहे हैं।

(2) दक्षिण के गोपाल नायक ने क्या ऐसे ही लक्षणहीन संगीत का प्रदर्शन दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी के सामने किया था ? क्या उपर्युक्त विचार-धारा परस्पर विरोधी नहीं हैं ?

जो भी हो, विद्यारण्य के पश्चात् रामामात्य, पुण्डरीक विट्ठल, सोमनाथ, श्रीकंठ वेंकटमखी आदि ने स्वबुद्धि के आधार पर स्वर नाम तथा मेलों की संख्या बताई है। ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कोई भी ग्रन्थकार किसी एक मत को मानने के पक्ष में न था तथा क्रमशः गणित के आधार पर मेलों की संख्या स्थिर करने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। आए दिन मेलों की संख्या में अनियमित वृद्धि को रोकने के लिए संगीतज्ञों ने स्वर के शुद्ध विकृत स्वरूप को निर्धारित कर प्रस्तार-भेद से मेल की संख्या निश्चित की। वेंकटमखी ने इस प्रस्तार-भेद के अनुसार 72 मेल की कल्पना की और यही संख्या आज तक मान्य है। मेल में यह नियम बनाया गया कि वह सम्पूर्ण हो, अतः जहां एक स्वर के दो रूपों का प्रयोग हो, वहां उसे दो स्वर माना जाय। अर्थात् एक ही स्वर को आवश्यकतानुसार दो नामों से पुकारा जाने लगा इस प्रकार ऋषभ के तीन भेद—शुद्ध, पंचश्रुति तथा षटश्रुति; गान्धार के तीन भेद—शुद्ध साधारण, अन्तर; मध्यम के दो भेद—शुद्ध, प्रति; धैवत के तीन भेद—शुद्ध, पंचश्रुति, षटश्रुति; निषाद के तीन भेद—शुद्ध, कौशिक और काकली माने गए। इनमें पंचश्रुति ऋषभ धैवत को चतुश्रुति ऋषभ धैवत भी कहा जाता है अन्यथा मेलों की संख्या में और वृद्धि होने की आशंका है।

उत्तर के अधिकांश ग्रन्थकारों ने राज-रागिणी तथा रागध्यान की परम्परा होते हुए भी मेल-पद्धति को अपनाया और तदनुसार राग-वर्गीकरण किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हृदयनारायणदेव, लोचन आदि ने बारह 'संस्थान' का वर्णन किया। अहोवल तथा श्रीनिवास ने 'मेल' नाम का ही उपयोग किया।

प्रश्न उठ सकता है कि दक्षिण और उत्तर के मेल राग-वर्गीकरण का आधार क्या है? कुछ आधुनिक विचारकों के अनुसार, फारसी मुकाम पद्धति के आधार पर ही 'मेल' की कल्पना की गई। अपने मत की पुष्टि के लिए इन्होंने अनेक उदाहरण भी दिए हैं। इसके विपरीत यह विचार सामने रखा जाता है कि मेल की कल्पना 'मुकाम' से नहीं बल्कि मूर्च्छना से हुई है। इस विचार की पुष्टि के लिए निम्नलिखित तर्क माननीय है :—

(क) मूर्च्छना का अर्थ है 'मिलाना', मेल का अर्थ भी 'मिलाना' है (चाहे वह कंठ स्वर हो या वीणा का स्वर। परन्तु मूर्च्छना या मेल में वीणा के तारों को मिलाने पर ही सदा बल दिया गया है)। 'ठाठ' या 'थाट' शब्द का भी प्रायः यही अर्थ है। दूसरी ओर कुछ छोटे-छोटे गेय स्वर समुदाय को 'मुकाम' कहा जाता है।

(ख) मूर्च्छना और मेल से एक विशेष स्वर ग्राम (scale) मिलता है, भले ही मूर्च्छना का षड़ज 'स्थिर' या 'स्वरित' न होता हो और मेल में षड़ज ही स्वरित होता हो। 'मुकाम' से कोई स्वर ग्राम नहीं मिलता बल्कि यह छोटे-छोटे स्वर समुदाय का गुच्छा (bunch of the combinations of notes) है।

(ग) मूर्च्छना और मेल में क्रम से सात स्वरों के आरोहावरोह करने की क्रिया है। मुकाम में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।

(घ) मूर्च्छना या मेल गाया नहीं जाता। उसके अन्तर्गत आने वाले जाति, ग्राम राग या राग गाया जाता है किन्तु मुकाम को गाया जाता है और उसके अन्तर्गत हमारे राग-रागिणी परम्परा की तरह गोशः और शोबः की कल्पना की गई है।

अतः यह कहना और लोगों को मानने के लिए बाध्य करना कि मध्ययुग के दोनों संगीत पद्धतियों के स्वर आदि नियम फारसी संगीत की देन हैं उतना ही भ्रमपूर्ण है जितना दक्षिण के प्रचारक का यह दावा कि प्राचीन परम्परा की रक्षक कर्णाटक पद्धति है तथा उत्तर भारत के संगीत में विदेशी प्रभाव है।

उत्तर में राग-रागिणी परम्परा को आधुनिक काल में अधिक प्रश्रय नहीं मिला किन्तु मेल या थाट को राग-वर्गीकरण के लिए अधिक उपयुक्त माना गया। अन्ततोगत्वा दस थाट को ही अधिकतम संख्या मान लिया गया और इसी के आधार पर रागों के वर्गीकरण की चेष्टा की गई। पं० भातखण्डे तथा उनके अनुयायियों ने इस विधि को सराहा और इसका खुल कर प्रचार किया। किन्तु यह भी माननीय है कि जैसे गणितानुसार 72 मेल योजना होने पर भी दक्षिण में 19 मेल का ही मुख्य रूप से उपयोग किया जाता है उसी प्रकार उत्तर में गणितानुसार 32 मेल बन सकते हैं जबकि कुल दस मेल और थाट का प्रचार है। एक और ध्यान देने की बात है राग वर्गीकरण की विधा 'मेल' को मध्य काल से हिन्दुस्तानी तथा कर्णाटक संगीत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के लोगों ने अपनाया है। इससे एक तरफ़ जैसे :—विभिन्न प्रकार के स्वरग्राम (scale) युक्त रागों को स्थापित करने की समस्या कुछ सीमा तक हल हुई, दूसरी ओर जन्य-जनक शब्द से उत्तर तथा दक्षिण के संगीतज्ञ यह समझने लगे हैं कि एक स्वर ग्राम मिल जाने से राग का गान वादन संभव है। यह गलत प्रचार भी किया गया कि मेल 'जनक' है और राग 'जन्य'। यानी मेल से राग की उत्पत्ति हुई है; परन्तु यह गलत धारणा है। मेल से रागों की उत्पत्ति नहीं हुई बल्कि प्रकृति-विकृति के अनुसार एक जैसे लगने वाले स्वर-समूह के रागों को एक वर्ग में बाँटा गया और उनमें से मुख्य राग के नाम से 'मेल' या 'थाट' का नाम रखा गया। दक्षिण के श्री सुब्बराम दीक्षित ने 72 मेलों को ही रागांग राग मान लिया और शास्त्र ज्ञान कम होने से कुछ संगीतज्ञ इसी को आधार ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि मेल या थाट रागों में प्रयुक्त होने वाले स्वरों को याद करने का एक कल्पित तथा तात्कालिक प्रबन्ध मात्र है, उससे राग का स्वरूप या वादी-संवादी का आभास मात्र भी नहीं होता। इसलिए अनेक राग ऐसे मिलते हैं जो दस थाट के अन्तर्गत नहीं आ सकते और बहुत से ऐसे मेल हैं जिनके अन्तर्गत एक भी राग नहीं मिलता है। इसीलिए परम्परावादी संगीतज्ञ के लिए थाट या मेल का उतना महत्त्व नहीं जितना रागों का है, और यही होना भी चाहिए क्योंकि रागों के लिए थाट की सृष्टि हुई है, थाट के लिए राग की नहीं। जनक मेल या थाट को प्रमुखता देने की प्रवृत्ति उत्तर तथा दक्षिण में समान रूप से बढ़ी है किन्तु यह ध्यान रहे कि रागों के लिए स्वर हैं, स्वर के लिए राग नहीं। मकान के लिए ईंट पत्थर है, न कि ईंट पत्थर के लिए मकान है। व्यक्ति का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए—रागों में शक्ति तथा आकर्षण बढ़ाने के उपाय खोजना, और उसके लिए वादी-संवादी वर्णालंकार, स्वर आदि के लगाव पर ही अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

जन्य राग— दोनों पद्धतियों में जैसे सिद्धान्ततः मेल और बारह स्वरों का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार 'राग' का ही गान वादन होता है। दोनों पद्धतियाँ यह स्वीकार करती हैं कि जनक मेल से जन्य राग की उत्पत्ति हुई है जबकि मुख्य राग के नाम के आधार पर ही मेल का नाम पड़ा।

यद्यपि दोनों पद्धतियों में रागों का गान-वादन होता है किन्तु राग नाम एक नहीं है और जहाँ राग नाम एक है वहाँ स्वर में भेद पाए जाते हैं। एक बात तो माननी पड़ेगी कि दक्षिण में राग नाम तथा राग का जो स्वरूप मध्यकालीन ग्रन्थों में कहा गया, सामान्यतः वैसा ही रूप आज तक प्रचलित है; किन्तु उत्तर में मध्ययुगीन ग्रन्थकारों ने राग नाम और उसका जैसा स्वरूप बताया है, अधिकांशतः वैसा आज नहीं मिलता। उदाहरण के लिए हृदयनारायणदेव या लोचन ने संस्थान' या 'मेल' नाम जिन रागों के नाम से दिए तथा उनके जो स्वर बताए आज ठीक वैसा नहीं है। जैसे उन्होंने भैरवी, तोड़ी, गौरी मेल के जो स्वर बताए वे आज हिन्दुस्तानी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीत में क्रमशः काफी, भैरवी और भैरव थाट के स्वर हैं। ऐसा ही भेद अन्य मेल तथा रागों के नाम और स्वरों में मिलता है। इसका एक कारण देश भेद से राग नाम में भेद हो सकता है। दूसरा कारण कुछ संगीतज्ञों द्वारा राग नाम या तो नहीं बताना या गलत बताना भी है। इसलिए आज भी अलग-अलग घरानों में भिन्न षड़ज' को 'हिन्दोली', 'कोशिक ध्वनि' आदि नामों से पुकारा जाता है। 'ललित' या 'पूरिया' को दो धैवत से गाने बजाने की परम्परा है।

उत्तर तथा दक्षिण में रागों में नाम-साम्य तो है किन्तु स्वर-साम्य नहीं है। जैसे श्री, तोड़ी, भैरवी आदि रागों के नाम दोनों पद्धतियों में हैं किन्तु उनके स्वर पृथक् हैं। कहीं-कहीं एक जैसे ही समानता नाम और स्वर में है। जैसे उत्तर का 'कल्याण' (यमन) और दक्षिण का 'कल्याणी' राग। कहीं राग के नाम अलग होते हुए भी चलन-साम्य है। जैसे हिन्दुस्तानी मालकौश और दुर्गा का साम्य क्रमशः कर्णाटकी हिन्दौलम' और 'शुद्ध सावेरी' से है।

गान शैली

राग के अतिरिक्त कुछ गीत शैलियाँ भी थोड़ी बहुत एक दूसरे से मिलती हैं। हिन्दुस्तानी ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी और तराना, कर्णाटकी कीर्तनम, कृति, जावली और तिल्लाना से भाव तथा लय की दृष्टि से मिलते हैं। परन्तु स्वर-संचालन की रीति में अन्तर होने से दोनों पद्धतियाँ भिन्न लगती हैं। दोनों पद्धतियों में राग माला या तान माला का गान भी होता है तथा षड़ज संचालन (खरज परिवर्तन) या श्रुतिभेद से नवीन स्वर रूप की कल्पना भी दोनों पद्धतियों में पाई जाती है।

इनके अतिरिक्त एक बात मुख्य रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में जैसे स्वर को शब्द से अधिक प्रधानता दी गई है, स्वर के विभिन्न प्रकार के कर्षण द्वारा भाव के चरमोत्कर्ष तक पहुंचने की चेष्टा की जाती है, चाहे वह कंठ पर हो या वाद्य में; कर्णाटक पद्धति में स्वर और शब्द की महत्ता प्रायः एक जैसी है तथा चीजों में अपनी इच्छानुसार अलंकरण नहीं कर सकते। जो उसका बंधा हुआ रूप है उसमें कोई परिवर्तन मान्य नहीं। हिन्दुस्तानी पद्धति में 'बन्दिश' एक नींव का काम करती है। मकान रूपी राग की परिकल्पना या ढांचा (Desgin or Base) कितना सुन्दर और आकर्षक होगा वह संगीतज्ञ के स्वर प्रयोग पर निर्भर करता है। इसी कारण ध्रुपद से हट कर ख्याल और ठुमरी को लोगों ने अपनाया। कर्णाटक संगीत में ऐसी छूट नहीं है, इसलिए यहाँ वाद्य पर 'तंत्रकारी' जैसी शैली नहीं पाई जाती और उन पर गीत ही बजाए जाते हैं।

ताल

स्वर, मेल तथा राग का मूलभूल सिद्धान्त हिन्दुस्तानी तथा कर्णाटक संगीत में एक है, किन्तु दोनों पद्धतियों के ताल के सिद्धान्त में समानता नहीं है। जहाँ हिन्दु-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्तानी पद्धति में तालों की निश्चित संख्या नहीं है, कर्णाटक संगीत में मुख्य ताल सात ही माने गए हैं। पंच जाति भेद के अनुसार इन तालों के पुनः 5-5 भेद किए गए और कुल मिलाकर पैंतीस ताल माने गए हैं। हिन्दुस्तानी पद्धति में तालों के नाम, उनकी मात्रा तथा बोल निश्चित हैं। दूसरी ओर कर्णाटक संगीत में जाति के अनुसार तालों की मात्रा निश्चित की जाती है और उनके बोल बंधे नहीं होते। अगर इन तालों के नियमों का आधार ढूंढने जाएं तो कर्णाटकी सात ताल तथा उनकी जातियों का कम से कम नाम-साम्य तो हमें अंशतः बृहदेशी और सम्पूर्णतः 'संगीत रत्नाकर' के देशी ताल में मिल जाता है; किन्तु हिन्दुस्तानी पद्धति में केवल रूपक, झप ताल तथा एक ताल में ही नाम-साम्य है। तालों को जातियों के आधार पर विभाजित करने की प्रथा इस पद्धति में नहीं है। इससे यह प्रमाणित होता है कि हिन्दुस्तानी पद्धति का ताल शास्त्र परम्परा का मोह छोड़ देश-देश के प्रयोजन-भेद से निर्मित हुआ है। इसलिए इसकी संख्या भी निश्चित नहीं है, तथा आज भी अनेक तालों का निर्माण हो रहा है। तालों के लिए जिस तरह दक्षिण में संख्या निश्चित कर दी गई और कलाकार के व्यक्तित्व व चिन्तन-स्वातन्त्र्य का कोई विशेष महत्त्व नहीं, उत्तर भारत में इसके विपरीत व्यक्तित्व की सहज व सुनियोजित कल्पना को संगीत के हर क्षेत्र में सम्मान के साथ बढ़ावा दिया जाता है। इसलिए हिन्दुस्तानी संगीत में नवीन गान शैलियां, राग, वाद्य, ताल आदि पर नवीन प्रयोग होता चला आ रहा है। संगीत 'नदी की गति' के समान है, उसमें किसी प्रकार की रूकावट हिन्दुस्तानी संगीत को सहनीय नहीं।

नाद

सृष्टि के समस्त जड़ चेतन में नाद का वास माना गया है। जड़ में चैतन्य लाने वाला नाद ही है। इन्द्रियगोचर पंचभूतों में सर्वप्रथम गिनाया जाने वाला आकाश का गुण भी 'नाद' है। यानि कान से अनुभव किया जाने वाला 'भूत' आकाश है और आकाश का गुण शब्द है। यह शब्द 'नाद' के अधीन है। इसीलिए 'संगीत दर्पण' में कहा गया है :

नादेन व्यज्यते वर्णः पद वर्णात् पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमितो जगत्॥

अर्थात् नाद से वर्ण, वर्ण से पद, पद से वाणी अभिव्यंजित होती है। जगत का सारा व्यवहार वाणी से चलता है, अतः यह जगत नाद के अधीन है।

वाणी के भेदों और नाद की विभिन्न धाराओं की व्याख्या 'प्रणव भारती' में की गई है। वे अपने आप में महत्वपूर्ण हैं। अतः उनका पुनरावलोकन करने की विशेष आवश्यकता नहीं। यहां 'नाद' के विशेष स्वरूप तथा लक्षण पर विचार करना उचित होगा।

'नद्' धातु से नाद' शब्द का निर्माण हुआ है। प्राण का बीज रूप है 'न'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा अग्नि का बीज रूप है 'द'; प्राण और अग्नि के संयोग से नाद की उत्पत्ति हुई है। अव्यक्त रूप में यह शरीर में स्थिर रहता है तथा स्वर रूप में स्फुट होने के पश्चात् व्यक्त बनता है।

नाद के दो भेद किये गए हैं—अनाहत और आहत। वाक् या वाणी के चार भेदों में प्रथम दो परा-पश्यन्ति अनाहत नाद का और अन्तिम दो मध्यमा-वैखरी आहत नाद का आधार है।

अनाहत नाद :—

अनाहत का योग साध्य है—यानि इसे योगी ही सुन सकते हैं। योगतन्त्र इत्यादि शास्त्रों में इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है जिसका सार आधुनिक ग्रंथों में मिलता है। 'प्रणव भारती' में इसका विस्तृत विवरण है। 'श्री के वासुदेव शास्त्री' ने भी अनाहत नाद की व्याख्या करते हुए कहा है, हृदय में 'द्वहराकाश' नामक छोटा सा स्थान केवल आकाश (शून्य) से व्याप्त है और इस स्थान में निरन्तर बिना किसी आघात के नाद का आविर्भाव होता रहता है। मानव मन इन्द्रियासक्त होने के कारण इन ध्वनियों को सुन नहीं पाता तथा अनासक्त योगी ही साधना के पश्चात् इसे सुन सकते हैं। शायद इसीलिए सामान्य लोगों की धारणा है कि दोनों कानों को अंगुली से वन्द करने पर जो निरन्तर ध्वनि शरीर के अन्दर सुनाई देती है वही अनाहत नाद है।

आहत नाद :—

एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु के टकराने के पश्चात् जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वह आहत नाद है। मध्यमा तथा बैखरी वाणी क्रमशः स्वर तथा शब्द का आधार है जो शरीर से भी संबंध रखता है।

मतंग तथा शार्ङ्गदेव ने आहत नाद के पांच भेद बताए हैं जो मनुष्य शरीर के 5 भिन्न स्थानों से उत्पन्न होते हैं। मतंग के अनुसार सूक्ष्मनाद शरीर के गुह्य स्थान से, अति सूक्ष्म नाद हृदय से, व्यक्त कंठ से, अव्यक्त तालू देश से तथा कृत्रिम नाद मुख से उत्पन्न होता है। शार्ङ्गदेव का कथन कुछ भिन्न है। उनके अनुसार—नाद अति सूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट अपुष्ट और कृत्रिम है जिनके उत्पत्ति स्थान क्रमशः नाभि, हृदय, कंठ, मूर्धा और मुख हैं। पाश्चात्य संगींत में भी कंठ नाद के पांच भेद माने गए हैं। 'श्री ललित किशोर सिंह ने पाश्चात्य भेदों के साथ भारतीय भेदों की तुलना की है जो निम्नांकित हैं :—

बास्स (Bass)	—	पुष्ट	पुरुष कंठ
टेनर (Tenor)	—	अपुष्ट	
आल्टो (Alto)	—	सूक्ष्म	स्त्री कंठ
सॅप्रानो (Soprano)	—	अतिसूक्ष्म	
फोल्सेटो (Fals‹tto)	—	कृत्रिम	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपर्युक्त तुलना में दो बातें उल्लेखनीय हैं। पाश्चात्य नादों के भेद पुरुष और स्त्री कंठ की विशेषताओं के आधार पर किये गए हैं, जबकि भारतीय विचार-धारा में यह नाद पुरुष या स्त्री दोनों के शरीर में स्थित है। यानि पाश्चात्य विचारकों ने मानव कंठ की संभाव्यता की ओर ध्यान रखकर नाद के भेदों पर विचार किया और भारतीय चिन्तकों ने मानव शरीर के उन स्थानों को खोज निकाला जहां से हर सम्भव नाद का उद्भव हो सकता हो। प्रयोजन पड़ने पर इन सभी स्थानों के नाद का उपयोग चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, कर सकता है।

इन पांच नाद स्थानों का वर्णन करते हुए सभी ग्रंथकारों ने संगीत के लिए केवल तीन नाद स्थान ही चुने हैं—जिनका मनुष्य प्रयोग करता है। ये हैं—मन्द्र, मध्य और तार जो क्रमशः एक-दूसरे से दुगुने ऊंचे होते हैं और मनुष्य के हृदय, कंठ तथा मस्तिष्क से उत्पन्न होते हैं। नाभि या मुख-निःसृत नाद को संगीत की दृष्टि से बहुत उपयुक्त नहीं माना गया है किन्तु गायक इनका उपयोग कभी-कभी करते हैं।

उपर्युक्त व्याख्याओं से यह स्पष्ट होता हैं कि 'आहत नाद' वह ध्वनि है जिसकी उत्पत्ति किसी वस्तु के टकराने या रगड़ खाने से होती हो। ध्वनि विज्ञान के आधार पर खोज करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकला है कि किसी भी ध्वनि को उत्पन्न करने से लेकर सुनने तक तीन मुख्य तत्त्वों का हाथ है—1. ध्वनि उत्पादक वस्तु, यानि जिससे ध्वनि उत्पन्न हो; 2. वायु जो ध्वनि-तरंगों को कान तक पहुँचाती है, 3. कान का यंत्र, जो ध्वनि को ग्रहण करता है। यह ठीक है कि यंग के द्वारा ऐसी सूक्ष्म ध्वनि का भी पता चल सकता है जिसको कान ग्रहण नहीं कर सकते। किन्तु सामान्य जीवन, विशेषतः संगीत के लिए जिस (आहत) नाद की आवश्यकता है उसके ग्रहण में कान सक्षम हैं और हमें नाद के सूक्ष्म रूपों से परिचित कराता है।

संगीतोपयोगी-संगीतानुपयोगी नाद

व्यापक रूप से नाद के अंतर्गत वह समस्त ध्वनियां आएंगी जो सुनने में अच्छी भी लगती हैं और नहीं भी। कानों को जो ध्वनि अच्छी लगती है उसमें रंजक तत्त्व होते हैं, यानी ये ध्वनियां मन को आनन्द पहुँचाने वाली होती हैं। उन रंजक ध्वनियों का प्रयोग जब संगीत में किया जाता है तो उसे संगीतोपयोगी ध्वनि कहते हैं। संगीतोपयोगी इन ध्वनियों का ही पारिभाषिक नाम 'नाद' है। कुछ और भी ध्वनियां हैं जो कानों को अच्छी नहीं लगती जिन्हें हम सामान्य भाषा में 'शोर-गुल' कहते हैं। सांगीतिक परिभाषा में इन संगीतानुपयोगी ध्वनि को 'रव' कहते हैं। जैसे साधारण बोलचाल की ध्वनि, खटखट, पत्थर का टकराव आदि।

प्रत्येक ध्वनि के उत्पन्न होते समय ध्वनि को उत्पन्न करने वाले द्रव्य और वायुमण्डल में कंपन या आंदोलन होने लगता है, यही कंपन जब नियमित और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निरंतर होने लगता है तो वह संगीतोपयोगी माना जाता है। किन्तु 'रव' में होने वाले कंपन में निरंतरता और नियमितता का अभाव होता है। उसमें एक आघात मात्र होता है जिससे कान को एक धक्का सा महसूस होता है, जबकि नाद का कम्पन कानों के पर्दे पर नियमित रूप से स्पन्दन का अनुभव कराता है।

सामान्य अनुभव से नाद और रव में कभी-कभी अन्तर दिख सकता है। जैसे किसी कमरे की दीवारों से ध्वनि का परावर्तन अगर अधिक हो तो मधुर संगीत भी 'रव' लगेंगे किन्तु पत्थर से टकराती झरने की ध्वनि संगीत का आभास देती है। यह इसलिए होता है कि कमरे की दीवारों के कारण ध्वनि के कम्पन में नियमितता नहीं आ पाती है किन्तु पत्थर पर ऊपर से गिरते हुए पानी के टकराव से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसमें नियमितता और निरंतरता होती है जिससे निश्चित कम्पन होते रहते हैं। अतः उपर्युक्त उदाहरण से नाद और रव के अन्तर की पुष्टि होती है।

प्रो० सिंह ने कम्पन या आन्दोलन के विभिन्न उदाहरणों द्वारा नाद तथा रव को समझाया है। जैसे—तानपुरे के तार को छेड़ने पर वह अपने क स्थान से आगे क' तक चला जाता है और वहां से पुनः क को लौट आता है। किन्तु उसमें गति होने के कारण वह पुनः क से क' तक जाता है और उतना ही दूरत्व को नापता है जितना वह 'क' को नापा या फिर वह 'क' को लौट आता है। परन्तु यहां ठहरता नहीं और इस तरह आवृति होती रहती है। कंपन की इस निरन्तर और नियमित आवृति से ही नाद की उत्पत्ति होती है।

हर सांगीतिक स्वर में आवृति का होना अति आवश्यक है, चाहे वह कंठ से हो या वाद्य से। वाद्य पर इन आवृत्तियों का दर्शन होता है जो कंठ पर सम्भव नहीं। इसलिए किसी भी उदाहरण को प्रस्तुत करते समय वाद्य का ही सहारा लिया जाता है।

संगीतोपयोगी नाद को ही श्रुति की संज्ञा दी गई है। एक स्थान में इन्हें 22 माना गया है। शार्ङ्गदेव ने शरीर में 22 नाड़ियां और इनसे 22 नादों की उत्पत्ति की ओर संकेत किया है जो आधुनिक विज्ञान स्वीकार नहीं करता। पं० भातखंडे ने भी इसका उपहास किया है। उनके अनुसार प्राचीन ग्रन्थकारों ने एक स्थान में 22 से अधिक संगीतोपयोगी नाद नहीं माने और इस विचार को मान्यता देने के लिए शरीर में 22 नाड़ियों की कल्पना की है। "वीणा वाद्य तो उनके पास था ही बस उस वाद्य के खड़े तार और आड़ी तखें देखकर ही संभवतः उपरोक्त कल्पना उन्हें उत्पन्न हो गई हो।" इसके विपरीत हम यह जानते हैं।

(1) शरीर की नाड़ियों की स्थिति भले ही काल्पनिक विचार हो, एक स्थान में जो सप्तक संवादी प्रधान हो, उसमें 22 नाद या श्रुति का ही उपयोग होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(2) प्राचीन वीणाओं में 'खड़े तार तथा आड़ी तरबों के उपयोग' की कल्पना सर्वथा भ्रमात्मक हैं क्योंकि आज तक किसी भी प्राचीन या मध्ययुगीन ग्रन्थ में तरबों का उल्लेख नहीं है। यह 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ की कल्पना है। जबसे ध्रुपद के स्थान पर ख्याल, रुद्र वीणा (बीन) के स्थान पर सितार, ख्वाब या सरोद का प्रयोग बढ़ा और इन वाद्यों के विकास में हर सम्भव प्रयास किया गया। संगीतोपयोगी नाद के लिए तीन विशेषताओं का होना जरूरी है—कर्णप्रियता श्रवणक्षमता और ध्वनि की स्थिरता।

(1) कर्णप्रियता :—

मनुष्य स्वभाव से ऐसी ध्वनियों को पसन्द करता है जो कानों को कष्ट न पहुँचाए। कर्णकटु ध्वनि से उसे स्वाभाविक चिढ़ है। ध्वनि की कर्णप्रियता और कर्णकटुता दो बातों पर निर्भर है—(1) ध्वनि को उत्पन्न करने में सहायक तत्त्व जिसे 'कम्पन वस्तु' कहा जा सकता है तथा (2) ध्वनि की तीव्रता। यह आवश्यक नहीं कि कोई विशेष ध्वनि कानों को सदा अच्छी लगे। वाद्यों में स्वाभाविक मधुरता होती है किन्तु अगर वह ध्वनि इतनी तीव्र हो जाए जिसे कान ग्रहण न कर सके तो वह ध्वनि कर्णकटु लगती है उसी प्रकार झरने या मेंढक की ध्वनि अगर मंद-मंद सुनाई पड़े तो वह कर्णप्रिय लगती है। अतः कर्णप्रियता के लिए तीव्रता की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कम्पन वस्तु की।

(2) श्रवणक्षमता :—

सभी प्रकार की ध्वनियों को कान ग्रहण नहीं कर सकता। हमारे कानों को सुनाई देने की भी एक सीमा है, जिससे ऊपर या नीचे की ध्वनि को सुनना कान की क्षमता से बाहर है। वैज्ञानिक खोजों के आधार पर यह पता चला है कि सुनने की क्षमता ने कान को कम से कम 16 आवृत्ति तक और अधिक से अधिक 38,000 आवृत्ति तक होती है। किन्तु संगीत में जिन नादों का उपयोग होता है उसका क्षेत्र और भी संकुचित है संगीत में स्वरों के कम से कम 40 और अधिक से अधिक 4000 आवृत्तियों को कान सुन सकता है।

(3) स्थिरता :—

ध्वनि संगीतोपयोगी है या नहीं, यह ध्वनि की स्थिरता पर निर्भर है। ध्वनि में गूँज हो तभी उसमें स्थिरता आ सकती है। कोई ध्वनि अगर कर्णकटु हो और फिर भी कुशलतापूर्वक संगीतज्ञ उसे संगीत के लिए उपयुक्त बना भी ले किन्तु जब तक ध्वनि स्थिर रूप नहीं ले लेती, उसका प्रयोग संगीत में होना विशेष सम्भव नहीं है।

नाद के लक्षण :—

नाद के तीन लक्षण माने गये हैं जिनके आधार पर ये एक दूसरे से अलग पहचाने जाते हैं। ये हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(क) तारता या नाद का ऊँचा-नीचा पन (Pitch)
(ख) तीव्रता या नाद का छोटा-बड़ापन (Intensity, Amplitude, Loudness)
(ग) गुण या नाद की जाति (Quality or Timbre)

(क) तारता—दो अलग-अलग ध्वनियों में से एक से दूसरी ध्वनि अगर ऊँची हो, तो ध्वनि के कम्पन की आवृत्ति में भी अन्तर आ जाता है, और हम तुरन्त पहचान जाते हैं कि प्रथम ध्वनि से द्वितीय ध्वनि ऊँची हैं, अथवा द्वितीय ध्वनि से प्रथम ध्वनि नीची है। चिड़ियों का चहचहाना और शेर की गर्जना में भी यह अन्तर है। नाद के इस ऊँचा-नीचापन को 'तारता' कहते हैं, जो ध्वनि के कम्पन की कम-अधिक संख्या पर निर्भर करता है। अर्थात् कम्पन संख्या अगर कम है तो नाद नीचा होता, अगर अधिक है तो नाद ऊँचा सुनाई पड़ता है। स्वर की तारता स्वरोत्पादक वस्तु की आवृत्ति पर निर्भर करता है। दो तार जो षड्ज और ऋषभ में मिलाये गए—स (षड़ज) में मिले तार की जितनी आवृत्ति होगी, रे (ऋषभ) में मिले तार की आवृत्ति उससे अधिक होगी। अर्थात् आवृत्ति जितनी अधिक होगी, स्वर भी साथ-साथ उतना ही ऊँचा होगा। यही विशेषता पुरुष और स्त्री कण्ठ में देख सकते हैं। कितने ही ऊँचे स्वर में पुरुष गा ले, उसी ऊँची ध्वनि में स्त्री कण्ठ की तारता अधिक होगी क्योंकि नारी कण्ठ महीन होता है।

ध्वनि के इस कम्पन को केवल कान से ही परखा जा सकता है, ऐसी बात नहीं, यह तो स्वर का भौतिक धर्म है जिसे किसी भी गतिशील वस्तु पर देखा-परखा जा सकता है। जैसे धीमी गति में पंखा चलने से जो ध्वनि सुनाई देती है, उसकी गति तेज कर देने से उससे ऊँची ध्वनि सुनाई देती है। क्योंकि गति बढ़ने से पंखे के ब्लेड या फलक घूमने की आवृत्ति में अन्तर आया और आवृत्ति बढ़ने से ध्वनि की तारता में भी परिवर्तन हो गया। मध्य सप्तक के 'स' और 'प' का अन्तर ध्वनि की उच्च-नीचता का अन्तर है। स की आन्दोलन संख्या प्रति सेकेण्ड अगर 280 है तो प की 270 है।

वैज्ञानिक खोज से यह पता चला है कि सामान्यतः व्यक्ति का कान ध्वनि की आवृत्ति कम से कम 16 तथा अधिक से अधिक 38,000 तक सुनने की क्षमता रखता है। किन्तु सांगीतिक ध्वनियों के लिए कानों की ग्रहण क्षमता और कम हो जाती है, और तब कम से कम 80 और अधिक से अधिक 8,000 आवृत्ति तक की सांगीतिक ध्वनि ही कान ग्रहण कर सकता है। 'सायरन' नामक यन्त्र से सीवेक, के. गनिर्यड तथा डव्ह में स्वरों के कम्पन निर्धारित करने का सफल प्रयास किया है।

(ख) तीव्रता—किसी ध्वनि को अगर जोर से उच्चारण किया जाय तो वह दूर तक सुनाई देती है, तथा उसी ध्वनि को अगर धीमे उच्चारण किया जाय तो वह केवल पास के लोगों को ही सुनाई देती है। जैसे फुसफुसाहट में जिसे बोला जाता है केवल वही सुन सकता है, पर चिल्लाकर बोलने से दूर तक और अधिक लोग सुन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकते हैं। जब ध्वनि के इस छोटे-बड़ेपन का प्रयोग संगीत में किया जाता है तो उसे 'तीव्रता' कहते हैं। तीव्रता का अर्थ ध्वनि के जोर से है। अर्थात् आघात जितनी शक्ति से किया जायगा, ध्वनि का विस्तार भी उतनी ही दूर होगा। आघात अगर हल्का हो तो ध्वनि कम दूरी तक सुनाई देती है। अक्सर 'तारता' और 'तीव्रता' का अन्तर लोग नहीं समझते और धीमी आवाज को स्वर नीचे हो जाना तथा जोर की आवाज को स्वर ऊँचा हो जाना मानते हैं, जो गलत है।

जैसे नादोत्पादक वस्तु की आवृत्ति पर ध्वनि की 'तारता' निर्भर है, उसी प्रकार नाद में होने वाले कम्पन की लम्बाई यानी 'कम्प-विस्तार' पर ध्वनि की 'तीव्रता' निर्भर है। वस्तु का कम्प-विस्तार जैसे-जैसे अधिक होता जाता है, वायुमण्डल में उतनी ही सघनता पैदा होती जाती है। इस सघनता से कानों का दवाव अधिकाधिक पड़ता जाता है। अतः नाद भी उतना बड़ा सुनाई देता है। इसके विपरीत हल्के आघात से वायुमण्डल में कम सघनता बनती है जिससे कानों के परदे पर संपीड़न कम होता है और नाद छोटा सुनाई देता है।

नाद की तीव्रता के उपयोग के लिए तारता का प्रयोजन नहीं है। यानी कम्प-विस्तार के साथ कम्पन की आवृत्ति भी घटे-बढ़े ऐसा आवश्यक नहीं है। इस बात को प्रायः नवीन विद्यार्थी नहीं समझते। उन्हें अगर क्रमशः ऊँचा स्वर बोलने को कहा जाता है तो वह जोर से चिल्लाने लग जाते हैं। अर्थात् अगर पधनि स गाने को कहा जाता है तो प या ध के स्वर पर ही जोर लगाकर नि सं का उच्चारण करते हैं। अतः यह ध्यान रहे कि तीव्रता से मतलब है, एक ही स्वर या स्वर-समष्टि को प्रयोजनानुसार धीमे या जोर से उच्चारण किया जाय, तो वह नाद की 'तीव्रता' है तथा एक स्वर से ऊपर या नीचे के स्वर का प्रयोग किया जाय तो वह नाद की 'तारता' है। अर्थात् तारता, कम्पसंख्या और तीव्रता, कम्प-विस्तार पर निर्भर है।

जैसे ध्वनि की 'तारता' के लिए कान की ग्रहणक्षमता सीमित है, तीव्रता के लिए भी ऐसा ही है। वैसे यह सीमा सर्वदा एक जैसी नहीं होती है। वैज्ञानिकों ने तीव्रता के माप के लिए कुछ यन्त्र बनाये हैं, जिससे कान के परदे की सघनता का दवाव और उसकी तीव्रता का अनुभव किया जा सकता है। कम से कम ध्वनि की तीव्रता, जिसके नीचे स्वर सुनाई न दे, तारता पर भी निर्भर है। साधारणतः तार सप्तक के स्वरों में अगर थोड़ी सी तीव्रता हो तो भी कान उसे सुन सकता है। प्रयोगों के पश्चात् यह अनुमान लगाया गया कि स्वर अगर 2734 आवृत्ति का है तो कान के परदे पर कम से कम वायुमण्डल के दवाव के 10 अरब वाँ हिस्से के बराबर सघनता का दवाव होने से कान इस स्वर को सुनने में समर्थ है और इससे कम दवाव होने पर कान की मशीन सुनने में असमर्थ है।

कम से कम तीव्रता को, जो कान को सुनाई पड़ते हैं, उसे 'श्रुति देहली' कहते हैं। जब तीव्रता बढ़ने पर कान ध्वनि के ग्रहण में असमर्थ हो तो उसे 'पीड़ा देहली'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहते हैं। कान की ग्राहकता जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, नाद का छोटा-बड़ापन भी उतनी ही परिपक्वता से अनुभव किया जा सकता है।

(ग) गुण—नाद के इस तीसरे लक्षण द्वारा मनुष्यों के कण्ठों में तथा वाद्यों की परस्पर ध्वनि में अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। केवल मनुष्य ही क्यों, पशु-पक्षी की ध्वनि में भेद भी इसी के द्वारा जाना जा सकता है। तारता तथा तीव्रता के नियमों से भिन्न और निरपेक्ष यह विशेषता है। दो व्यक्तियों के कण्ठ स्वर एक बार सुनते ही पहचानना, सितार, वीणा, सरोद, बांसुरी, शहनाई आदि वाद्यों की ध्वनियों में अन्तर करना, नाद का गुण जानने से असम्भव नहीं है। एक से अधिक वाद्य बजता हो और उनके स्वरों की तारता भी एक सी हो, फिर भी वाद्यों की ध्वनि अलग-अलग पहचानी जा सकती है। उदाहरणत: अगर सितार या कण्ठ के षड़ज पर तबले का षड़ज मिलाया जाता है, तो उसका अर्थ यही है कि दोनों के स्वरों की आवृत्ति या तारता मिल गयी, पर दोनों उत्पादक वस्तुओं की अलग-अलग पहचान नहीं मिटती है। यानी दोनों वस्तुओं की तारता एक हो जाने पर भी उनके अपने-अपने गुण विद्यमान रहते हैं।

जैसे तारता और तीव्रता के भौतिक आधार हैं—कम्प-आवृत्ति तथा कम्प-विस्तार, उसी प्रकार गुण का भी भौतिक आधार है। उत्पादक द्रव्य में आवर्त्तक (harmonics) या सहायक नाद उत्पादन करने की शक्ति तथा उत्पादक द्रव्य की सही ध्वनि उत्पन्न करने के स्थान पर नाद का 'गुण' निर्भर है। इसे थोड़ा और स्पष्ट करें :—

(i) किसी तार का निज राव या अंगुली से आघात पर आवर्त्तक की तीव्रता छ:/सात बार के बाद समाप्त हो जाती है, किन्तु उसी तार को किसी नुकीली और भारी पदार्थ से आघात करने पर बहुत से आवर्त्तक निकलेंगे और सभी एक जैसी तीव्रता के होंगे। आघात की दो शैली से एक ही तार के स्वर भिन्न-भिन्न गुणों के हो जायेंगे। श्री डी० आर० पार्वतीकर द्वारा निर्मित 'दत्तात्रेय वीणा' इसका प्रकृष्ट उदाहरण है।

(ii) तार को छेड़ने का एक निश्चित स्थान होता है। अगर स्थान में परिवर्तन कर दिया जाय तो तार के स्वर का गुण बदल जाता है। जैसे सितार के तार को घुड़च के ऊपर से बजाने से और नीचे से बजाने से भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनि निकलती है। इसी तरह तानपुरे के तार को बीचों-बीच छेड़ा जाय तो उसका आवर्त्तक स्वर एक प्रकार का निकलेगा और उससे एक तिहाई दूरी पर छेड़ा जाय तो दूसरे प्रकार का आवर्त्तक स्वर सुनाई देगा। थॉमस यंग के इस अन्वेषण के फलस्वरूप वाद्यों में कृत्रिम उपाय से भी चाहे जिन आवर्त्तक को समाप्त किया जा सकता है, या उनकी तीव्रता में कमी-वेशी कर सकते हैं।

प्रयोग करके यह देखा गया है कि जिन स्वरों में आवर्त्तक उपस्वरों (har-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

monic-overtone) का मिश्रण होता है, वे कोमल और कर्णप्रिय होते हैं तथा संगीतज्ञ ऐसे ही स्वर पसन्द करते हैं। आवर्त्तक उपस्वरों के कारण ही वाद्यों में तन्त्री तथा सुषिर की प्रधानता मानी गयी है जो हर प्राकृतिक स्वर के प्रयोग में सक्षम है। साथ ही भारतीय संगीतज्ञ ताल-वाद्यों में भी आवर्त्तक उपस्वर उत्पन्न कराने में सफल हुए। मृदंग, खोल, तबाला, नाल इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

नाद तथा उसके लक्षण की सारणी नीचे दी जाती है—

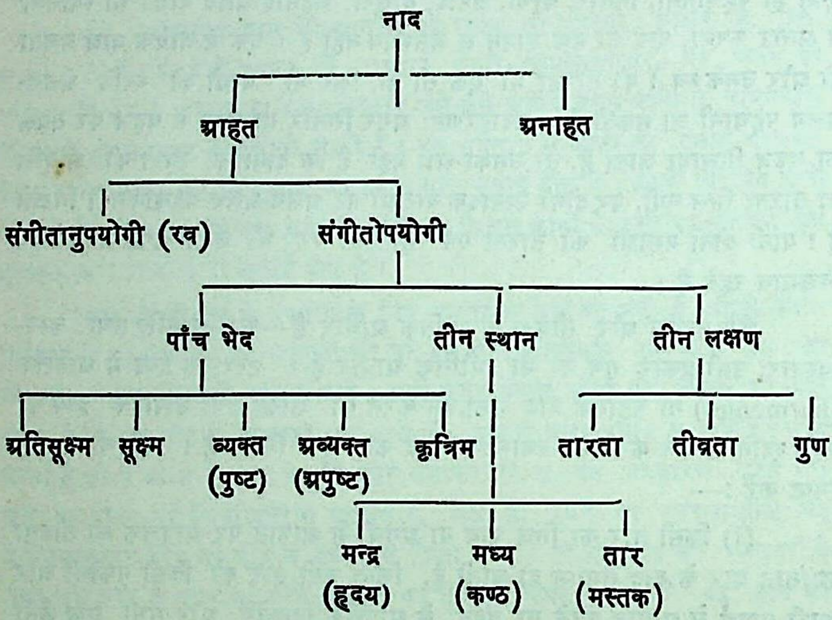

गूंज या अनुनाद

जब किसी तार को छेड़ते हैं तो एक विशेष आवृत्ति के साथ उसमें कम्पन होगा। यह उसकी स्वाभाविक आवृत्ति होगी। इसे 'मुक्त कम्पन' कहते हैं। जब उसी तार को समान अन्तर पर बार-बार छेड़ा जाय और आघात का बल भी एक जैसा हो, तो मुक्त कम्पन की अपनी स्वाभाविक आवृत्ति समाप्त होकर आघात के बल की आवृत्ति के साथ मिलती आवृत्ति होगी। इस बाहरी कम्पन को, जो तार का अपना कम्पन नहीं है 'प्रेरित कम्पन' कहा जाता है। तार को छेड़ते समय मुक्त कम्पन और प्रेरित कम्पन की आवृति जब एक हो जाय, तो दोनों के योग से उत्पन्न ध्वनि को 'गूंज या अनुनाद' कहते हैं। संगीत की भाषा में इसे 'आस' भी कहते हैं।

कण्ठ में गूंज या अनुनाद अभ्यास से लाना पड़ता है। इसके लिए कण्ठ में 'मन्द्र साधन' की आवश्यकता है। मध्य स्थान का स्वर कण्ठ से स्वाभाविक रूप से निकलता है। तार स्थान के स्वर निकालने में कण्ठ और मूर्धा (मस्तक) पर जोर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पड़ता है जिससे स्वर कर्कश होने का डर रहता है। इसलिए मन्द्र स्वर का साधन कराया जाय जिससे स्वर में स्थिरता आती है। कण्ठ में 'आस' या अनुनाद भी उचित ढंग से मन्द्र साधन करने पर आता है। इसी को 'गले में जवारी लाना' भी कहते हैं।

वाद्य अगर ठीक स्वर में मिलाया जाय तो गूंज स्वयं निकलती है क्योंकि यह वाद्य का सधर्म है। उपर्युक्त मुक्त और प्रेरक कम्पन की आवृत्ति को वाद्य में नापा भी जा सकता है, किन्तु कण्ठ में यह क्रिया अन्दर होने से न अलग से सुनाई देता है, न उसे देखा जा सकता है। प्रेरित कम्पन के सिद्धान्त को सामने रखते हुए तत (तन्त्री) वाद्यों में 'तरब के तारों' का प्रयोग किया गया है। सितार आदि वाद्यों में सामान्यतः एक तार पर वादन किया जाता है, अन्य संवादी तारों की व्यवस्था गूंज उत्पन्न करने के लिए की गई है।

गूंज का उपयोग मुख्यतः तन्त्री पर एवं अंशतः ताल वाद्यों पर देखा जाता है। किसी गायक के ऊंचे स्वर में गाने से वाद्य का तार भी अगर उस विशिष्ट स्वर में मिला हो तो वह स्वयं ध्वनि करने लगता है। इसी प्रकार लकड़ी में अवरोध अधिक होता है, तार में कम। अतः एक ही मुक्त कम्पन की आवृत्ति वाले तार और लकड़ी लेने से तार में लकड़ी से अधिक अनुनाद उत्पन्न करने की शक्ति होती है।

यह देखा गया है कि ऊंचे स्वर में मिलाया हुआ तबला बादल गरजने के साथ ही फट जाता है। यह इसलिए होता है कि गर्जन ध्वनि के कम्पन की आवृत्ति और तबले में मिले स्वर की आवृत्ति एक हो जाती है और तबले में इतनी अधिक तीव्रता आ जाती है कि उसे वह सह नहीं पाता, फलस्वरूप तबला फट जाता है।

ध्वनियों की सहज स्वाभाविक गूंज को देखते हुए तन्त्री वाद्यों में 'जवारी' की कल्पना की गयी है। तानपुरे में डोरी से जवारी निकाली जाती है, जबकि सितार आदि वाद्यों में और सूक्ष्म रूप से घुडच को घिसकर 'जवारी खोली' जाती है। जवारी खोलने का अर्थ है, बन्द ध्वनि में गूंज या अनुनाद निकालने की व्यवस्था करना।

स्वर

स्वर शब्द पर अब तक काफी चर्चा हो चुकी है। स्वर शब्द की व्याकरणगत व्युत्पत्ति बृहद्देशी में सर्वप्रथम दिखती है, जिसका भावार्थ है—"जो प्रकाशित हो, वह 'स्वर' है।" कुम्भ ने इसे और विस्तार से समझाया है—"जो स्वयं में चमकता है, (श्रोता के मन का) रंजन करता है, जिसमें ध्वनि और रव करने की क्षमता है, वह 'स्वर' है।"

अतः स्पष्ट है कि षड़जादि सप्त स्वरों में निश्चित उच्चता निम्नता के साथ स्वयं प्रकाशत्व और स्वयं रंजकत्व गुण अन्वित है। श्रुति स्वर का अन्तर ऐसे भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माना जाता है कि श्रुति में 'अभिघात' है, स्वर में 'अनुरणन'। जैसे किसी तार या घण्टे को आघात करने से प्रथम आघात 'अभिघात' है तथा उसके बाद उठने वाले गूंज 'अनुरणन' है। जिन वस्तुओं में ऐसे अनुरंजन नहीं होते, वे स्वर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते।

स्वर पर आधुनिक काल में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अनेक चिंतन हुए, जिसके फलस्वरूप स्वर की आन्दोलन-संख्या, दो स्वरों के श्रुति अन्तर उनके नाप आदि को पहचाना गया और स्थिरता दी गई। वैज्ञानिक दृष्टि से स्वर की परिभाषा भी बनाई गई। नाद कभी स्थिर नहीं रहता। वह कभी ऊपर चढ़ता है तथा कभी नीचे उतरता है। नाद के इस उतार-चढ़ाव में वह जिन-जिन तारता (ऊँचा-नीचापन) पर स्थित होता है, उसे 'स्वर' की संज्ञा दी जा सकती है। एक स्वर से दूसरे स्वर के बीच अनन्त विराम हो सकते हैं, किन्तु नाद प्रत्येक स्थान में रुकता नहीं।

किसी भी संगीत पद्धति में नाद की दो सीमाएं मानी गई हैं, जहां विराम होती है। भले एक स्थान में सात स्वर माने गए, किन्तु षड़ज से आगे अन्य छः स्वरों की प्राप्ति और स्वरान्तर के दर्शन के लिए तार षड़ज तक जाने की आवश्यकता है। जब तक स्वरित या आधार स्वर के दुगने ऊँचे स्वर तक नहीं पहुंचते, स्वर-प्रयोग अधूरा रह जाता है। चक्रिक-प्रक्रिया में भी जिस बिन्दु से चलना प्रारम्भ करते हैं उसी पर जब तक मिल नहीं जाते, तब तक चक्र सम्पूर्ण नहीं होता। इसी दृष्टि से षड़ज से आरम्भ कर तार षड़ज तक पहुंचने पर ही स्वर-चक्र को विश्रांति मिलती है। भले ही तार षडज कोई नया स्वर स्थान न हो। स्वरित के दुगुने ऊँचे स्वर तक पहुंचने का नियम पाश्चात्य या फारसी संगीत की देन नहीं है। ये भारतीय परम्परा का भी द्योतक है, भले ही ग्राम-मूर्च्छना।

अचल स्वर—एक स्थान में सात मुख्य स्वरों का प्रयोग आदिकाल से चला आ रहा है। आवश्यकतानुसार किसी स्वर को अधिक महत्त्व दिया गया और किसी को कम। हिन्दुस्तानी तथा कर्णाटकी संगीत में षड़ज-पंचम का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है और इन्हें सर्वदा अपने स्थान पर रखा गया है। सप्तक के इन दो स्वरों में कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः अपने निश्चित स्थान से कभी विचलित न होने के कारण इसे स्थिर या अचल स्वर कहते हैं।

सचल स्वर—षड़ज और पंचम के अतिरिक्त अन्य पाँच स्वरों को अपने स्थान से विचलित किया जा सकता है अर्थात् उनके लिए जो निर्दिष्ट स्थान हैं वहाँ से ऊपर या नीचे की श्रुतियों को सरका कर उनमें विकृति लाई जा सकती है। अपने स्थान से च्युत होने की क्षमता होने के कारण इन स्वरों को 'सचल स्वर' कहा जाता है। पाँच सचल स्वर हैं—ऋषभ, गांधार, मध्यम, धैवत और निषाद। कर्नाटक पद्धति में स्वरों की सचलता ऊपर की ओर है अर्थात् अपने स्थान से वे आगे की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ओर खिसकते हैं। ऋषभ, धैवत, गांधार व निषाद अपने स्थान से हटकर नीचे आते हैं जिसे 'उसरी' या 'कोमल' कहते हैं तथा मध्यम अपने स्थान से ऊपर को जाता है इसलिए इसे 'तीव्र' कहा जाता है। मध्य युग में शुद्ध स्वरों की संज्ञा अलग होने से रे-ध को उतरे रूप और ग-म-नि के चढ़े रूप स्वीकृत थे।

शुद्ध स्वर—एक स्थान में सात शुद्ध स्वरों का उपयोग सभी देश के विकसित संगीत में मिलते हैं। काल भेद से शुद्ध स्वरों के स्थान भेद होते रहे। एक स्थान में संगीतोपयोगी बाईस ध्वनियाँ मानी गईं और संवाद के आधार पर सात शुद्ध स्वरों को व्यवहार योग्य माना गया।

'शुद्ध' शब्द का अर्थ है शोधन किया हुआ। 'ग्राम-मूर्च्छना' पद्धति में स्वरों के ऐसे शोधन रूप ही हमारे सामने आते हैं किन्तु इससे विपरीत देशी पद्धति में प्राकृतिक स्वरों का प्रयोग मान्य रहा। जिनमें एक ही सप्तक में षड़ज-पंचम और ऋषभ-पंचम का संवाद मिल जाता है। देशी संगीत में जनरंजन का यही इतिहास है।

अस्तु, वर्तमान हिन्दुस्तानी संगीत में प्राकृतिक संवाद युक्त स्वर-ग्राम (scale) को हमने शुद्ध स्वर मान लिया है। वैज्ञानिकों ने भी इसे कर्णप्रिय सप्तक माना है। परम्परा के प्रति मोह होने के कारण जैसे मध्ययुगीन ग्रंथकारों ने अपने शुद्ध (वर्तमान काफी-थाट के) स्वर को 'षड़ज-ग्राम' माना है, उसी प्रकार पंडित भातखंडे ने भी बिलावल थाट के स्वरों में षड़ज क्रमिक प्रथम मूर्च्छना प्राप्त करने के 'दुराग्रह' से 'षड़ज' स्वर को प्रथम श्रुति पर स्थापित किया और 'ऋषभ' की श्रुतियों को षड़ज की श्रुतियाँ मान लीं। संगीत में जहाँ त्रिश्रुतिक धैवत (मध्यम से सप्त श्रुतिक संवाद करने वाला) का उपयोग होता है; पं० भातखंडे ने उसे चतु-श्रुतिक मान लिया और प्रचलित शुद्ध स्वरों में ही षड़ज ग्रामिक प्रथम मूर्च्छना को स्थापित करने की चेष्टा की। इससे ये परिणाम निकला।

सारणी (परिशिष्ट क) को देखने से स्पष्ट होता है कि षड़ज ग्रामिक मूर्च्छना और आधुनिक बिलावल थाट के स्वरों में बहुत अन्तर है। भातखण्डे तथा आधुनिक वे सभी ग्रंथकार भ्रान्त हैं जो बिना परीक्षण किए ही यह लिख देते हैं कि आज के बिलावल में ही प्राचीन षड़ज ग्राम विद्यमान है। विद्यालय तथा महाविद्यालय के लिए लिखे जाने वाले पाठ्य-पुस्तक के रचयिता को शायद इतना समय नहीं मिलता कि वे भातखण्डे संगीतशास्त्र क्रमिक पुस्तकमालिका आदि के अतिरिक्त परवर्ती ग्रंथों का भी अध्ययन करें। आधुनिक श्रुति स्थान पर चिंतन हो चुका है और उसके वास्तविक निष्कर्ष भी निकाले जा चुके हैं। अतः उनके अध्ययन और मनन के पश्चात् ही पाठ्य पुस्तक लिखी जाय तो संगीत का कल्याण होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री के० वासुदेव शास्त्री ने प्राचीन षड्ज-ग्रामिक स्वर नामों के आधार पर प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि हिन्दुस्तानी नहीं बल्कि कर्णाटक स्वर ही शुद्ध स्वर हैं। स्वरों की जैसी श्रुतियाँ मध्ययुग में मानी गईं, उन्होंने अपने स्वरों में भी वैसी श्रुतियाँ मान ली और कहा कि भरतोक्त शुद्ध स्वरों का प्रयोग कर्णाटक पद्धति में किया जाता है। इसके लिए स्वर संवाद का आधार उन्होंने लिया किन्तु समस्त विवेचन पूर्वाग्रहयुक्त है। विवेचन का सार और उसकी समालोचना इस प्रकार है :—

(क) पंचम से एक श्रुति नीचे 'प्रतिम' या हिन्दुस्तानी 'तीव्रम' है, ऐसा श्री शास्त्री मानते हैं किन्तु उपर्युक्त स्वर का वास्तविक स्थान मध्यम-पंचम के बीच में यानी पंचम से दो श्रुति नीचे है। कर्णाटक शुद्ध रि और प्रति मा में जो संवाद है, हिन्दुस्तानी कोमल रि तीव्र म में वही संवाद है। कर्नाटक शुद्ध ऋषभ भी त्रिश्रुतिक नहीं द्विश्रुतिक है।

(ख) इसी तरह कर्णाटक शुद्ध रि-पा में संवाद माना गया है किन्तु जब ऋषभ ही शुद्ध यानी त्रिश्रुतिक नहीं है तो उसका संवादी धैवत कैसे त्रिश्रुतिक होगा ?

(ग) कर्णाटक शुद्ध गांधार को यतुःश्रुति ऋषभ से ऊपर और साधारण गांधार से नीचे रखा गया है। श्री शास्त्री को शुद्ध गांधार का यह नया पर्दा कहाँ से मिल गया ? फिर शुद्ध गांधार को ही कभी पंचश्रुति और कभी चतुःश्रुति ऋषभ कहा जाता है ? यही स्थिति धैवत की है।

(घ) ग्राम-मूर्च्छना में जैसे शुद्ध रि-ग को विवादास्पद माना गया, यानी उनका साथ-साथ प्रयोग अस्वीकार किया गया है, कर्णाटक पद्धति में भी वैसा ही है, अतः इसी रि-ग और ध-नि को शुद्ध माना गया है। किन्तु वास्तविकता तो इस बात की है कि कर्णाटक रि और ग षड़ज से क्रमशः 2 और 4 श्रुतियों के अन्तराल पर स्थित हैं। ये दो स्वर स्वयं ही विस्वर हैं। हिन्दुस्तानी पद्धति में ये दो स्वर ऋषभ के कोमल और शुद्ध रूप हैं और दोनों का कभी साथ-साथ प्रयोग नहीं होता। मुरवारी में दो स्वरों की उपस्थिति के कारण ही प्रयोग में माल वगौल (भैरव) से गायन-वादन प्रारम्भ होता है।

(ङ) जब शुद्ध गांधार ही विस्वर है तो उसका संवादी निषाद भी स्थान भ्रष्ट और विस्वर है। अतः यह दावा करना कि "कर्णाटक पद्धति में जो स्वर शुद्ध स्वर कहे जाते हैं, वे ही प्राचीन काल के शुद्ध स्वर हैं।······ हिन्दुस्तानी पद्धति में ··· · शुद्ध स्वरों के ·····यह नवीन नामकरण 17वीं, 18वीं शताब्दी तक नहीं हुआ था," दोनों पद्धतियों के स्वरों के साथ न्याय करना नहीं है। जब देशी पद्धति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की विचित्रता की ओर मतंग और अन्य ग्रन्थकारों ने संकेत किया है, फिर हमें यह असंगत आग्रह क्यों है कि ग्राम-मूर्च्छना पद्धति के शुद्ध स्वरों का ही प्रयोग देशी पद्धति में हो। जब हमने यह भी मान लिया कि अभिरागों के स्थान पर देशी रागों का ही प्रयोग होता है, मध्यम ग्राम का अप्रयोग है, फिर स्वर नामों के लिए ऐसा भ्रमपूर्ण विचार क्यों रखे हुए हैं ?

रागों का गान स्वराश्रित ही तो है। यह हम क्यों नहीं मानते कि मार्ग पद्धति से बाहर देशभेद, रुचिभेद से के स्थान पर 12 स्वरों को हमने जब ग्रहण किया तो स्वर नाम भी उसमें देशभेद के आधार पर ही रखा गया। इसी दृष्टि से चढ़ी-उतरी या चिन्न-पेरिया संज्ञा अधिक उपयुक्त है। तीव्र-कोमल भेद तो स्वीकारा जा सकता है किन्तु दक्षिण के ग्रंथकारों द्वारा शार्ङ्गदेव कथित स्वरों को वीणा के तारों पर 'फिट' बैठाने की दुर्बुद्धि ने ही लक्ष्य-लक्षण में भेद पैदा कर दिया। उत्तर में भी अहोबल आदि में थोड़ी-बहुत ऐसी प्रवृत्ति पाई गई और दुःख का विषय है उत्तर-दक्षिण के शास्त्रकारों की यह होड़ अब भी समाप्त नहीं हुई है। एक तरफ जैसे श्री के० वासुदेव शास्त्री आदि ने संवाद का प्रपंच खड़ा कर कर्णाटक स्वरों की प्राचीनता सिद्ध करने की चेष्टा की है, दूसरी तरफ प्रो० ललित किशोर सिंह आदि ने विज्ञान का आधार लेकर बिलावल को ही भरतकालीन और मुखारी को शार्ङ्ग-देव का शुद्ध स्वर ग्राम (Scale) प्रमाणित करने का प्रयास किया। इन दोनों से अलग डा० बृहस्पति दोनों पद्धतियों के शुद्ध-विकृत स्वरों को फारसी स्वरों की देन मानने में तत्पर रहे। शास्त्राध्ययन करने वाले इन सभी ग्रंथकारों ने 'मार्ग से अलग किन्तु शास्त्र की मर्यादा पाने वाली शैली 'देशी' को या तो कोई महत्व नहीं दिया अथवा जान-बूझकर इसके महत्व को नकारने के लिए उन संकेतों के प्रति उदासीन रहे, जहाँ बार-बार यह कहा गया कि ग्राम-मूर्च्छना-स्वर जाति का नियम 'देशी' में नहीं है। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि 'देशी' एक सशक्त पद्धति थी और मतंग के पूर्व ही इसे शास्त्र की मर्यादा प्राप्त हो गई थी। देशी किन्नरी और आला-पिनी के परदों पर बताये गए स्वर ग्रामिक स्वर नहीं है। लेखिका ने अपने शोध-ग्रंथ में बार-बार इसी ओर संकेत किया है।

अतः सभी पूर्वाग्रहों को त्याग कर अगर उत्तर और दक्षिण के शुद्ध-विकृत स्वरों को देशी पद्धति का ही परिणाम मान लें, जो देश-भेद से बनें, तो अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि संगीत निरंतर प्रवाहमान धारा है। अतः संवाद के आधार पर 12 स्वर स्थानों की प्राप्ति हमने की और वही धारा आज तक बनी है।

विकृत स्वर—सात शुद्ध के अतिरिक्त पांच विकृत स्वर उत्तर तथा दक्षिण, दोनों पद्धतियों में माने गये। स्वरनाम स्थिर करने की परम्परा चलाई और उत्तर में कोमल-तीव्र की। कुछ शास्त्रकार ऐसे हुए जिन्होंने प्रत्येक श्रुति को स्वर का एक-भेद मानकर अति कोमल, तीव्रतर आदि संज्ञा भी दी है। यह प्रथा मुख्यतः उत्तर में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही रही, किन्तु सोमनाथ ने भी ऐसा उल्लेख किया है। आधुनिक काल में पं० भातखंडे ने स्वर के अति कोमल, तीव्रतर आदि संज्ञाओं को अस्वीकार कर केवल 12 स्वरों का ही प्रचार किया। सामान्य पाठ्य पुस्तकों में भी इन संज्ञाओं को 'अशुद्ध' कहकर प्रयोग के लिए अवास्तविक ठहराया है। किन्तु पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, जो परम्परावादी गायक थे, स्वर के कुल 18 रूप मानते थे और विभिन्न रागों की स्वरलिपि करते समय इनका प्रयोग करते थे। अनेक परम्परावादी गायक-वादक भी रागों में लगने वाले स्वरों के सूक्ष्म रूपों और उन्हें लगाने की रीति को ही राग की विशेषता मानते हैं। भले ही सामान्य रूप से 12 स्वरों को स्थिर रूप दिया गया हो। पं० ओंकारनाथ ठाकुर ने भी 22 श्रुतियों के स्वर नाम दिए हैं जो कहीं-कहीं पं० पलुस्कर से भिन्नता रखता है। पूना के श्री अचरेकर ने 22 श्रुतियों के भिन्न स्वर नाम के साथ ऐसे राग-नाम भी दिये हैं जिनमें अति कोमल या तीव्रतर आदि रूप लगाया जाता है।

श्री के० वासुदेव शास्त्री ने कर्णाटक पद्धति में प्राचीन स्वरों की उपस्थिति मान ली है और 22 श्रुतियों में कर्णाटक और हिन्दुस्तानी पद्धति के स्वरों का उल्लेख किया है। किन्तु इन्होंने शुद्ध विकृत स्वरों के श्रुति स्थान वही बताए हैं जैसा रामामात्य से व्यंकटभरती तक ने बताया। अपनी बताई श्रुतियों को ही उन्होंने 'प्रमाण' मान लिया और हिन्दुस्तानी स्वर समुदाय को भी तद्नुसार स्थिर कर स्वमत प्रतिपादित करने की चेष्टा की। किन्तु इस पर आज तक अनेक चिन्तन हो चुके हैं और वैज्ञानिक विधि द्वारा स्पष्ट हो चुका है कि कर्णाटक पद्धति में स्वरों के वास्तविक श्रुति स्थान का निर्देश ग्रंथकारों ने नहीं दिया है। अतः श्री शास्त्री का कथन भ्रमपूर्ण है। वहीं स्वरों के विकृत रूप की संज्ञा ऐसी है—

अतिकोमल-कोमल—जब स्वर अपने शुद्ध स्थान को त्याग कर नीचे-नीचे की श्रुति में उतरे तो क्रमशः कोमल, अति कोमल आदि संज्ञा पाती है। जैसे षड्ज और ऋषभ के बीच की श्रुतियों में ऋषभ की प्रथम श्रुति को अति-अति कोमल (पलुस्कर) या अति कोमल (अचरेकर), दूसरी श्रुति को अति कोमल या कोमल, तीसरी श्रुति को कोमल या शुद्ध की संज्ञा दी गई है। प्रो० सिंह ने चतुःश्रुतिक स्वर में प्रथम श्रुति को सहकार, द्वितीय को अति कोमल, तृतीय को कोमल कहा है।

उपर्युक्त संज्ञाओं को दृष्टिगत करने से स्पष्ट होगा कि 12 स्वरों में जिसे कोमल कहते हैं, उसकी संज्ञा इन ग्रंथकारों के अनुसार अति कोमल होगी। (श्री अचरेकर को छोड़कर)।

आधुनिक काल में 'रि-ग-पा-नि' में ही ये 'कोमल विकृत' रूप माने जाते हैं।

तीव्र-तीव्रतर—स्वर अपने शुद्ध स्थान को त्याग कर जब क्रमशः एक-एक श्रुति ऊपर चढ़ता है तो उसे तीव्र-तीव्रतर कहते हैं। स्वर का तीव्र रूप आज केवल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'मध्यम' में ही माना जाता है क्योंकि पंचम अचल या अतिकृत है। मध्यम जब एक श्रुति चढ़ता है तो तीव्र, दो श्रुति में तीव्रतर और तीन श्रुनि में तीव्रतम कहा जाता है। इस दृष्टि से वर्तमान 'तीव्र मध्यम' का स्थान तीव्रतर है।

ध्वनि और संगीत तथा संगीतांजलि में स्वर के सूक्ष्म रूपों का नाम सहित निरूपण है जो सूक्ष्म अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

चढ़ी उतरी—देशी पद्धति में परम्परावादी गायक-वादक में षड्ज-पंचम के अलावा और सभी स्वरों का उतार-चढ़ाव मान्य रहा। यानी 12 शुद्ध-विकृत स्वरों में से षडज-पंचम को ही केवल शुद्ध या विकृत माना जाता रहा क्योंकि इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इसके अतिरिक्त अन्य पाँच स्वरों में विकार आने से उन्हें चढ़ी-उतरी के नाम से जाना जाता रहा। जब स्वर का झुकाव नीचे की तरफ हो तो उसे 'उतरी' और जब ऊपर की ओर हो तो उसे चढ़ी' कहा जाता है। इस तरह ऋषभ के दो भेद 'उतरी रिखब' और 'चढ़ीं रिखब' गांधार के दो भेद 'उतरी गांधार' 'चढ़ी गांधार', मध्यम के दो भेद 'उतरी मध्यम' 'चढ़ी मध्यम' 'धैवत के दो-दो भेद 'उतरी धैवत' 'चढ़ी धैवत' और निषाद के दो भेद 'उतरी निखाद' 'चढ़ी निखाद' हैं। सामान्य बोलचाल की भाषा में 'ष' का 'ख' उच्चारण होता है, अतः श्रुतियों के कम-वेशी होने की संज्ञा भी चढ़ी-उतरी रही। ऋषभ की रिखब, षड़ज को खरज कहा गया है।

दक्षिण में भी यही परम्परा रही तथा स-प के अतिरिक्त अन्य स्वरों को वे 'चिन्न' और 'पेरिया' कहते थे। 'चन्न' का अर्थ है 'छोटा' तथा 'पेरिया' का अर्थ है 'बड़ा'।

कड़ी—स्वर के इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग भारत के पूर्वी क्षेत्र में किया जाता है। इसके जोड़ का शब्द है 'कोमल' जैसे उत्तर भारत में चढ़ी-उत्तरी शब्द का प्रचार रहा उसी प्रकार पूर्व भारत में 'कड़ी-कोमल' शब्द का प्रयोग आज भी है। मध्यम के साथ 'कड़ी' शब्द का व्यवहार होता है यानी रि-ग-ध-नि के कोमल रूप तथा म की 'कड़ी' रूप माना जाता है। तब मध्यम अपनी श्रुति को त्याग कर पंचम की दो श्रुति ले लेता है तो उस समय उसे 'कड़ी मध्यम' कहते हैं।

बेसुरा—स्वर के जो निश्चत स्थान हैं, वहां से ऊँची या नीची ध्वनि के प्रयोग को 'बेसुरा' कहते हैं। 'स्वर' में न होना ही 'विस्वर' है। लोक भाषा में इसे 'वेसुरा' कहते हैं। काल के अनुसार स्वरों के निश्चित स्थान में भी परिवर्तन आते रहते हैं। इसीलिए किसी देश या काल का शुद्ध-स्वर अन्य देश या काल में विस्वर (वेसुरा) लग सकते हैं। अर्थात देश भेद से स्वर-भेद भी होते हैं। (1) स्वर प्रयोग के ढंग या शैली से भी एक ही स्वर कभी-कभी वेसुरा लग सकता है। जैसे हिन्दुस्तानी-पद्धति के स्वरों को कर्णाटक पद्धति में बेसुरा कहा जाता है (2) क्योंकि संगीत रत्नाकार वर्णित स्वरों का तदनुरूप प्रयोग नहीं होता है यद्यपि संज्ञाएं वैसी ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बतायी गई हैं। इसके विपरीत धारणा 'हिन्दुस्तानी-संगीतज्ञ' की है। (3) पाश्चात्य equal Tempered Scale हमारे कानों के लिए पीड़ादायक है। क्योंकि इन स्वरों को सुनने के हम अभ्यस्त नहीं हैं। (4) राग का स्वभाव और व्यक्तित्व स्वर के खास लगाव पर निर्भर है। मारवा का ऋषभ और पूरिया के ऋषभ में अन्तर है। इसी तरह दरबारी का गांधार और भीमपलासी के गांधार में भेद है। एक निश्चित स्वर का उपयोग दूसरे में करने से राग और स्वर भ्रष्ट वेसुरा हो जाता है। अतः स्वर के वेसुरेपन का बोध होना संस्कार, निरन्तर सुनाई पड़ना, स्वर प्रयोग, स्वर-स्थान के निश्चित विन्दु का ज्ञान और स्वर प्रयोग की रीति आदि तत्वों पर निर्भर है।

जिस (i) संस्कार में व्यक्ति पला होता है, वहीं के संगीत का स्वर उसे पहचान में आ सकता है, क्योंकि वह (ii) निरंतर उसी को सुनता है, स्वयं वह जब (iii) स्वरों का प्रयोग करे तो स्वरों का सही स्थान पा सकता है क्योंकि संस्कार व स्वर प्रयोग के कारण (iv) स्वर के निश्चित स्थान-विन्दु का ज्ञान उसे हो सकता है तथा (v) स्वर प्रयोग की रीति के अभ्यास के कारण स्वर के सूक्ष्मरूप का भी ज्ञान हो सकता है, फिर व्यक्ति तुरन्त बेसुरेपन को पकड़ सकता है। अंतिम तत्व के आधार पर सामान्य दृष्टि से थोड़े से चढ़े-उतरे स्वरों का प्रयोग भी गमक आदि के द्वारा किया जाता है, किन्तु स्वरों पर ठहराव न होने के कारण ये वेसुरे नहीं लगते। अतः यह भी मानना पड़ेगा कि राग में लगने वाले स्वर और उसके स्वभाव के आधार पर भी किसी स्वर का सुरीला और वेसुरा होना निर्भर करता है।

कनसुरा—वेसुरा तो स्वर के अशुद्ध प्रयोग को कहते हैं चाहे उस स्वर का अपनी श्रुति से ऊपर (चढ़ा) प्रयोग हो या नीचे (उतरा) किन्तु स्वर-प्रयोग की क्रिया में जब स्वर अपनी श्रुति से नीचे की ओर झुके तो इसे 'कनसुरा' कहते हैं। 'चढ़ी-उतरी' की तरह इस शब्द का प्रयोग परंपरावादी गायन-वादन में ही होता है।

खरज-लरज

खरज—यह शब्द षड़ज का अपभ्रंश है। मध्ययुगीन परम्परावादी गायक-वादक षड़ज को ही खरज कह कर पुकारते रहे। षड़ज शब्द की व्याख्या तीन विधाओं से हो सकती है।

(क) जनक स्वर रूप में (ख) कंठ-साधन तथा गान-शैली में तथा (ग) तार की मेलन विधि में।

(क) खरज या षड़ज को अन्य छः स्वरों का जनक माना गया है। साथ ही नासा, कंठ, ताल, हृदय, जिह्वा और दंत इन छः स्थानों के योग से षड़ज का उच्चारण संभव है। इसलिए इसे षड़ज कहा गया है। किन्तु इसके विपरीत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिनवगुप्त आदि का कथन है कि वाद्य में इन छः स्थानों का अभाव होने से भी षड़ज स्वर की उत्पति होती है, अतः केवल शरीर को ही षड़ज का उत्पति स्थान नहीं मानना चाहिए। वल्कि यह विचार संगत है कि षट+ज=छः (स्वरों का जन्म देने वाला) 'षड़ज' है। अर्थात् पहले इस स्वर का आधार लेकर ही अन्य छः स्वरों की प्राप्ति की जा सकती है।

हम जानते हैं कि ग्राम मूर्च्छना पद्धति में षड़ज स्वर सर्वदा स्वरित नहीं होता था, किन्तु स्वरित स्वर का प्रयोग अवश्य होता था। अर्थात् किसी भी स्वर को स्वरित मानकर मूर्च्छना की प्राप्ति की जा सकती थी। यही स्वरित भारतीय संगीत का प्राण है। स्वरित की महत्ता ने ही क्रमशः षड़ज स्वर को (आधार) स्वर के रूप में मोड़ दिया है। देशी संगीत के उद्भव और विकास में षड़ज की ही महत्ता दीखती है और अब तक विश्व के प्रायः समस्त संगीत में षड़ज की प्रधानता स्वीकृत है। भारतीय संगीत की दोनों मूर्च्छना पद्धतियों (हिन्दुस्तानी और कर्णाटक) में षड़ज ही आधार स्वर है जो अविनाशी, अविलोपी और अविभाज्य है। मान्यता है कि यही अवस्था ग्राम-मूर्च्छना पद्धति में मध्यम की थी।

ग्राम-मूर्च्छना पद्धति में दो ग्रामों में षड़ज-ग्राम को मुख्य माना गया तथा षड़ज की चार श्रुतियाँ मानी गई। मध्ययुग में उत्तर तथा दक्षिण के ग्रंथकारों भी संगीत में षड़ज ग्राम का उपयोग माना है, क्योंकि तब तक षड़ज स्थिर या स्वरित हो चुका था और गान शैली का प्रारम्भ षड़ज से ही होता था। अर्थात् गायन-वादन में षड़ज ही ग्रह, अंश, व्यास स्वर रहा। काफी खोज के बाद आधुनिक ग्रंथकारों ने विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध किया कि मूल सप्तक के रूप में षड़ज ग्रामिक प्रथम मूर्च्छना का उपयोग न मध्ययुग में किया जाता था और न आज किया जाता है। आज भी सामान्यतः यह धारणा है कि आधार स्वर षड़ज होने से हम षड़ज ग्राम का प्रयोग करते हैं और इसी धारणा को वल देने के लिए पं० भातखण्डे ने यह प्रचार किया कि बिलावल का स्वर-ग्राम (scale) ही षड़ज ग्रामिभ पहली मूर्च्छना है। इन्होंने प्रथम श्रुति पर षड़ज स्वर की स्थापना कर ऋषभ की श्रुतियों को षड़ज की श्रुतियां मानकर स-म-प की चार, रे-ध की तीन तथा ग-नि की दो श्रुतियां सिद्ध करने की चेष्टा की है। यह विचार भ्रान्त है। क्योंकि श्रुतियों के पश्चात् ही स्वर मिल सकता है, स्वर के पश्चात श्रुतियाँ नहीं। अतः आज के शुद्ध स्वर ग्राम (बिलाबलथाट) को देखते हुए षड़ज का स्थान दूसरी स्तुति पर है, न कि चौथी पर है और न पहली पर। (ख) स्वर की शुद्धि तथा मधुरता के लिए स्वर साधन किया जाता है तथा यह माना जाता है कि केवल खरज (षड़ज) की साधना करने से ही कम प्रयास से अन्य स्वरों पर भी नियंत्रण पाया जा सकता है। परम्परावादी गायक इसे 'खरज भरना' कहते हैं। यह भी माना जाता है कि व्यक्ति कितना बड़ा संगीतज्ञ है यह उसके खरज भरने से ही पता चल जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परम्परावादी गायक मन्द्र-सप्तक की स्वर-साधना को भी 'खरज साधना' कहते हैं। मन्द्र सप्तक के षड्ज को ही खरज मानते हैं तथा यह विश्वास करते हैं कि अगर 'खरज' तक कंठ की व्याप्ति हो जाती है तो आगे आसानी से अतितार षड्ज तक स्वर लिया जा सकता है। साधना के लिए सगीतज्ञों ने मन्द्र स्वरों को ही उपयुक्त माना है। अन्यथा तार साधन करने से ध्वनि फट सकती है। 'मन्द्र-साधन' या 'खरज साधन' करने से कंठ में गूंज, जवारी, गोलाई और वजनदार स्वर उत्पन्न करने की क्षमता बढ़ती है। मन्द्र साधन का अर्थ पं० भातखंडे ने सीधे-सीधे 'मन्द्र स्वरों का साधन करना' माना है।

हम यह पहले कह चुके हैं कि ग्राम-मूर्च्छना पद्धति में हर मूर्च्छना का प्रथम स्वर यानी स्वरित षड़ज नहीं होता था। इस पद्धति के लोप होने के बाद भी परम्परावादी गायक तथा विशेषकर में खरज परिवर्तन करने की क्रिया देखी जाती है। एक राग का गायन-वादन करते हुए कुछ देर के लिए षड़ज के स्थान पर अन्य किसी स्वर को 'स्वरित' मानकर एक नये स्वर ग्राम की रचना करना, जिससे श्रोता को एक नयापन तथा चमत्कार का बोध हो, स्वर प्रयोग की इस विधि को 'खरज परिवर्तन' कहते हैं। ध्यान रहे कि इसमें केवल खरज बदले जाते हैं किसी नए स्वर की वृद्धि नहीं होती। उदाहरणस्वरूप मालकौश गाते हुए थोड़ी देर के लिए कोमल गांधार को षड़ज मानकर तार गांधार तक व्याप्ति करें तो हमें दुर्गा राग की छाया आती है। केवल षड्ज बदलने से एक नए स्वर ग्राम का बोध होता है। यह प्रक्रिया भरतकालीन मूर्च्छना विधि का अवशेष मात्र कही जा सकती है।

इसके अतिरिक्त तन्त्री वाद्य पर भी मूर्च्छना का अभ्यास करवाया जाता है। हर स्वर को स्वरित मानकर नया स्वर ग्राम प्राप्त कर उसका अभ्यास किया जाता है। यह भी प्राचीन मूर्च्छना पद्धति का आभास है।

(ग) जैसा हमने ऊपर देखा षड़ज स्वर को ही लोक भाषा में 'खरज' कहा जाता था, 19 वीं शताब्दी के ग्रन्थ में भी षड़ज के स्थान पर खरज का प्रयोग हुआ है। 'कानून-ए-सितार' में सैयद सफदर हुसैन खां देहलवी ने सितार के तारों को मिलाने की विधि बतलाते हुए दूसरे तथा तीसरे तार को खरज (मन्द्र षड़ज) नाम दिया है तथा इसी स्वर में मिलाने को कहा है। इन दो तारों का दूसरा नाम 'जोड़ी के तार' हैं और अब तक इसी नाम से जाना जाता है। वैसे दो के स्थान पर आज-कल जोड़ी का एक ही तार होता है जो मन्द्र षड़ज में मिलाया जाता है।

प्रचलित प्रथा में तंत्री वाद्यों में सितार आदि में अनुमन्द्र पंचम् के पश्चात् तथा तानपुरे में जोड़ी के पश्चात् पीतल या तांबे का जो चौथा तार होता है, उसे 'खरज' का तार कहते हैं। किसी भी तन्त्री वाद्य में अनुमन्द्र षड़ज को ही आजकल 'खरज' कहने की प्रथा है।

लरज—सितार वादकों में पीतल के 'अनुमद्र षड़ज' के तार को लरज' कहने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की प्रथा 19वीं शताब्दी में रही। इस नाम के कई मतभेद पाये जाते हैं :—

1. जिस सितार में दो जोड़ी के पश्चात् दो पंचम का तार लगा होता है, उनमें से दूसरा जो अनुमन्द्र पंचम में मिला होता है, 'संगीत विशारद' में उसे 'लर्ज का तार' कहा गया है।

2. जोड़ी के तार के पश्चात् लोहे के अनुमन्द्र के पंचम के तार को 'लरज तथा पीतल के अनुमद्र षड़ज के तार को 'खरज' कहते हैं।

3. डॉ० लालमणि मिश्र के अनुसार जोड़ी के तार (जो आजकल एक ही होता है) को 'खरज का तार' कहा जाता है। तीसरा तार अनुमन्द्र पंचम का तथा चौथा तार अनुमन्द्र षड़ज का होता है, इस षड्ज को ही 'लरज का तार' कहते हैं।

4. डॉ. पराञ्जपे के अनुसार वीन या रुद्रवीणा में जो चार मुख्य तार हैं, उनके नाम हैं :—नायकी, खरज, पंचम तथा लरज इनके मिलाने की व्यवस्था क्रमशः मन्द्र म, मन्द्र स, मन्द्र प तथा मन्द्र ग बतायी है। वीणा की यह मेलन व्यवस्था अशुद्ध है। रूद्रवीणा की मेलन विधि क्रमशः मन्द्र म, मन्द्र स, अनुमन्द्र प तथा अनुमन्द्र स है जो मध्ययुग से चली आ रही है। न मन्द्र म व स के बाद मन्द्र प व ग में वीणा मिली होती है, और न ही 'मन्द्र ग' को लरज का तार कहने की परम्परा है।

कण्ठ, वीणा तथा अन्य वाद्यों में 'खरज' शब्द का प्रयोग प्रचलित है, किन्तु 'लरज' का प्रयोग वीणा-सितार में ही होता है।

टीप

तार सप्तक को 'टीप' के नाम से जाना जाता है। 'संगीत रत्नाकर' के वाद्याध्याय में वंश (बाँसुरी) वादन की विधि बतलाते हुए यह कहा गया है कि वंशी में फूंक देने के छिद्र के पास एक और छिद्र होता है, यहीं से तार सप्तक के स्वरों का वादन किया जाता है। इस छिद्र की सहायता से वादन करने की विधि को 'टीपा' कहते हैं।

चतुर्दण्डी प्रकाशिका में भी 'टीपी' शब्द का उल्लेख है। वीणा की तीन पार्श्व-तन्त्रियों में प्रथम तन्त्री को, जो तार षड़ज में मिली होती है 'टीपि' कहते हैं।

उपर्युक्त दोनों उल्लेखों से स्पष्ट है कि 13वीं शताब्दी के पहले से टीपा, टीपि या टीप शब्द का व्यवहार तार सप्तक के स्वरों के लिए किया जाता था। शार्ङ्गदेव ने तार सप्तक के सभी स्वरों के लिए 'टीपि' का उल्लेख किया, बाद में थोड़ा संकुचित होकर टीपि शब्द केवल तार सप्तक के षड़ज तक ही सीमित रह गया।

वर्तमान हिन्दुस्तानी पद्धति में कण्ठ या वाद्य के तार षड़ज को 'टीप का स्वर' या टीप लगाना' कहते हैं। कर्णाटक पद्धति में भी 'टीपि' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में होता है। साथ ही वीणा की पार्श्वतन्त्री (चिकारी) जो तार षड़ज में मिलायी जाती है, 'टीपि' का तार कहने की प्रथा है।

एक और ध्यान देने की वात है कि तार सप्तक के षड़ज स्वर के साथ-साथ उसके प्रयोग की रीति को भी आज टीप' कहते हैं। जहाँ गान वादन करते समय उत्तरांग के स्वरों को लेते हुए तार षड़ज को छुने की आकांक्षा उत्पन्न करने के पश्चात् उसके ठीक 'श्रुतिविन्दु' पर ठहरते हैं, तो उसे 'टीप का स्वर लगाना' कहते हैं। अर्थात् तार षड़ज के साथ-साथ षड़ज लगाने की विशेष रीति भी 'टीप' है।

पूर्वांग-उत्तरांग—सिद्धान्ततः संगीत में सात स्वर होते हैं। परन्तु प्रयोग करते समय मध्य 'स' से दुगुना ऊंचा तार 'स' तक जाना ही पड़ता है। तभी सप्तक को विश्रान्ति मिलती है। प्रयोग में 'अष्टक' की कल्पना मध्ययुगीन या आधुनिक नहीं है, अथवा इसे यूनान (ग्रीस) या फारस की संगीत पद्धति से भी उधार नहीं लिया गया है। यह प्रयोग पूर्णतः भारतीय परम्परायुक्त तथा प्रयोगसिद्ध है। नान्यदेव (९वीं शताब्दी) ने अपने 'भरतभाष्यम्' में प्रयोग करते समय अष्टक तक जाने का उल्लेख किया है। वृहद्देशी (मतंग—7वीं शताब्दी) में भी इस ओर संकेत है। अभिनवगुप्त (10वीं सदी) ने अष्टक तक प्रयोग करने की विधि का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया। नाट्यशास्त्र में अलंकारों के निरूपण में अष्टक तक जाने की व्यवस्था बतायी गई है जो प्रयोग विधि का द्योतक है।

नान्यदेव ने दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं को अपने-अपने आठवें स्वर तक व्याप्ति होने का उदाहरण दिया है। जैसे षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाएं (मध्य) स से (तार) स तक, नि से नि तक इत्यादि। अर्थात् मूर्च्छना का जो आरम्भक स्वर है, उससे दुगुना ऊंचा वही स्वर उसका अन्तिम स्वर भी है।

स्वरों के पूर्वांग-उत्तरांग रूप का स्पष्ट उल्लेख 'अभिनवभारती' में है। अभिनवगुप्त के अनुसार स-रि-ग-म का उर्ध्व स्पर्श प-ध-नि-सं में होता है प्रयोग में अष्टक का ग्रहण अव्यभिचारी (नियमयुक्त) है।

आधुनिक युग में रागों के समय चक्र बनाने के लिए हिन्दुस्तानी संगीत में पूर्वांग-उत्तरांग स्वरों का काफी महत्त्व है। सप्तक या अष्टक को दो भागों में विभाजित कर प्रथम भाग को 'पूर्वांग' और द्वितीय भाग को 'उत्तरांग' कहा गया है। पूर्वांग में स-रि-ग-म तथा उत्तरांग में प-ध-नि-सं माना गया तथा रागों में लगने वाले वादी-संवादी स्वरों का निरूपण भी इसी आधार पर किया गया। रागों के समय सिद्धान्त में वादी-संवादी स्वरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अतः स्वरों के आधार पर इन रागों का नाम भी पूर्वांगवादी और उत्तरांगवादी राग पड़ा। प्रायः सभी रागों के साथ ऐसा नियम लागू किया गया, हालांकि कई ऐसे राग हैं जो इन नियमों से बाहर हैं—जैसे, कामोद, भैरवी आदि। अतः पूर्व-उत्तर की सीमा को थोड़ा बढ़ाकर स-रे ग-म-प तथा म-प-ग-नि-सं किया गया जिससे अपवाद कम बने। यद्यपि इससे समस्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुलझी नहीं, क्योंकि मध्यम और पंचम वादी वाले रागों का समय निर्धारण करना सम्भव न हो सका। किन्तु यह मान लिया जाता है कि जैसे वादी स्वर के आधार पर राग का चरित्र काफी सीमा तक निर्भर करता है, तद्नुसार ही राग का समय निर्धारण करने से राग का प्रभाव स्पष्ट हो सकता है।

दिन-रात को दो भागों में विभाजित कर दिन के 12 बजे से रात के 12 बजे तक पूर्वांग तथा रात के 12 बजे से दिन के 12 बजे तक उत्तरांग माना गया। ऐसे समय पर गान-वादन करने वाले रागों के वादी स्वर भी सामान्यतः इसी प्रकार से नियमित होते हैं। अर्थात् दिन के 12 बजे से रात के 12 बजे तक के रागों का वादी स्वर सप्तक के पूर्वांग का कोई स्वर होता है, और रात के 12 बजे से दिन के 12 बजे के बीच के रागों का वादी स्वर, सप्तक के उत्तरांग में से होता है।

अध्वदर्शक स्वर

भारतीय संगीत में किसी न किसी रूप में मध्यम स्वर की प्रधानता स्वीकार की गयी है। ग्राम-मूर्च्छना पद्धति में मध्यम स्वर का लोप, विनाश तथा विभाजन नहीं माना गया है। यह अवस्था भारतीय संगीत में अब षड़ज की है। परन्तु षड़ज की मुख्यता के बावजूद मध्यम स्वर का महत्त्व कम नहीं हुआ है। राग के समय-चक्र में भी मध्यम की महत्ता स्वीकृत है। जैसे पूर्वांग-उत्तरांग वादी स्वरों को देखकर रागों के दिन-रात का समय निश्चित किया जाता है, उसी प्रकार सन्धि प्रकाशक रागों में से प्रातःकालीन और सायंकालीन रागों को नियमित करने में मध्यम स्वर का बहुत बड़ा हाथ है।

24 घण्टे में दो बार संध्याकाल आता है। और दिन की समाप्ति और रात के प्रारम्भ होने के बीच तथा रात की समाप्ति और दिन के आरम्भ होने के बीच होता है। काल की इस अवस्था को सन्धिकाल और इस बीच गाए जाने वाले रागों को 'सन्धिप्रकाशक राग' कहा जाता है। इस समय के रागों में शुद्ध, तीव्र तथा दोनों मध्यम का विशेष प्रयोग होता है। प्रयोग वैशिष्ट्य को देखते हुए तीव्र मध्यम लगने वाले रागों को सायंकालीन सन्धि प्रकाशक तथा शुद्ध मध्यम लगने वाले रागों को प्रातः-कालीन संधि प्रकाशक रागों की श्रेणी में रखा गया। जैसे मारवा, मुलतानी, पुरिया धनाश्री, श्री आदि रागों में तीव्र मध्यम का प्रयोग होने से गान-वादन का समय सायं-कालीन सन्धि प्रकाशक में माना गया। उसी प्रकार भैरव, कालिगंड़ा, जोगिया आदि शुद्ध मध्यम युक्त रागों को प्रातर्गेय माना गया।

कुछ ऐसे सन्धि प्रकाशक राग अपवाद रूप में भी आते हैं जिनमें दोनों मध्यम का प्रयोग है, और जो दोनों सन्धियों में गाये जाते हैं। ऐसी अवस्था में समय निर्धा-रण से पूर्व यह देखा गया कि उन रागों में मध्यम के किस अवस्था की प्रधानता है। उदाहरणतः ललित, पूर्वी, रामकली इत्यादि, इनमें दोनों मध्यम का प्रयोग है। किन्तु पूर्वी में तीव्र मध्यम की प्रबलता होने से यह सायंकालीन रागों में माना गया। इसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विपरीत ललित व रामकली में शुद्ध मध्यम का प्रयोग अधिक है, अतः इनको प्रातः-कालीन सन्धि प्रकाशक रागों की श्रेणी में रखा गया।

अनेक विचारकों के अनुसार केवल मध्यम से रागों का समय स्पष्ट हो जाता है। जैसे तीव्र मध्यम वाले राग पूर्वांग तथा शुद्ध मध्यम वाले राग उत्तरांग होंगे। परन्तु रागों के गम्भीर अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यम के उपयोग के इस नियम को हम समय-चक्र के अन्य नियमों में से 'एक' मान सकते हैं, मुख्य नियम नहीं। क्योंकि आधे से ज्यादा ऐसे पूर्वांगवादी राग हैं जिनमें शुद्ध मध्यम का प्रयोग है। उदाहरणतः भीमपलासी, देश, खमाज, वागेश्री, मालकौंश, कान्हड़ा तथा इन अंगों के प्रायः सभी राग। यही अवस्था उत्तरांगवादी रागों की है, जैसे तोड़ी-राग तथा उनके कुछ प्रकार।

अतः अध्वदर्शक स्वर के रूप में मध्यम का महत्त्व सन्धि प्रकाशक रागों का समय निश्चित करने में ही मानना चाहिए। इन रागों में मध्यम के दो रूपों में से एक की प्रवलता को देखने से यह निश्चित रूप से तय किया जा सकता है कि किस राग को प्रातः कालीन तथा किस राग को सायंकालीन सन्धि प्रकाशक रागों की श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है।

'गान'

गान शब्द का एक परम्परागत इतिहास है। किसी भी गीत विशेष को गान कहा जा सकता है। इस अर्थ में साम और गान्धर्व भी 'गान' के अन्तर्गत आते हैं। वैदिक परम्परा से गान के दो रूप माने गए—सामिक और लौकिक। यज्ञों में स्वर-बद्ध ऋचाओं का गान सामिक और इनसे वाहर गाई जाने वाली पद्धति को लौकिक (गान्धर्व) कहा गया। भरत ने इसी लौकिक को 'गान्धर्व' कहा है। भरत के समय गान्धर्व के अतिरिक्त ध्रुवागान का प्रचलन था, जिसका उपयोग मुख्यतः लोकविनोद को ध्यान में रखकर किया जाता था। अतः जातियों के अन्तर्गत आने वाले गीतादि जिनका मुख्य उद्देश्य देवपरितोप तथा मोक्षप्राप्ति करना था, 'गान्धर्व', और जिसमें लोकरंजन का पुट अधिक था, ग्रामरागादि के उन ध्रुवा (छन्द विशेष) शैली को 'गान' की संज्ञा दी गई। दोनों के मूल तत्व 'स्वर-ताल-पद' थे। अन्तर केवल प्रयोजन भेद का था। गान्धर्व स्वरप्रधान था, गान पद-ताल प्रधान। भरतोत्तर काल में मतंग ने 'मार्ग-देशी' शब्द का व्यवहार किया है। इस समय गान्धर्व का स्थान मार्ग ने ले लिया तथा मार्ग की सीमा और अधिक विस्तृत हुई। अतः जाति, ग्राम राग, भाषादि को 'मार्ग' के अन्तर्गत तथा देशी राग-रागादि को 'देशी' के अन्तर्गत रखा गया। अतः यह स्पष्ट है कि भरत या भरतोत्तर काल में जिस गान का प्रयोजन केवल मनोरंजन या मतंग काल तक तदपेक्षा नवीन रूप को देशी या लोक की संज्ञा मिली और गान को मार्ग में समेट लिया गया शार्ङ्गदेव ने गान्धर्व और मार्ग को तथा गान और देशी को समानार्थक माना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'गान' के स्वर और शैली के नवीन विकास और विचित्र परिवर्तन में कुछ अंश तक वीणाएं भी उत्तरदायी रही हैं और उनमें भी सारिकायुक्त वीणाओं का प्रमुख हाथ रहा है। शार्ङ्गदेव ने देशी किन्नरियों पर देशी रागों का वर्णन किया है किन्तु मार्ग किन्नरियों पर मार्ग रागों का कोई विधान नहीं दिया।

संगीत के अतिरिक्त शैली विशेष को भी 'गान' की संज्ञा दी गई। ये निबद्ध तथा अनिबद्ध के नाम से जाने जाते हैं। डा० पराञ्जपे ने बृहद्देशी के श्लोकों की व्याख्या इस तरह की है —

"निबद्ध देशी, जो आलापादि नियमों से नियन्त्रित रहता है तथा अनिबद्ध देशी वह है जिसमें गान, नियमों से नियन्त्रित न होकर स्वच्छन्द रूप से किया जाता है।··· इनमें से प्रथम को शास्त्रीय अर्थात 'क्लासिकल' कहा जाता है तथा दूसरा विशुद्ध सरल संगीत अर्थात लाईट म्यूजिक के नाम से व्यवहृत होता है जो सदैव कामचार प्रवर्तित हुआ करता है।

उपर्युक्त विचार का सार यह निकलता है कि निबद्ध का अर्थ नियमबद्ध और अनिबद्ध का 'अनियन्त्रित' है। किन्तु यह व्याख्या भ्रमात्मक है। निबद्ध शब्द का अर्थ है बंधा हुआ (Composed), अर्थात, जो गीत स्वर-ताल-पद से बांधा गया है। दूसरी व्याख्या होगी मातु (शब्द), धातु (स्वर), पद के अवयव या अंग (उग्रदाह, मेलापक, ध्रुव, अन्तरा, आभोग) और ताल सहित गान-क्रिया हो, वह 'निबद्ध' कहलाता है। इसमें प्रमुखता बन्दिश और ताल को दी जाती है। वर्तमान में निबद्ध गान के अन्तर्गत ध्रुपद, धमार, ख्याल आदि सभी शास्त्रीय तथा, भजन, गीत आदि सभी भाव संगीत का समावेश किया जा सकता है।

अनिबद्ध गान वह है जिसमें स्वर नियम तो हो, किन्तु पद और ताल का अभाव हो। वर्तमान शास्त्रीय संगीत में विभिन्न प्रकार के आलाप और तान जो ताल में बंधे न हों, वे 'अनिबद्ध' गान कहे जा सकते हैं। भाव संगीत में वे गान भी इस विभाग के अन्तर्गत आ सकते हैं जो तालबद्ध नहीं होते।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निबद्ध का अर्थ 'शास्त्रीय' तथा अनिबद्ध का अर्थ 'भाव संगीत' नहीं है। किसी भी संगीत में चाहे वह शास्त्रीय हो या लौकिक, अनिबद्ध और निबद्ध गान संभव है और उनका उपयोग किया जाता है।

गायक

गान क्रिया करने वाला गायक है। शार्ङ्गदेव ने गायक या गाता के स्थान पर 'गायन' शब्द का उपयोग किया है। 'गीयते अनेन इति गायनः' 'गान' शब्द में प्रत्यय लगा कर 'गायन' बना है। इसका स्त्रीवाची शब्द है गायनी', जैसे गायक का स्त्रीवाची शब्द है 'गायिका' और गायक द्वारा प्रदर्शित कला की संज्ञा है 'गायकी'।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गायक या गायन के जो लक्षण भरत से शार्ङ्गदेव ने दिए, वर्तमान में उन्हें ही माना जाता है। विशेषकर आधुनिक ग्रंथों में 'संगीत रत्नाकर' में दिए गए वर्णन का ही पुनरुल्लेख किया जाता है। उपर्युक्त ग्रंथकारों ने गायक के हर सम्भव गुण-दोषों का विवेचन किया है। भरत ने गायक के दस और शार्ङ्गदेव ने बाईस गुण तथा पच्चीस दोष बताए हैं।

तीन श्रेणी के गायक माने गए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। सम्प्रदाय (परम्परा) युक्त तथा समस्त गुणों का जिनमें समावेश है, वे उत्तम; कतिपय गुणों का लोप या अभाव होने से मध्यम तथा केवल दोषयुक्त होने से अधम श्रेणी के गायक माने जाते हैं।

शार्ङ्गदेव ने गायक का गायन के पांच लक्षण भी बताए हैं—शिक्षाकार, अनुकार, रसिक, रंजक तथा भावुक।

I. शिक्षाकार—छोटे से छोटे विषय को भी समझाने में तथा कठिन से कठिन विषय को सुबोध बनाने में जो दक्ष हो वह शिक्षाकार है।

II. अनुकार--दूसरों के गाने की मुद्राओं की नकल करना या चेष्टा से उनके गीत वैशिष्ट्य को दक्षता और सम्यक् रूप से निकालना अनुकार या कूटकार का लक्षण है।

III. रसिक—स्वयं के प्रयुक्त स्निग्ध स्वरों के लगाव से जो आविष्ट होता है वह रसिक है। यानी गाते समय जो पुलकित हो उठे और आनन्द से जिनके अश्रु स्वयं बाहर निकल आएं वह रसिक है। आज 'रसिक' शब्द गायक और श्रोता दोनों के लिए प्रयोज्य है।

IV. रंजक—श्रोता के हृदय के भाव को जानते हुए तदनुसार गान करना, जिससे श्रोता भी रम जाएं, रंजक की विशेषता है।

V. भावक—गीत का अतिशय 'आधान' (concentration) जो करे वह भावक है। नीरस तथा भावहीन वस्तु को भी सरस और भावपूर्ण ढंग से प्रयोग करना भावक का वैशिष्ट्य है।

गायक तीन प्रकार का हो सकता है—

1. एकल—जो अकेला गाता है वह एकल (Solo) गायक है। नाट्य और नाट्य से बाहर दोनों स्थानों में एकल गायक हो सकता है।

2. यमल—दो व्यक्ति एक साथ गाएं तो यमल है। इस शब्द का वर्तमान रूप 'बन्धु' है। जैसे डागुर बन्धु, मिश्र बन्धु, किचलु बन्धु इत्यादि।

3. वृन्द—यह शब्द समूहवाची है। परिवार के साथ यानी अनेक व्यक्ति मिलकर गाएं तो वृन्द कहलाता है। भरत ने वृन्द को 'कुतप' की संज्ञा दी है। आधुनिक काल में इन तीनों प्रकार के गायक मिलते हैं।

पार्श्वदेव ने 'संगीत समयसार' में कुछ और विशेष गायकों का उल्लेख

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किया है। गान शैली के एक-एक क्षेत्र में निपुण होने से उन गायकों को उन्होंने अलग-अलग वर्गों में बांटा है। यह हैं—आलप्ति, रूपक, चौपट, विताल निबन्ध तथा मिश्र।

शार्ङ्गदेव ने जैसे गायक के पांच लक्षण बताए हैं, मध्ययुग में भी गायक के कुछ अलग-अलग लक्षण रहे। पंडित भातखण्डे ने चार प्रकार के संगीत व्यवसायी माने हैं। गायक के मुख्य लक्षण ग्रंथों में ऐसा मिलता है।

1. **वाग्गेयकार**—वाक् (मातु) तथा गेय (धातु) की रचना में जो समान रूप से निपुण हो, वह 'वाग्गेयकार' कहलाता है। पाश्चात्य में इसे (Composer) कहते हैं। 'संगीत रत्नाकर' में इनकी स्वतन्त्र श्रेणी निर्दिष्ट की गई और उत्तम, मध्यम तथा अधम वाग्गेयकर का वर्णन किया गया है। पं० भातखण्डे ने इसे 'गीतकार' या 'नायक' माना है। परन्तु नायक का लक्षण अन्य सभी ने अलग माना है। यह भी आवश्यक नहीं कि गीतकार, संगीतज्ञ भी हो। अतः वाग्गेयकार का पर्याय गीतकार या नायक नहीं मानना चाहिए।

2. **पंडित**—जो संगीत के प्रयोग पक्ष का 'सामान्य ज्ञान' रखता हो किन्तु गान शास्त्र का 'प्रगाढ़ ज्ञान' रखता हो, वह पंडित कहलाता है। आज प्रायः सभी मुसलमान गायक अपने नाम के आगे 'उस्ताद' तथा हिन्दू गायक 'पंडित' लगाते हैं। ऐसा सुना जाता है कि कभी व्यंग्य से ऐसे गायकों को पंडित और उस्ताद कहा गया, जो अच्छा कलाकार नहीं था पर धीरे-धीरे यह परम्परा बन गई और आज इसे उपाधि के समान माना जाता है।

3. **गायक**—गुरू परम्परा से प्राप्त शिक्षा को जो स्वबुद्धि और कल्पना द्वारा अलंकृत करते हुए प्रदर्शित करता है वह गायक है तथा उसकी गान क्रिया को 'गायकी' कहते हैं।

4. **नायक**—गुरू-परम्परा से मिली मिली शिक्षा को तदनुरूप गाने वाला 'नायक' कहलाता है तथा उसकी कला को 'नायकी' कहते हैं। 'संगीत विशारद' में प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के संगीत के ज्ञाता को 'नायक' कहा गया है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि नायक प्राचीन संगीत का भी ज्ञाता हो।

5. **कलावन्त**—पं० भातखण्डे ने इन्हें कलाकार भी कहा है। किन्तु वास्तव में मध्ययुग में ध्रुपद गाने वाले को ही 'कलावन्त' कहा जाता था। कलावन्त को 'कलाकार' मानने पर यह व्याख्या कर सकते हैं—"संगीत के प्रायोगिक पक्ष की सिद्धि जिसने पाई हो प्रत्याहिक अभ्यास से कण्ठ की तैयारी करना कलावन्त का उद्देश्य होता है। गान शैली में पूर्णांग ज्ञान हो और जो श्रोताओं का मनोरंजन करने में समर्थ हो वह कलावन्त या कलाकार है।

6. **संगीत शिक्षक**—भले ही सभाओं में गान करने की क्षमता न हो, किन्तु शिक्षा देते समय जिसमें सस्वर तथा ताल सहित गान करने की क्षमता हो वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'संगीत शिक्षक' कहलाता है। शिक्षक को विद्यार्थी के कंठ का गुण धर्म, ग्रहण शक्ति तथा अभिरुचि का ज्ञान होना और तदनुरूप शिक्षा देने में समर्थ होना आवश्यक है।

7. शास्त्रकार—शास्त्रकार वह है जो संगीत के शास्त्र पक्ष का ज्ञाता हो। संगीत का इतिहास, इसका प्राचीन और अर्वाचीन रूप, गीत-वादन-नृत्य तीनों क्षेत्रों के विकास क्रम का इतिहास, इनके विकास के लिए वांछित उपाय आदि विषयों पर अपना सुचिन्तित विचार प्रकट करे तथा प्राचीन ग्रन्थों का पुन: संकलन करे; नवीन समस्याओं का हल ढूंढे, शास्त्रकारों का यही कार्य है।

8. कव्वाल—गजल, दादरा, कव्वाली जैसी गीत शैली का प्रयोक्ता कव्वाल कहलाता है।

9. अताई—जो व्यक्ति किसी गुरू के पास नहीं सीखते तथा जहाँ से भी प्राप्त हो, संगीत की केवल नकल करते हैं अर्थात क्रिया पक्ष की शिक्षा जिसे उचित रूप से प्राप्त नहीं होती, वह अताई गायक कहलाता है। 'अनुकार' से यह बहुत मिलता है।

10. ढाढ़ी—शुद्ध गान के साथ प्रयोजन के अनुसार शास्त्र पक्ष का भी जो ज्ञान रखता हो, वह 'ढाढ़ी' गायक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. नाट्यशास्त्र—28-29 अध्याय, अभिनव भारती टीका सहित।
2. संगीत रत्नाकर—1, 2, 3, 6 भाग।
3. संगीत चिन्तामणि।
4. भातखण्डे संगीत शास्त्र ।
5. संगीताञ्जलि—भाग 1-4 ।
6. संगीत शास्त्र।
7. प्रणव भारती।
8. ध्वनि और संगीत।
9. बृहद्देशी ।
10. संगीत विशारद।
11. भारतीय संगीत वाद्य।
12. संगीत बोध।
13. चतुर्दण्डी प्रकाशिका।
14. स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2

शार्ङ्गदेव के अलंकार

'संगीत-रत्नाकर' के प्रथम स्वरगताध्याय के षष्ठ वर्णालंकार-प्रकरण में शार्ङ्गदेव ने प्रचलित सभी अलंकारों का स्वरलिपि के साथ वर्णन किया है। मतंग की 'बृहद्देशी' में ही सर्वप्रथम अलंकारों को स्वरलिपि के साथ लिखा गया है। भरत ने गमक तथा अलंकार का अलग से विभाजन नहीं किया है। अलंकारों का वर्णन करते समय उन्होंने कंप की चर्चा भी की है, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि उन्होंने गमक को भी अलंकार के अंतर्भूत कर लिया है। उनके समय में अलंकार इतने व्यापक अर्थ में प्रयोग होता था कि उसी में गमक का समावेश हो गया था। मतंग ने अपने ग्रन्थ में भरत के प्रायः सभी अलंकारों को स्वरलिपिबद्ध किया है तथा उनमें थोड़ा परिमार्जन किया है। पार्श्वदेव ने गमक और अलंकार में भेद किया है। परंतु प्राप्त प्रमाणानुसार, शार्ङ्गदेव ने ही विस्तार से गमक के नाम गिनाए हैं एवं अलंकार के अर्थ को संकुचित कर उसकी विस्तृत व्याख्या की है।

अलंकार के लिए भरत ने 'विशिष्ट स्वर समुदाय का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि गीत-योजक के द्वारा चार प्रकार का वर्ण जाना गया है। उन वर्णों के समाश्रित सम्यक् स्वर-प्रयोग को अलंकार कहा गया है। शार्ङ्गदेव ने 'विशिष्ट वर्णों के संदर्भ' को 'अलंकार' कहा है। अर्थात् नियत कला आदि से युक्त जो स्वर समुदाय वर्ण-विशेष में संचरण करे, वह अलंकार है।

सिंहभूपाल की टीका के अनुसार 'भरतादि ने विशिष्ट वर्ण-समुदाय को अलंकार कहा है'। कल्लिनाथ ने भरत के अलंकार-संबंधी वचन का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लता विपुष्पेव।
अविभूषितेव कांता गीतिरलंकारहीना स्यात्॥

सिंहभूपाल ने मतंग के दिए लक्षण को भी उद्धृत किया है :—

अलंकार शब्देन मंडनमुच्यते। यथा कटक-
केयूरादिनाऽलंकारेण नारी पुरुषो वा मंडित
शोभाया व हेत्तथैगैरलंकारैः प्रसन्नादिभिरलंकृता
वर्णात्तया गीतिगातृच्छ्रोतृणा सुखावहा भवनीति।

संक्षेप में वर्णों के आश्रित अलंकार गीत, गायक एवं श्रोता को सुख देने में समर्थ हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शार्ङ्गदेव ने अलंकार का प्रयोजन गान में रंजकता बढ़ाने के लिए, स्वरों की स्थिति के ज्ञान के लिए एवं वर्णों के विभिन्न अंगों की विचित्रता को समझने के लिए बताया है। ये अलंकार अनंत हैं, पर शास्त्र-रचना के लिए प्रधान एवं प्रचलित अलंकारों का ही वर्णन किया जा रहा है। वर्णगत अलंकारों के चार भेद हैं—स्थायी वर्ण अलंकार, आरोही वर्ण अलंकार, अवरोही वर्ण अलंकार तथा संचारी वर्ण अलंकार।

स्थायी वर्ण अलंकार

स्थायी वर्ण अलंकार के आदि तथा अंत के स्वर एक ही होते हैं। इसमें स्वर के लिए दो संज्ञाएँ रखी गई हैं—मंद्र व तार। यहाँ मंद्र तथा तार का अर्थ संगीत में में प्रचलित वर्तमान अर्थ की तरह नहीं है। अलंकार-प्रकरण की उपयोगी परिभाषा शार्ङ्गदेव ने 'मूर्च्छना के प्रथम स्वर' के अनुसार ली है। अर्थात् मूर्च्छना का प्रथम स्वर 'मंद्र' की संज्ञा पाता है। यहां एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि मंद्र का अर्थ 'मूर्च्छना का प्रथम स्वर' होगा, परंतु मूर्च्छना का प्रथम स्वर कहते ही 'मंद्र' नहीं प्रतीत होगा। जहां मन्द्र-तार, दोनों संज्ञाएं उल्लिखित हैं, वह स्वर के स्थान या दूरत्व (Range) का बोधक है और लिपि-चिन्ह का प्रयोग भी वहीं पर होता है, अन्यथा सभी अलंकारों का प्रमाण मूर्च्छना के प्रथम स्वर से दिया गया है। मूर्च्छना के प्रथम स्वर के द्विगुण स्वर के लिए 'तार' संज्ञा है। यदि मूर्च्छना का प्रथम स्वर मन्द्र-स्थान में स्थित है, तो वह स्वर 'मन्द्र' कहा जाएगा उससे द्विगुण मध्य-स्थान में स्थित स्वर 'तार' कहा जाएगा यदि मूर्च्छना का प्रथम स्वर मध्य-स्थान में स्थित है तो वह प्रथम स्वर 'मन्द्र' होगा एवं इसका द्विगुण तार-स्थान स्थित स्वर 'तार' होगा। अतः अब 'मन्द्र' एवं 'तार' की संज्ञा से आशंकित होने का कोई अवकाश नहीं रह गया है। मंद्र एवं तार शब्द के विकल्प रूप की पुनः व्याख्या है—पूर्व-स्थान में स्थित स्वर 'मन्द्र' एवं पर स्थान में स्थित स्वर 'तार' हैं, यदि मध्य-स्थान-स्थित स्वर 'पूर्व' में है तो वह स्वर 'मन्द्र' एवं तार-स्थान-स्थित स्वर 'तार' है। मन्द्र-तार के पर्याय-रूप अलंकार के अनुसार बताए गए हैं। मन्द्र का पर्याय 'प्रसन्न' एवं 'मृदु' है तथा तार का पर्याय 'दीप्त' है।

मन्द्र-तार की अन्य संज्ञा का अर्थ अन्यतर प्रकार से भी ले सकते हैं। मन्द्र-तार केवल सांगीतिक परिभाषा एवं स्वर की गति को समझाने के लिए एवं मृदु-प्रसन्न तथा दीप्त संगीत के सौंदर्यात्मक (Aesthetic) रूप की ओर ध्यान रखकर किया गया है। स्वरलिपि में इनके चिन्ह क्रमशः इस प्रकार हैं—1. 'मन्द्र' के लिए स्वर के ऊपर बिंदु, 2. 'तार' के लिए स्वर के ऊर्ध्व में खड़ी रेखा तथा 3. प्लुत के लिए स्वर के पश्चात् 3 की संख्या। शार्ङ्गदेव ने स्थायीगत अलंकार सात बताए हैं, जिनका भरत एवं मतंग ने भी उल्लेख किया है। मतंग की स्वरलिपि से शार्ङ्गदेव की स्वरलिपि भिन्न है। इनके अलंकार क्रमशः इस प्रकार वर्णित हैं :—

1. **प्रसन्नादि**—दो मन्द्र-स्वरों के पश्चात् तार-स्वर का उच्चारण प्रसन्नादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अलंकार है। 'प्रसन्नादि' संज्ञा देने का उद्देश्य संभवतः यह है कि स्वर में सौन्दर्यात्मक तत्त्व की ओर ध्यान अधिक दिया गया है। 'प्रसन्न' का आधिपत्य जिन स्वरों में है, उन्हें उसी तरह एक मन्द्र नाम दिया गया। 'दीप्तांत' संज्ञा देने का अर्थ एक मन्द्र प्रारम्भ में तथा दो दीप्त अंत में जिसके हो ऐसा होता है—परन्तु वर्णन का उद्देश्य ऐसा नहीं रहा। साथ ही चूंकि मन्द्र की परिभाषा मूर्च्छनागत प्रथम स्वर से ली गई है, अतः प्रसन्न का इन अलंकारों में आधिपत्य होना स्वाभाविक है।

उदाहरणार्थ—सँ सँ सैं।

2. प्रसन्नांत—प्रसन्नादि का विलोम अर्थात् विपरीत रूप प्रसन्नांत का है।

उदाहरणार्थ—से सं सं।

3. प्रसन्नाद्यंत—दोनों ओर प्रसन्न के स्वर हों और मध्य स्थान में दीप्त स्वर स्थित हो, वह प्रसन्न अलंकार है।

उदाहरणार्थ—सं से सं।

4. प्रसन्नमध्य—पूर्व तथा अंतिम स्वर तार का हो एवं मध्य-स्वर मन्द्र का हो तो वहां प्रसन्नमध्य अलंकार है।

उदाहरणार्थ—से सं से।

5. क्रमरेचित—मूर्च्छना का प्रथम स्वर आदि और अंत में हो तथा द्वितीय स्वर (मूर्च्छना के) मध्य में हो, इस तरह एक कला बनती है। पुनः मूर्च्छना का प्रथम स्वर आदि व अंत में हो तथा मध्य में तृतीय व चतुर्थ स्वर हों, तो द्वितीय कला होती है। पुनः मूर्च्छना का प्रथम स्वर आदि व अंत में हो एवं मध्य स्थान में पंचम, षष्ठ और सप्तम स्वर क्रमशः स्थित हों तो वह तृतीय कला है। इन तीनों कलाओं से क्रमरेचित अलंकार का निर्माण होता है। 'क्रमरेचित' का अर्थ क्रम से स्वरों का त्याग करते हुए आगे बढ़कर पुनः अपने स्वर को लौट आना है।

उदाहरणार्थ—सं रि सं सं ग म सं, सं प ध नि सं।

6. प्रस्तार—क्रमरेचित के प्रत्येक कला का अंतिम स्वर दीप्तांत होने से प्रस्तार है।

उदाहरणार्थ—सं रि से, सं ग म से, सं प ध नि से।

7. प्रसाद—प्रस्तार में उल्लिखित स्वरों के तार-मन्द्र चिन्ह को विपरीत बनाने से प्रसाद बनता है। अथवा क्रमरेचित के प्रथम-अंतिम स्वरों को तार-मन्द्र बनाने से यह निर्मित होता है।

उदाहरणार्थ—से रि सं, से ग म सं, से प ध नि सं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आरोही अलंकार

ये अलंकार बारह हैं। भरत ने आरोही अलंकार तेरह बतलाए हैं। जो स्वर समुदाय आरोहात्मक ढंग से एक स्थान में संपूर्ण रूप से प्रकाशित हो, वह आरोही अलंकार है। ये क्रमशः वर्णित हैं।

1. **विस्तीर्ण**—मूर्च्छना के प्रथम स्वर से क्रमशः विलंब हो-हो कर दीर्घ उच्चारण से आरोहण किया जाए, तो वह विस्तीर्ण अलंकार है।

उदाहरणार्थ—सा री गा मा धा नी।

उल्लेख-योग्य विषय-वस्तु यहां यह है कि मतंग अपने अलंकारों का प्रमाण देते समय एक स्थान-स्थित 'स' से दूसरे स्थान के 'स' तक का संपूर्ण उदाहरण देते हैं, जबकि शार्ङ्गदेव ने मूर्च्छना के अष्टम स्वर का केवल (संचारी अलंकार में) श्येन अलंकार के अतिरिक्त स्थायीगत तथा गीतज्ञ-वर्णित कई अलंकार-पर्यन्त और कहीं उल्लेख नहीं किया।

2. (अ) **निष्कर्ष**—ह्रस्व एवं दो-दो स्वरों का क्रम से निरन्तर उच्चारण निष्कर्ष है।

उदाहरणार्थ—स स रि रि ग ग म म प प ध ध नि नि।

2. (ब) **गात्रवर्ण**—मतांतर से निष्कर्ष का यह एक अन्य भेद कहा गया है। तीन या चार (ह्रस्व) स्वरों का उच्चारण होने से यह अलंकार निर्मित होता है।

उदाहरणार्थ—1. स स स रि रि रि ग ग ग म म म प प प ध ध ध नि नि नि।

2. स स स स रि रि रि रि ग ग ग ग म म म म प प प प ध ध ध ध नि नि नि नि।

3. **बिन्दु**—प्लुत-ह्रस्व, प्लुत-ह्रस्व, प्लुत-ह्रस्व, प्लुत स्वरों का क्रमानुसार प्रयोग करना। अर्थात् प्रथम स्वर का तीन बार उच्चारण कर द्वितीय स्वर का ह्रस्व उच्चारण हो, पुनः तृतीय तीन बार, चतुर्थ एक बार, पंचम तीन बार, षष्ठ एक बार एवं सप्तम स्वर का तीन बार उच्चारण क्रमशः आरोहात्मक हो, तो वहां बिंदु संज्ञा का अलंकार है। पं० सोमनाथ तथा पं० अहोवल ने प्लुत का कोई चिन्ह न देकर तीन बार 'स' आदि प्लुत स्वरों का उच्चारण किया है, यद्यपि अहोवल ने इस अलंकार का विस्तार किया है।

उदाहरणार्थ—स ऽ रि ग ऽ म प ऽ ध नि ऽ।

4. **अभ्युच्चय**—इसका पाठांतर अभ्युच्छय भी है। एक-एक स्वर के व्यवधान पर स्वरों का आरोहण करना अभ्युच्चय है।

उदाहरणार्थ—स ग प नि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

5. हसित—क्रमश: एक के पश्चात् अन्य स्वर की आवृत्ति हो, अर्थात् प्रथम स्वर एक बार, द्वितीय स्वर दो बार, तृतीय तीन बार, इस क्रम में वृद्धि कर आरोहण किया जाए, तो उसे शिवप्तिय (शार्ङ्गदेव) हसित अलंकार की संज्ञा से विभूषित करते हैं।

उदाहरणार्थ—स रि रि ग ग ग म म म म प प प प प ध ध ध ध ध ध नि नि नि नि नि नि नि।

6. प्रेरित—प्रथम दो स्वरों का उच्चारण कर द्वितीय स्वर को क्रमश: पूर्व-स्वर बनाकर आंदोलनपूर्वक लिया जाए, तो वह प्रेरित है। इसकी अन्य संज्ञा 'क्रम' भी है।

उदाहरणार्थ—स रि रि ग ग म म प प ध ध नि।

7. आक्षिप्त—पूर्वोक्त रीति से अर्थात् प्रेरित के समान परन्तु एकांतर स्वर युग्म को लेकर तथा पर-स्वर को पूर्व-स्वर में परिवर्तित कर क्रम से आरोह करना आक्षिप्त अलंकार है।

उदाहरणार्थ—स ग   ग प   प नि।

8. संधि प्रच्छादन—भरत ने संधि तथा प्रच्छादन अलंकार अलग-अलग बताए हैं एवं अभिनवगुप्ताचार्य ने भी इनकी भिन्न-भिन्न टीका की है। परन्तु उदाहरण न होने से यह बताना कठिन है कि भरत के समय में इनका क्या रूप था। शार्ङ्गदेव ने इसे त्रिस्वर कला माना है। प्रथम त्रिस्वर (प्रथम-द्वितीय-तृतीय) के पश्चात् अन्य दो कलाएं अपने पूर्व-स्वर से निर्मित होंगी। यह अलंकार तीन कलाओं का बना है।

उदाहरणार्थ—स रि ग   ग म प   प ध नि।

9. उद्गीत—त्रिस्वर कला से युक्त यह अलंकार है। प्रथम स्वर की तीन आवृत्तियां कर पुन: एक-एक बार द्वितीय-तृतीय स्वर को ग्रहण किया जाएगा। इस अलंकार में मूर्च्छना की केवल छः स्वरों तक ही व्याप्ति है। सप्तम स्वर पर समाप्ति नहीं है।

उदाहरणार्थ—स स स   रि ग   म म म   प ध।

10. उद्वाहित—उद्गीत के ही मध्य के स्वर की तीन बार आवृत्ति हो, तो वहां उद्वाहित अलंकार बनता है।

उदाहरणार्थ—स रि रि रि ग   म प प प ध।

11. त्रिवर्ण—अंतिम स्वर का तीन बार उच्चारण हो तथा प्रथम द्वितीय स्वर का एक ही बार उच्चारण हो, वहां त्रिवर्ण है।

उदाहरणार्थ—स रि ग ग ग   म प ध ध ध।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

12. प्रथग्वेणी—'वेणी' को ही पृथग्वेणी कहते हैं। त्रिस्वर कला की तीन-तीन बार आवृत्ति की जाए, तो यह अलंकार बनता है।

उदाहरणार्थ—स स स रि रि रि ग ग ग म म म प प प ध ध ध।

इन बारह अलंकारों को ही क्रम से अवरोहात्मक ढंग से उच्चारित किया जाए तो वह अवरोही अलंकार होता है भरत ने अवरोही अलंकार को आरोही का व्युत्क्रम नहीं बताया, वरन् अवरोही के पांच अन्य अलंकार बताए हैं। उदाहरण न होने से विषय-वस्तु अस्पष्ट-सी ही रह जाती है। यद्यपि यह अनुमान लगाना अयुक्तिमंगत नहीं होगा कि भरत के समय में ये पांच अलंकार अवरोही गति से ही प्रयुक्त होते थे तथा शार्ङ्गदेव के काल में ये व्यवहार-योग्य नहीं रह गए। अत: शार्ङ्गदेव एवं उनके परवर्ती ग्रन्थकारों ने आरोहीगत अलंकार को ही अवरोहीगत माना एवं आज तक यही स्वरूप प्रचलित है।

संचारी अलंकार

संचारी अलंकार संख्या में 25 हैं। ये उपयु`क्त त्रिविध अलंकारों का मिश्रण हैं। स्थायीवर्ण के स्वरलिपि-चिन्ह का व्यवहार इसमें न करने का अर्थ मूर्च्छना के प्रथम स्वर को प्राधान्य देना हो सकता है। स्थायी के अधिकांश अलंकारों का रूप बदल कर तथा 'प्रसन्न' के स्थान पर 'मन्द्र' संज्ञा लेकर कुछ संचारी अलंकारों का वर्णन किया गया है। उदाहरणत: मंद्रादि अलंकार में मन्द्र का अर्थ केवल मूर्च्छना के प्रथम स्वर से लिया गया। यहां दीप्त-प्रसन्न आदि सौंदर्यात्मक स्वरूप को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। इसी कारण संभवत: स्वरलिपि-चिन्ह देने प्रायोजन भी उन्हें प्रतीत नहीं हुआ। साथ ही अन्य कारण यह है कि मन्द्र-तार या दीप्त-प्रसन्न, इस युग्म रूप का प्रयोग होने पर ही स्वरलिपि-चिन्ह दिया गया है। केवल अकेले मन्द्र या प्रसन्न अथवा तार या दीप्त का उल्लेख होने पर चिन्ह देने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

भरत के वर्णित अलंकार केवल चौदह हैं, तथा स्वर लिपि नहीं है। शार्ङ्गदेव वर्णित अलंकार निम्नांकित हैं :—

1. मंद्रादि—मंद्रादि अलंकार त्रिस्वर कला द्वारा निर्मित है। प्रथम-तृतीय-द्वितीय स्वरों से युक्त प्रथम कला है एवं मंद्र से यह प्रारंभ होता है। 'मंद्र' का अर्थ 'मूर्च्छना के प्रथम स्वर' के साथ ही क्रमश: आगे का स्वर लेना, ऐसा समझना उचित होगा। एक-एक मंद्र को त्यागकर कलाएं बनती हैं। यहां 'स' के पश्चात् 'रि', 'रि' से आगे 'ग' आदि सभी संभाव्य प्रथम स्वर ही 'मंद्र' स्वर जानने चाहिए।

उदाहरणार्थ—स ग रि रि म ग ग प म म ध प प नि ध।

2. मंद्र मध्य—क्रमश: पांच कलाओं को मंद्रादि अलंकार के अनुरूप बनाकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केवल 'मंद्र' को बीच में स्थापित करने से मंद्र मध्य अलंकार बनता है। क्रम तृतीय-प्रथम-द्वितीय रहेगा।

उदाहरणार्थ—ग स रि म रि ग प ग म ध म प नि प ध।

3. मंद्रांत—इस अलंकार में मंद्र स्वर को अंतिम स्थान प्राप्त होता है। इसमें द्वितीय-तृतीय-प्रथम ऐसे स्वरों की कला प्राप्त है।

उदाहरणार्थ—रि ग स ग म रि म प ग प ध म ध नि प।

4. प्रस्तार—द्विस्वर कला में द्वितीय स्वर को त्यागकर एकांतर स्वर लिया जाए एवं त्याज्य स्वर से पुनः अन्य स्वर-युग्म का प्रारंभ किया जाए, तो वह प्रस्तार अलंकार है।

उदाहरणार्थ—स ग रि म ग प म ध प नि।

5. प्रसाद—पूर्व-स्वर अपने ऊर्ध्व स्वर के साथ पुनः अपने स्थान तक लौट आए, तो वह प्रसाद अलंकार है। अर्थात् प्रथम-द्वितीय-प्रथम, इस क्रम से आरोहण करना श्रीकरणाग्रणी (शार्ङ्गदेव) का अभिप्राय है।

उदाहरणार्थ—स रि स रि ग रि ग म ग म प म प ध प ध नि ध।

6. व्यावृत्त—यह चार स्वरों से बनी एक कला है। प्रथम-तृतीय-द्वितीय-चतुर्थ-प्रथम, इस क्रम से तथा क्रमशः अपने पूर्व स्वर को त्यागकर अन्य स्वर से अन्य कलाओं का निर्माण करना व्यावृत्त अलंकार है।

उदाहरणार्थ—स ग रि म स रि म ग प रि ग प म ध ग म ध प नि स।

7. स्खलित—मंद्रादि अलंकार की त्रिस्वर कला में चतुर्थ स्वर का दो बार प्रयोग हो एवं त्रिस्वर का अवरोहण हो, तो वह स्खलित अलंकार कहलाता है। यह कला ऐसी है—प्रथम-तृतीय-द्वितीय-चतुर्थ-चतुर्थ-द्वितीय-तृतीय-प्रथम।

उदाहरणार्थ—स ग रि म म रि ग स रि म ग प प ग म रि ग प म ध ध म प ग म ध प नि नि प ध म।

8. परिवर्तक—द्वितीय स्वर को त्याग कर प्रथम तृतीय-चतुर्थ, इन तीन स्वरों की प्रथम कला है। पुनः व्यक्त स्वर 'द्वितीय' से परिवर्तक की अन्य कला प्रारंभ होती है।

उदाहरणार्थ—स ग म रि म प ग प ध म ध नि।

9. आक्षेप—त्रिस्वर कला प्रथम-द्वितीय-तृतीय स्वरों से ग्रथित है। अपने पूर्व-स्वर का परित्याग कर क्रमशः 'ऊर्ध्व-व्याप्ति' हो, तो आक्षेप अलंकार है।

उदाहरणार्थ—स रि ग रि ग म ग म प म प ध प ध नि।

10. बिंदु—प्रथम स्वर का तीन बार उच्चारण करना, पुनः द्वितीय स्वर को अग्निवत् स्पर्श करना अर्थात् केवल छूकर जाना, फिर आद्य स्वर का उच्चारण करना बिंदु अलंकार है। यह त्रिस्वर से बनी कला है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदाहरणार्थ—स ङ रि स रि ङ ग रि ग ङ म ग म ङ प म प ङ ध प ध ङ नि ध।

11. उद्घाहित—तीन स्वरों को क्रमशः उच्चारित कर अवरोही गति से द्वितीय स्वर तक जाना तथा एक-एक स्वर को त्यागकर आगे बढ़ना उद्घाहित अलंकार है।

उदाहरणार्थ—स रि ग रि रि ग म ग ग म प म म प ध प प ध नि ध।

12. ऊर्मि—मूर्च्छना के आदिम स्वर के पश्चात् चतुर्थ स्वर का तीन बार उच्चारण हो, पुनः आद्य तथा चतुर्थ स्वर का क्रमशः प्रयोग हो, तो वह ऊर्मि अलंकार कहलाता है। अन्य कलाएं क्रम से एक-एक स्वर को त्यागकर बनती हैं।

उदाहरणार्थ—स म ङ स म रि प ङ रि प ग ध ङ ग ध म नि ङ म नि।

13. सम—जिस कला में प्रथम स्वर से चतुर्थ स्वर तक आरोह कर पुनः वैसा ही अवरोहण किया जाए, वहां सम अलंकार है। अन्य कलाएं भी एक-एक स्वर को छोड़कर निर्मित होंगी।

उदाहरणार्थ—स रि ग म म ग रि स रि ग म प प म ग रि ग म प ध ध प म ग म प ध नि नि ध प म।

14. प्रेंख—द्विस्वर कलाएं जिसमें आरोहावरोह करें तथा जो क्रम एक-एक स्वर के त्याग से निर्मित हो, वह प्रेंख अलंकार है।

उदाहरणार्थ—स रि रि स रि ग ग रि ग म म ग म प प म प ध ध प ध नि नि ध।

15. निष्कूजित—प्रसाद की कला के साथ तृतीय-प्रथम स्वरों का योग करने पर निष्कूजित अलंकार बनता है।

उदाहरणार्थ—स रि स ग स रि ग रि म रि ग म ग प ग म प म ध म प ध प नि प।

16. श्येन—क्रम से 'स रि ग म' स्वरों को आद्य बनाकर स्वर-संवाद की जोड़ी ली जाए, तो श्येन अलंकार का निर्माण होता है। यही एक स्थान है, जहां शार्ङ्गसूरि ने अष्टक तक के स्वर-प्रयोग को दिखाया है।

उदाहरणार्थ—स प रि ध ग नि म स।

श्येन को देखने पर यह अलंकार षड्ज-ग्रामिकी प्रतीत होता है. क्योंकि यहां स्वर-संवाद पांच स्वर का लिया गया है, चार स्वरों का नहीं। मध्यम ग्राम में चतुः स्वर संवाद है, जबकि षड्ज-ग्राम में पंचस्वर-संवाद। वस्तुतः जब मूर्च्छना के प्रथम स्वर का आधार शार्ङ्गदेव ने षड्ज को ही माना है. तो अन्य अलंकार भी षड्ज-ग्रामिकी हैं। फिर भी ये संवाद-युग्मक स्वर इस विचार को अधिक पुष्ट करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वर-संवाद की जोड़ी में अष्टक तक स्वर दिखाने का अभिप्राय शार्ङ्गदेव का क्या रहा होगा, यह अस्पष्ट ही है; क्योंकि अनेक स्थलों पर अवकाश रहते हुए भी उन्होंने अष्टक तक अलंकारों की समाप्ति नहीं की। ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि अपने समय में प्रचलित प्रयोग की ओर ध्यान रखते हुए उन्होंने इस विशेष विधि का उल्लंघन किया है, अन्यथा कहीं और भी हम ऐसा पा सकते थे।

17. **क्रम**—इसकी कला क्रमशः दो-तीन-चार स्वरों के योग से बनती है। इसी प्रकार द्वितीयादि स्वरों से अन्य कलाएं बनती हैं। कलाएं इस प्रकार हैं—प्रथम-द्वितीय, प्रथम-द्वितीय-तृतीय, प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ।

उदाहरणार्थ—स रि स रि ग स रि ग म रि ग रि ग म रि ग म प। ग म ग म प ग म प ध म प म प ध म प ध नि।

18. **उद्घट्टित**—दो स्वरों को क्रमशः गाकर पंचम के स्वर से चार स्वरों तक अवरोहण करना, पुनः अन्य कलाएं भी ऐसी ही बनाना उद्घट्टित है। कलाएं इस प्रकार हैं—प्रथम-द्वितीय-पंचम-चतुर्थ-तृतीय-द्वितीय।

उदाहरणार्थ—स रि प म ग रि रि ग ध प म ग ग म नि ध प म।

19. **रंजित**—मंद्रादि अलंकार को दो बार कहकर कला मंद्र से अर्थात् मूर्च्छना के प्रथम स्वर से समाप्ति की जाए, तो रंजित अलंकार होता है।

उदाहरणार्थ—स ग रि स ग रि स रि म ग रि म ग रि ग प म ग प म ग म ध प म ध प म प नि ध प नि ध प।

20. **सन्निवृत्त प्रवृत्तक**—भरत ने भी ऐसा अलंकार कहा है, परंतु अहोबल ने इसे दो भिन्न अलंकारों के रूप में माना है। आद्य के पश्चात् पंचम स्वर को लेना चाहिए; पुनः चतुर्थ स्वर से तीन स्वरों तक अवरोह करना सन्निवृत्त-प्रवृत्तक कहलाता है। एक-एक स्वर छोड़कर इसमें अन्य कलाएँ बनती हैं।

उदाहरणार्थ—स प म ग रि रि ध प म ग ग नि ध प म।

21. **वेणु**—आद्य स्वर की दो बार आवृत्ति हो, पुनः द्वितीय-चतुर्थ-तृतीय स्वरों का ग्रहण हो एवं ऐसा ही एक-एक स्वर को छोड़कर कलाओं का निर्माण किया जाए, तो वह वेणु अलंकार होता है।

उदाहरणार्थ—स स रि म ग रि रि ग प म ग ग म ध प म म प नि ध।

22. **ललित स्वर**—प्रथम दो स्वरों के पश्चात् चतुर्थ स्वर एवं तत्पश्चात् अवरोही गति से प्रथम दो स्वरों को लेना 'ललित स्वर' अलंकार है।

उदाहरणार्थ—स रि म रि स रि ग प ग रि ग म ध म ग म प नि प म।

23. **हुंकार**—प्रथम स्वर से आरंभ की गई द्विस्वर कला जब क्रमशः वृद्धि प्राप्त करती हुई आरोहावरोह गति को पाती है, तो वहां 'हुंकार' अलंकार होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यहां वृद्धि क्रम से त्रिस्वर, चतुःस्वर पंचस्वर, षट्स्वर, सप्तस्वर तक व्यवहृत होती है।

उदाहरणार्थ—स रि स स रि ग रि स स रि ग म म ग रि स स रि ग म प म ग रि स स रि ग म प ध प म ग रि स स रि ग म प ध नि ध प म ग रि स।

24. ह्लादमान—मंद्रादि अलंकार को प्रसन्न से समाप्त किया जाए, तो ह्लादमान बनता है। सिंहभूपाल ने टीका की है—'प्रसन्नाता प्रथमस्वराता।' पर प्रश्न यह है कि पुनः 'प्रसन्न' संज्ञा का उल्लेख शार्ङ्गदेव ने किस अभिप्राय से किया। यदि प्रत्येक स्वर का प्रयोग निःशंक ने उद्देश्यपूर्ण विचारों से किया है, तो यहां 'प्रसन्न' से क्या तात्पर्य है? संचारी अलंकार में कहीं प्रसन्न का नाम तक उन्होंने नहीं लिया। संचारी के प्रथम कई अलकारों में उन्होंने मंद्र से युक्त अलंकारों को कहा, जिससे यह समझा गया कि केवल मूर्च्छना का प्रथम स्वर ही अभिप्रेत होने के कारण उन्होंने स्वर लिपि-चिन्ह का प्रयोग नहीं किया। रंजित अलंकार में निःशंक ने 'मंद्राता' का उल्लेख किया है। अतः उपर्युक्त सभी विचारों को देखने से यह शंका उठती है कि यहां प्रसन्न का अलंकार के सौन्दर्यात्मक तत्त्व से तो कोई संपर्क नहीं रह गया है। सभवतः कला के अंतिम स्वर के प्रयोग में कोई वैशिष्ट्य रहा हो। अंतिम स्वर को शायद विशेष कौशल से कोमल ध्वनि (soft tone) द्वारा प्रयोग किया जाता होगा। 'प्रसन्नो मंद्र पर्याय' यह विचार मानने पर यहां प्रसन्न का अर्थ मूर्च्छनागत प्रथम स्वर से लेना चाहिए। ऐसा उपयुक्त भी प्रतीत होता है। अतः प्रसन्न का उल्लेख शब्द-सौन्दर्य की दृष्टि से भी किया गया होगा, ऐसा सोचना असंगत प्रतीत नहीं होता।

उदाहरणार्थ—स ग रि स रि म ग रि ग प म ग म ध प म प नि ध प।

25. अवलोकित—सम अलंकार के आरोहावरोह में स्वर के अपने से द्वितीय का त्याग होने से अवलोकित अलंकार बनता है। अर्थात् प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-चतुर्थ-द्वितीय-प्रथम यह क्रम होना चाहिए।

उदाहरणार्थ—स ग म म रि स रि म प प ग रि ग प ध ध म ग म ध नि नि प म।

इन संचारी अलंकारों को जैसे आरोह में प्रदर्शित किया गया, अवरोह में भी वैसा ही करना होगा—ऐसा श्रीकरणाग्रणी शार्ङ्गदेव का कथन है। अतः अलग से संचारीगत अवरोही अलंकारों को लिखने की कोई आवश्यकता नहीं।

इन अलंकारों के अतिरिक्त गीतज्ञों के द्वारा भी सात अलंकार प्रदर्शित किए गए हैं। सिंहभूपाल ने टीका करते समय इन्हें 'लोक प्रसिद्ध' अलंकार कहा है। इससे कुछ समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। भरत तथा मतंग के ग्रंथों में 'लोक प्रसिद्ध अलंकार'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की संज्ञा नहीं पाई जाती। साथ ही भरत के कुछ श्लोक प्रक्षिप्त से लगते हैं एवं मतंग का उदाहरण अस्पष्ट है। सोमनाथ ने सिंहभूपाल की टीकानुसार अपनी टीका में 'लोक प्रसिद्ध' शब्द का उल्लेख किया है। अहोबल ने गीतज्ञों के द्वारा प्रदर्शित अन्य सात अलंकार (सप्तसूलादि तालों पर आधारित) बताए हैं। सिंहभूपाल द्वारा उल्लिखित 'लोक प्रसिद्ध' की कोई संतोषजनक व्याख्या अभी तक प्राप्त नहीं हुई है।

सर्वप्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है—'लोकप्रसिद्ध' का अर्थ क्या है? क्या इसके अतिरिक्त कोई अन्य अलंकार लोक प्रसिद्ध नहीं था। सिंहभूपाल द्वारा भी 'लोक प्रसिद्ध' शब्द पर कुछ प्रकाश न डाले जाने के कारण समस्या अधिक जटिल हो जाती है। 'लोक' का अर्थ है—शास्त्र में अनुल्लिखित। लोक-प्रचलित विधि-व्यवस्था में ही शोधन कर शास्त्र बनता है। अतः जो विशेष विधिवत् न हो, वह लोक-विधि के रूप में आज तक प्रचलित है। इसी प्रकार कुछ अलंकार; जो जन-साधारण में प्रचलित रहे हों, उन्हें ही 'लोकप्रसिद्ध' कहा गया, ऐसा मान सकते हैं। परन्तु पुनः आपत्ति यह उठती है कि अगर यह साधारण जनता की संपत्ति है, तो शाङ्गदेव ने उसे देशी अलंकार के रूप न कहकर 'गीतज्ञ रूपदर्शिता' क्यों कहा? भरत के गांधर्व को 'मार्ग' एवं अन्य प्रचलित संगीत को 'देशी' में विभाजित करने का प्रचलन मतंग के समय तक वैधानिक हो गया था और शाङ्गदेव ने भी उनका अनुसरण किया है। अतः अलंकार के लिए भी 'मार्ग-देशी' का विभाजन करना कोई विशेष बात नहीं थी। साथ ही भरत-वर्णित उनतालीस अलंकारों को 'देशी' अलंकार की श्रेणी में रख सकते थे। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, वरन् भरतोल्लिखित अवरोही अलंकार का कोई अलग स्वरूप न रखकर उसे आरोही-अलंकार का व्युत्क्रम मान लिया। अतः यह स्वाभाविक है कि निःशंक का अन्य सात अलंकार बताने का अभिप्राय लोकधर्मी विचारों की पुष्टि करना नहीं था। वरन् इन अलंकारों का सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् यही विचार दृढ़ होता है कि ये अलंकार शायद प्राथमिक शिक्षा के लिए उपयोगी रहे होंगे। इन अलंकारों की शिक्षा के पश्चात् अन्य अलं-कारों की शिक्षा दी जाती थी। संभवतः परवर्ती ग्रन्थकारों ने इन्हीं अलंकारों में से किसी-किसी के रूप एवं नामों में परिवर्तन कर तथा तालों में बैठाकर प्राथमिक शिक्षा के लिए आवश्यक माना। यद्यपि इन अलंकारों में से थोड़े ही अलंकार अहोबल के ताल-सहित अलंकारों के साथ बैठते हैं तथा इनके नाम भी संपूर्णतया अलग हैं। फिर भी ऐसी कल्पना करना निराधार नहीं होगा, क्योंकि कितनी ही विषय-वस्तुएं काल-कवलित हो संपूर्णतया विनष्ट हो गईं तथा कितनों ने अपना आभास-मात्र छोड़कर रूप-परिवर्तन कर लिया। क्रम-विकास के क्षेत्र में यह अति स्वाभाविक नियम है। अब सिंहभूपाल के कहे लोकप्रसिद्ध अलकारों की संज्ञा भी निरर्थक प्रतीत नहीं होती है। शायद उनके समय की गुरु-परम्परा में सर्वप्रथम इन्हीं अलंकारों को संगीत में प्राथमिक शिक्षा का आधार मानकर नए विद्यार्थियों को सिखाया जाता रहा हो, तत्पश्चात् अन्य चतुर्वर्णालंकारों को। अतः प्राथमिक शिक्षा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के लिए ये अलंकार सामान्य जनता में प्रसिद्ध रहे होंगे, इसीलिए उन्होंने 'लोक प्रसिद्ध' का उल्लेख किया है।

1. तारमंद्रप्रसन्न—प्रथम स्वर से प्रारम्भ कर क्रमशः अष्टम स्वर तक जाकर पुनः प्रथम स्वर तक लौट आना 'तारमंद्रप्रसन्न' है। 'प्रसन्न' शब्द को गतिशील बनाएं, तो इसका अर्थ होता है—तार स्थान के स्वर तक जाकर मंद्र में लौट आना एवं उस अलंकार को 'प्रसन्न' बनाना, अर्थात् Soft करना। परन्तु 'प्रसन्न' का अर्थ 'मंद्र' के 'पर्याय' से लें, तो अर्थ ऐसा बैठता है—मंद्र से आरम्भ होकर तार तक जाकर पुनः प्रसन्न का प्रयोग करना। यह अर्थयुक्त भी प्रतीत होता है।

उदाहरणार्थ—सं रि ग म प ध नि सं सं।

2. मंद्रतारप्रसन्न – मंद्र स्वर प्रथम स्वर के पश्चात् तार स्वर को छूकर सप्त स्वरों तक अवरोहण हो, तो माहेश्वरोत्तम शार्ङ्गदेव उसे 'मंद्रतारप्रसन्न' कहते हैं।

उदाहरणार्थ—सं सं नि ध प म ग रि सं।

3. आवर्तक—प्रथम-द्वितीय-प्रथम स्वर दो-दो बार प्रयुक्त हों, पुनः द्वितीय-प्रथम एक-एक बार लिए जाएं, तो आवर्तक अलंकार होता है।

उदाहरणार्थ—स स रि रि स स रि स रि रि ग ग रि रि ग रि ग ग म ग ग ग म ग म म प प म म प म प प ध ध प प ध प ध ध नि नि ध ध नि ध।

4. सम्प्रदान—आवर्त्तक के ही अंतिम दो स्वरों का त्याग करने पर 'संप्रदान' का निर्माण होता है।

उदाहरणार्थ—स स रि रि स स रि रि ग ग रि रि ग ग म म ग ग म म प प म म प प ध ध प प ध ध नि नि ध ध।

5. विधूत—एकांतर स्वर युग्म का दो-दो बार-बार प्रयोग हो तथा व्यक्त स्वर से अन्यान्य कलाएँ बनें, तो वह विधूत अलंकार होता है।

उदाहरणार्थ—स ग स ग रि म रि म ग प ग प म ध म ध प नि प नि।

उपर्युक्त अलंकार को मध्य-युग के चार मात्राओं से बद्ध लघु ताल या आदि-तालालंकार के समान मान सकते हैं। अहोवल ने उसे 'सदानन्द अलंकार' कहा है, यद्यपि स्वर भी उनके भिन्न हैं।

6. उपलोल (क)—प्रथम दो स्वरयुग्म दो बार प्रयुक्त हों एवं तृतीय-द्वितीय स्वरयुग्म का प्रयोग दो बार हो, तो वहां उपलोल अथवा उपलोलक अलंकार होता है।

उदाहरणार्थ—स रि स रि ग रि ग रि रि ग रि ग म ग म ग ग म ग म प म प म म प म प ध प ध प प ध प ध नि ध नि ध।

7. उल्लासित—प्रथम स्वर दो बार हो, पुनः तृतीय-प्रथम-तृतीय स्वर एक-एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वार हो, तो वह उल्लसित अलंकार होता है।

उदाहरणार्थ—स स ग स ग रि रि म रि म ग ग प ग प म म ध म ध प प नि प नि।

अलंकारों का अनंत होना शार्ङ्गसूरि स्वीकार करते हैं। अतः उन्होंने केवल विशेष प्रयोजनीय अलंकारों का ही निरूपण किया है।

शार्ङ्गदेव के अलंकारों का गंभीर अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि भरत के समय से शार्ङ्गदेव तक धीरे-धीरे अलंकारों का विस्तार हो रहा था। भरत ने गमक एवं अलंकार की अलग व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझी तथा उनके समय तक 'अलंकार' शब्द एक व्यापक अर्थमय था, जबकि शार्ङ्गदेव के समय में 'अलंकार' शब्द संकुचित हो गया एवं उसका विस्तार अधिक हुआ। यही कारण है कि शार्ङ्गसूरि ने गमक एवं अलंकार को पृथक-पृथक प्रकरण में रखना उचित समझा। सोमनाथ ने शार्ङ्गदेव के अलंकारों को ही संख्या में कम करके लिपिबद्ध किया। अहोवल के समय तक अलंकार का क्षेत्र विशाल हो गया था। सप्तक के स्थान पर उस समय अष्टक तक के स्वर व्यवहृत हो रहे थे; साथ ही अलंकारों के रूप में भी परिवर्तन हो गया था। यद्यपि नाम प्रायः वही थे। अलंकारों का नया रूप 'गीतोपयोगी तथा रागोपयोगी अलंकार' जनसम्मुख आया, जो अलंकारों के विकसित रूप को ही दर्शाता है। अहोवल ने ही अलंकारों के विस्तृत रूप की आलोचना की है। अन्य किसी परवर्ती ग्रंथकार ने ऐसा नहीं किया। शार्ङ्गदेव-वर्णित अलंकार आज भी संगीत के क्षेत्र में बहुप्रचलित हैं, यद्यपि शिक्षा में प्रयुक्त न होने के कारण संगीतज्ञ उनके नामों को पूर्णतया भूल गए हैं। परन्तु आज भी हिन्दुस्तानी एवं कर्णाटकीय, दोनों संगीत-पद्धतियों में यह आवश्यकीय है कि संगीत की शिक्षा ग्रहण करने से पूर्व अलंकारों का अच्छी तरह गले या हाथ से अभ्यास किया जाए, अन्यथा संगीत की शिक्षा में छात्र प्रवेश नहीं पा सकता। अतः यही कहना कि शार्ङ्गदेवादि के अलंकारों की कोई उपयोगिता हमारे संगीत में नहीं है (जैसा कि अनेक व्यक्ति कहते आ रहे हैं) एक भ्रांतिपूर्ण कथन के सिवा और कुछ नहीं। अपने सीखे हुए अलंकारों से शार्ङ्गदेव वर्णित अलंकारों की तुलना करें, तो यह कथन पूर्णतः निराधार सिद्ध होगा। आज के अनेक अलंकार नवीन हैं और कई वर्णित अलंकारों की पुनरावृत्ति-मात्र हैं। अतः यह स्पष्ट है कि संगीत के अनेक पहलुओं के विकास के साथ-साथ अलंकारों का भी क्रमशः विस्तार व विकास होता गया, जिसका प्रमाण हमें अपने संगीत की शिक्षा लेते समय पग-पग पर मिलता रहता है एवं मिलता रहेगा।

संदर्भ ग्रन्थ

1. संगीत रत्नाकर—1. अध्याय, सिंहभूपाल व कल्लिनाथ की टीका सहित।
2. वृहद्देशी।
3. नाट्यशास्त्र।
4. संगीत पारिजात।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

3

'संगीत पारिजात' के अलंकारों का विवेचन

उत्तर भारत में पं० अहोवल के 'संगीत पारिजात' को लोक समक्ष लाने का श्रेय पं० भातखण्डे जी को है। उत्तर तथा दक्षिण, दोनों पद्धतियों का मिश्रण इसमें है। "संगीत पारिजात' के रचना-काल का समय ऐसा था जब प्राचीन ग्राम-मूर्च्छना पद्धति समाप्त हो गई थी तथा मेल अथवा संस्थान (ठाठ) पद्धति पनप चुका था। फिर भी पूववर्ती की परम्परा को अमान्य करने का साहस संगीत शास्त्रज्ञों में था नहीं, फलतः उत्तर तथा दक्षिण, दोनों स्थानों पर शास्त्रकारों का ऐसा प्रयत्न था कि अपने समसामयिक संगीत को प्राचीनों की पद्धति में ढाला जाए। फलस्वरूप वह शास्त्र न संपूर्णतया प्राचीनता को दर्शाता है और न अपने संगीत को। संगीत के प्रायोगिक (Practical) क्षेत्र में तो प्रकृति के नियमानुसार परिवर्तन-परिवर्द्धन होता जा रहा था, पर इन शास्त्रकारों के ऐसे गलत प्रयत्न को भी बाद के शिक्षित वर्ग द्वारा मान्यता दी जाने लगी। यही कारण है कि ग्राम-मूर्च्छना की मुख्य धारा से अलग होते हुए भी वर्तमान उत्तर तथा दक्षिण के संगीतज्ञ अपने-अपने संगीत को शार्ङ्गदेव-वर्णित संगीत की परंपरा बतलाते हैं।

पं० सोमनाथ, पं० वेंकटमखी, पं० रामामात्य, पं० श्रीनिवास, पं० लोचन, पं० अहोवल आदि इसी प्राचीन तथा नवीन संगीत पद्धति के संक्रान्ति-काल में थे। पं० अहोवल के 'संगीत-पारिजात' का जो संस्करण (संगीत कार्यालय, हाथरस द्वारा प्रकाशित) आज प्राप्त है, वह अनेकांशों में खंडित है, क्योंकि उसमें गायन के गुण-दोष-प्रकरण, वाद्याध्याय और तालाध्याय प्राप्त नहीं हैं। एक अन्य प्राचीन संस्करण (प्रथम पृष्ठ नष्ट होने से उसके संपादक का नाम तथा छपने का स्थान अज्ञात है) में ये अध्याय प्राप्त हैं। संपूर्ण ग्रन्थ का पाठ करने के पश्चात् यह अनुभव होता है है कि यह भी स्थान-स्थान पर खंडित एवं पाठ भ्रष्ट है।

'संगीत पारिजात' के ग्रन्थकार हनुमन्मत के थे; क्योंकि वह प्राचीन परंपरा से अलग किसी भी प्रकरण में विशेष रूप से 'हनुमान के द्वारा कहे गए' ऐसा उल्लेख करते हैं एवं उन्होंने स्थाई अलंकारों के प्राचीन नामों के साथ ही नामांतर गिनाए हैं, जो 'मारुति' द्वारा व्यक्त हैं। 'संगीत पारिजात' में उल्लिखित अलंकारों को देखते हुए शार्ङ्गदेव के 'संगीत रत्नाकर', सोमनाथ के 'राग विबोध' और वेंकटमखी के 'चतुर्दंडि प्रकाशिका' में वर्णित अलंकारों के साथ तुलनात्मक विवेचन करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है। साथ ही श्रीकंठ की 'रसकौमुदी', पुंडरीक विट्ठल की 'रागमाला' एवं तुलजा महाराज के 'संगीतसारामृत' का उल्लेख करना भी अप्रासंगिक न होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भरत का ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' आलोच्य न होने का कारण यह है कि उसमें अलंकार की बड़ी विस्तृत व्याख्या है। वहां गमक और अलंकार की अलग व्याख्या नहीं की गई है। मतंग ने 'बृहद्देशी' में भरत-वर्णित अलंकारों को ही स्वरलिपिबद्ध किया है, परन्तु वह भी पाठ भ्रष्ट होने से अस्पष्ट है। शार्ङ्गदेव ने ही सर्वप्रथम अलंकार के अर्थ को संकुचित करके गमक एवं अलंकार की अलग-अलग प्रकरणों में विस्तृत व्याख्या की है। साथ ही 'अलंकार-प्रकरण' में अहोवल ने शार्ङ्गदेव को ही उद्धृत कर अपने विषय की पुष्टि की है। अतः शार्ङ्गदेव को ही ध्यान में रखते हुए अहोवल को समझने की चेष्टा करना उचित होगा।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि श्रीकंठ ने अपनी 'रसकौमुदी' में अलंकारों के वर्णन के समय केवल 'स्वर-संदर्भ' का उल्लेख किया है तथा इसकी कोई व्याख्या नहीं की है। यह कहकर उन्होंने समाप्त किया है कि ग्रन्थ-विस्तार के भय से अलंकार की विस्तृत व्याख्या नहीं की जा रही है, वैसे तो ये असंख्य हैं।

तुलजा जी ने 'संगीत सारामृत' के वर्णालंकार-प्रकरण में शार्ङ्गदेव का ही अनुसरण किया है। अलंकार 'विशिष्ट वर्ण-संदर्भ' को कहते हैं। वैशिष्ट्य नियत कला से है। इन्होंने तिरसठ अलंकार कहे हैं एवं शार्ङ्गदेव के श्लोक तथा प्रमाणों को पुनरुद्धृत किया है। पर आश्चर्य इस बात का है कि अलंकारों के वर्णन के प्राक्काल में इन्होंने कहा—

'एते त्रिषष्टिरप्यलंकारा भरतादिभिः सम्यङ् निरूपिताः'

जबकि भरत ने केवल उनतालीस अलंकारों का ही उल्लेख किया है एवं स्वयं तुलजा जी ने शार्ङ्गदेव के श्लोकों को आरम्भ से अंत तक पुनरुक्त किया है। एक अन्य पांडुलिपि में (देवनागरी-लिपि Ms. No. 10789) सप्ततालालंकार का उल्लेख प्रमाण-सहित है, जो 'लक्ष्यलक्षणकोविद' द्वारा व्यवहृत माना गया है। इसे देखने पर यही धारणा बनती है कि यहां अहोवल का अनुसरण किया गया है। अतएव अहोवल के रागोपयोगी सप्त तालालंकारों का वर्णन करते समय इनका उल्लेख किया जाएगा।

पुंडरीक विट्ठल ने 'रागमाला' में अलंकार की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। परन्तु अलंकारों के प्रमाण देते समय कहीं उन्होंने सप्तक का व्यवहार किया है तो कहीं अष्टक का (प्राप्त पांडुलिपि के अनुसार)। ऐसा भी हो सकता है कि यह लिपिकार का भ्रम हो। अलंकार इन्होंने पच्चीस ही कहे हैं, जो प्रसिद्ध हैं एवं जिनका प्रयोजन रक्तिलाभ, स्वर-ज्ञान, वर्ण-गान (?) की विचित्रता के लिए है। पुंडरीक-वर्णित अलंकार कुछ विचित्र ही हैं। संज्ञा एवं प्रमाण अनेकांश में शार्ङ्गदेवादि के ग्रन्थों से नहीं मिलते, यहां तक कि मध्ययुगीन ग्रन्थकारों से भी भिन्न हैं। अतः इन तत्वों को देखते हुए इनका उल्लेख आलोच्य विषय वस्तु से बाहर रखा गया एवं इस पर एक अन्य लेख की आवश्यकता समझी गई।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पं० अहोबल के अनुसार 'क्रमिक स्वरों के संदर्भ' को 'अलंकार' कहते हैं, अर्थात् संगठित तथा क्रमयुक्त स्वर-समष्टि 'अलंकार' हैं। पं० सोमनाथ के अनुसार जो वर्ण (स्वर) के नियत कला आदि विशेषों-सहित ग्रथित है, वह 'अलंकार' है। 'संगीत-परिजात' के वर्णालंकार-प्रकरण में कुछ श्लोकों को छोड़कर अन्य (समस्त) 'संगीत रत्नाकर' का अनुकरण-मात्र है। कहीं-कहीं पद के अन्तिम अक्षर का परिवर्तन हुआ है, कहीं पद आगे-पीछे कर दिए गए हैं। मध्ययुगीन शास्त्रकारों में यह प्रवृत्ति अत्यधिक पाई गई है। 'संगीत-पारिजात'-वर्णित अलंकार कुल अड़सठ हैं। वर्ण के चार भेद हैं—स्थाई, आरोही, अवरोही, संचारी। इन्हीं के अनुसार अलंकारों का वर्गीकरण हुआ है।

स्थायी वर्ण अलंकार

जिनके आदि तथा अंत में एक ही स्वर है, उन्हें 'स्थायीवर्ण अलंकार' कहते हैं।

'येषामाद्यंतयोरेकस्वरास्ते स्थायीवर्णगाः।'

पं० सोमनाथ के अनुसार 'स्थायीस्थित्वा स्थित्वैकस्य प्रयोगः' अर्थात् विलंब-विलंब से जिस अलंकार का प्रयोग हो, वह 'स्थायीवर्ण अलंकार' है। यह उल्लेख शार्ङ्गदेवादि का अनुकरण है तथा 'संगीत पारिजात' के प्रमाण से सर्वथा भिन्न है। स्थायीवर्ण में शार्ङ्गदेव से लेकर सोमनाथादि तक ने मंद्र-तार अथवा दीप्त-प्रसन्न या मृदु का प्रयोग किया है। अहोबल तथा पुंडरीक विट्ठल ने आदि और अन्त में एक होने का अर्थ 'स्वर' से लिया है, जबकि अन्यों ने उसे एक ही स्वर के प्रसन्न-दीप्त भेदों के विभिन्न क्रमों के रूप में माना है।

यहां 'प्रसन्न-मंन्द्र' शब्द पर कुछ प्रकाश डालना अत्यावश्यक है। अलंकार में मंन्द्र-तार तथा दीप्त-प्रसन्न या मृदु शब्दों का प्रयोग किया गया है। विशेषकर स्थायीवर्ण अलंकारों एवं संचारीवर्ण अलंकारों में कहीं-कहीं भरत तथा शार्ङ्गदेवादि ने 'गीतज्ञरूपदर्शिता' अलंकारों में इसका उल्लेख किया है। भरत ने उपर्युक्त संज्ञाओं की व्याख्या नहीं की है। 'मंद्र' का पर्याय प्रसन्न या मृदु है एवं 'तार' का पर्याय दीप्त है। 'संगीत रत्नाकर' के टीकाकार पं० सिंहभूपाल के अनुसार 'मंद्र' का अर्थ मूर्च्छना के प्रथम स्वर का द्विगुण स्वर 'तार' समझना चाहिए। यह अलंकार प्रकरण की उपयोगी परिभाषा है। मूर्च्छना के प्रथम स्वर का द्विगुण स्वर 'तार' समझना चाहिए। मूर्च्छना का प्रथम स्वर मंन्द्र या मध्य किसी भी स्थान में स्थित हो, वह मन्द्र कहा जायेगा। मूर्च्छना का प्रथम स्वर मंन्द्र-स्थान में होने से उसके मध्य-स्थान की स्वरावली 'तार' होगी। मूर्च्छना का प्रथम स्वर मध्य स्थान में स्थित होने पर तार-स्थान के स्वर 'तार' कहे जाएंगे।

परन्तु मध्ययुगीन ग्रन्थकारों के सम्मुख मंद्र-तार के पर्याय रूप (जो स्वरों एवं अलंकारों के सौंदर्यात्मक तत्व के प्रति दृष्टि रखना होगा) का लोप हो गया तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केवल 'मन्द्र' का अर्थ मूर्च्छना के प्रथम स्वर के रूप में रह गया एवं उसका द्विगुण स्वर तार-रूप में रह गया। यद्यपि उन्होंने अपने समकालीन अलकारों के प्रमाण देते समय स्वरों का चिन्ह कहीं नहीं दिया है। जिन मध्ययुगीन ग्रन्थकारों ने केवल शार्ङ्गदेव का अनुकरण किया, उन्होंने ही स्वरलिपि चिन्ह (शार्ङ्गदेव-जैसा) दिया है।

अहोवल के स्थायी-अलंकार सात हैं, जो शार्ङ्गदेव द्वारा वर्णित हैं। ये क्रमश: ऐसे हैं—प्रसन्नादि, प्रसन्नांत, प्रसन्नाद्यन्त, प्रसन्नमध्य क्रमरेचित, प्रस्तार, प्रसाद। इन्हीं अलंकारों के अन्य नाम क्रमश: भद्र, नंद, जित, सोम, ग्रीव, भाल तथा प्रकाशक अन्य मुनियों ने कहे हैं। पर इन अन्य मुनियों में हनुमान तथा शिवप्रिय के अतिरिक्त और किसी का उल्लेख नहीं है।

2. प्रसन्नादि—'प्रसन्नो मन्द्रपर्याय:' अर्थात् प्रसन्न मन्द्र का पर्याय है। परन्तु 'मंद्रो विदुशिरा भवेत्' का यहां कोई प्रयोजन नहीं है। प्रसन्नादि में मंद्र तथा तार का कोई प्रमाण ये इन अलंकारों में नहीं देते, वरन् संचारीवर्ण अलंकारों में मंद्रादि से आरंभ या समाप्ति करने का उल्लेख है। प्रसन्नादि का अन्य नाम 'भद्र' है। एक स्वर से प्रारंभ होकर अपने आगे के स्वर तक जाकर फिर अपने स्वर में जो लौट आता है, आञ्जनेय सुधी के द्वारा वह 'भद्र अलंकार' कहा गया है।

उदाहरणार्थ—स रि स। रि ग रि। ग म ग। म प न। प ध प। ध नि ध। नि स नि।

अलंकारों के अष्टक तक प्रस्तार का प्रमाण अहोवल ने दिया है। इनके पूर्व और किसी ने अष्टक का प्रमाण नहीं दिया। सोमनाथ तक सभी ने सप्तक अर्थात् सात स्वरों तक ही अलंकारों का प्रस्तार किया है, केवल 'संचारी-गत अलंकार' में शार्ङ्गदेव, सोमनाथ आदि ने 'श्येन अलंकार' में स्वर-संवाद की जोड़ी में 'म-स' को गिनाया है। यद्यपि 'बृहद्देशी' में तार सप्तक तक अलंकारों को ले जाने की चर्चा है, फिर भी पाठभ्रष्ट होने से अब तक उसका कोई विशेष अर्थ नहीं निकाला जा सका है। अत: यह निर्विवाद स्पष्ट है कि अहोवल ने एक स्थान में सप्तक की जगह अष्टक को मान लिया था। साथ ही इनके अलंकारों को देखने पर यह ज्ञात होता है कि इन्होंने क्रमश: परिवर्तित होने वाले मतों को ही प्रधानता दी है, अर्थात् अलंकार प्रकरण में इन्होंने अपने समसामयिक प्रायोगिक संगीत के क्षेत्र को ध्यान में रखते हुये बदलते विचारों का ही उल्लेख किया है, जबकि सोमनाथ ने शार्ङ्गदेव को ही प्रमाण माना है।

2. प्रसन्नांत—रूपक ताल में पूर्ववत् अर्थात् प्रसन्नादि के अनुरूप स्वर द्वंद्व अर्थात् दो-दो स्वरों की जोड़ी से यह अलंकार बना है। रूपक ताल मध्ययुग तक छ: मात्राओं का ही था एवं आज भी कर्णाटक-संगीत में ऐसा ही है। इस अलंकार का अन्य नाम 'नंद' है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदाहरणार्थ—स स रि रि स स । रि रि ग ग रि रि । ग ग म म ग ग । म म प प म म । प प ध ध प प । ध ध नि नि ध ध। नि नि स स नि नि।

3. **प्रसन्नाद्यंत**—लघु काल (मात्रा) से बने इस अलंकार का अन्य नाम 'जित' है। अहोवल के समय से लेकर, आज तक भी, विशेषकर कर्णाटक पद्धति के ताल में, एक लघु का अर्थ चार अक्षरों या स्वरों से माना जाता है। अर्थात् लघु से चार अक्षर (ताल-वाद्य में) अथवा चार स्वर (स्वर वाद्य में) होते हैं। इसी प्रकार गुरु में आठ अक्षर या आठ स्वर होते हैं, द्रुत में दो अक्षर या दो स्वर होते हैं।

4. **प्रसन्नामध्य**—गुरु काल (मात्रा) से बना यह अलंकार पूर्ववत् अर्थात् प्रसन्नाद्यंत के समान स्वर द्वंद्व, अर्थात् दो स्वरों की जोड़ी से बना है। इसका नामांतर 'सोम' है।

उदाहरणार्थ—स स ग ग रि रि स स । रि रि म म ग ग रि रि । ग ग प प म म ग ग । म म ध ध प प म म। प प नि नि ध ध प प। ध ध स स नि नि ध ध ।

5. **क्रमरेचित**—यह अलंकार दो लघु मात्राओं का है तथा दो-दो स्वर जोड़ियों से निर्मित है। हनुमान सुधी ने इसे 'ग्रीव' कहा है।

उदाहरणार्थ—स ग रि ग, म ग रि स। रि म ग म, प म ग रि । ग प म प, ध प म ग। म ध प ध, नि ध प म । प नि ध नि, स नि ध प ।

6. **प्रस्तार**—'प्रस्तारोऽन्वर्थनामा' का अर्थ है, जो अलंकार विस्तृत रूप को प्राप्त हो। परन्तु अन्य अलंकारों में भी प्रस्तार के गुण दिखाई देते हैं। अतः इसी अलंकार को मात्र प्रसारित होने वाला अलंकार न समझना चाहिए। मारुति ने इसे 'भाल' कहा है तथा वह दो द्रुत और एक लघु काल से बना है।

उदाहरणार्थ—स ग, रि म, म ग रि स । रि म, ग प, प म ग रि । ग प, म ध, ध प म ग । म ध, प नि, नि ध प म । प नि, ध स, स नि ध प।

6. **प्रसाद**—अड्डताल में तथा 'प्रकाश' नाम से इसे हनुमान ने प्रख्यात किया है।

उदाहरणार्थ—स स, रि रि, ग ग, म ग, रि ग-रि स । रि रि, ग ग, म म, प म, ग म ग रि । ग ग, म म, प प, ध प, म प म ग । म म, प प, ध ध, नि ध, प ध प म। प प, ध ध, नि नि, स नि, ध नि ध प।

स्थायीवर्ण अलंकार के अन्त में अहोवल कहते हैं—जहां काल का उल्लेख नहीं है, उन अलंकारों को स्वर-प्रधान ही समझना चाहिए।

यत्र न उच्यते कालः स्वरैस्तत्रतु वोध्यते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आरोही अलंकार

ये बारह हैं। 233 से 246 तक के श्लोकों में अधिकांशतः शार्ङ्गदेव का अनुसरण एवं अनुकरण है।

1. विस्तीर्ण—मूर्च्छना के आदि स्वर से क्रमशः स्थित अर्थात् विलंब हो-होकर (स्वरों को दीर्घ कर) आरोहण करना 'विस्तीर्ण' अलंकार है।

उदाहरणार्थ--स री गा मा पा धा नी सा।

2. (अ) निष्कर्ष—ह्रस्व स्वरों को दो-दो बार निरन्तर बोलना 'निष्कर्ष' है।

उदाहरणार्थ—स स । रि रि । ग ग । म म प प । ध ध । नि नि । स स ।

2. (व) गात्रवर्ण—कोई-कोई इसे निष्कर्ष का एक अन्य भेद बतलाते हैं। एक-एक स्वर को तीन अथवा चार बार निरन्तर बोलना 'गात्रवर्ण' है।

उदाहरणार्थ—स स स । रि रि रि । ग ग ग । म म म । प प प । ध ध ध । नि नि नि । स स स । स स स स । रि रि रि रि । ग ग ग ग । म म म म । प प प प । ध ध ध ध । नि नि नि नि । स स स स ।।

3. विंदु--यह अलंकार हनुमान द्वारा व्यक्त है एवं इसका श्लोक शार्ङ्गदेव के श्लोक से भिन्न है। इसमें आदि के प्रथम स्वर तीन बार एवं दीर्घ तथा द्वितीय स्वर ह्रस्व होंगे। सूक्ष्म अनुधावन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि इस अलंकार का प्रारंभिक रूप तो वैसा ही है, जैसा शार्ङ्गदेवादि ने कहा है, पर प्लुत के स्थान पर संख्या 3 का चिन्ह न देकर सभी स्वर विस्तार से बता दिए गए हैं। शार्ङ्गदेव, सोमनाथ तथा अहोवल के अलंकार के उदाहरण क्रमशः निम्नांकित हैं :—

(अ) स ३ रि । ग ३ म । प ३ ध । नि ३ ।

(व) स स स रि । ग ग ग म । प प प ध । नि नि नि ।

(स) सा सा सा रि । री री री ग । गा गा गा म । मा मा मा प । पा पा पा ध । धा धा धा नि । नी नी नी स ।

4. अभ्युच्छ्य—शार्ङ्गदेव के श्लोक की पुनरावृति है। 'संगीत रत्नाकार' में पाठांतर अभ्युच्छ्रय है।

इसमें एकांतर से आरोहण करना चाहिए, अर्थात् एक स्वर को छोड़ दूसरा स्वर लेना चाहिए। 'संगीत पारिजात' में इसका उदाहरण नहीं है, अतः संपादक ने 'संगीत रत्नाकर' से उदाहरण लेकर अष्टक तक विस्तार दिखाया है। सोमनाथ ने इस अलंकार का उल्लेख नहीं किया है।

5. हसित—यह श्लोक भी 'संगीत रत्नाकर' का है। जहां एक-एक स्वर में उत्तरोत्तर वृद्धि हो, वैसे स्वरों के आरोहण को शिवप्रिय (शार्ङ्गदेव) ने 'हसित' कहा है। यहां एक-एक स्वर में उत्तरोत्तर वृद्धि का अर्थ अहोबल ने अन्य प्रकार से लिया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदाहरणार्थ—(अ) स। रि रि। ग ग ग। म म म म। प प प प प। ध ध ध ध ध ध। नि नि नि नि नि नि नि।

(ब) स। स रि। स रि ग। स रि ग म। स रि ग म प। स रि ग म प ध। स रि ग म प ध नि। स रि ग म प ध नि स।

6. प्रेंरिवत—दो-दो स्वरों को क्रमश: अपने पूर्व-स्वर से युक्त कर तथा आंदोलन करते हुए लेना 'प्रेंरिवत' है। शार्ङ्गदेव ने सभी स्वरों को ह्रस्व कहा जबकि सोमनाथ तथा अहोवल ने अंतिम स्वर पर आंदोलन दिखाने के लिए उसे दीर्घ किया है।

उदाहरणार्थ—स री। रि गा। ग मा। म पा। प धा। ध नी। नि सा।

7. आक्षिप्त—यह भी 'संगीत रत्नाकर' का श्लोक है, जिसमें एक-दो शब्दों का पार्थक्य है। परंतु अर्थ भिन्न है। शार्ङ्गदेव ने 'एकांतर स्वर-युग (द्वंद्व)' को अपने पूर्व-पूर्व स्वर से पर-पर (द्वितीय स्वर) के निर्माण का कारण बताया है। अहोबल ने दो-दो स्वरों की जोड़ियां, जो एकांतर स्वर (अपने द्वितीय से आगे का) हों तथा अपने पूर्व-स्वर को पर-स्वर त्याग दें (यहां तादृक शब्द का परिवर्तन कर व्यक्त कर दिया गया है) एवं ऐसा आरोहण करना 'आक्षिप्त' अलंकार है।

उदाहरणार्थ—(शार्ङ्गदेव) स ग। ग प। प नि। (अहोबल) स स ग ग। रि रि म म। ग ग प प। म म ध ध। प प नि नि। ध ध स स।

8. संधि प्रच्छादन—हनुमान् द्वारा यह अलंकार व्यक्त है। 'संगीत रत्नाकर' से यह भिन्न है। आदि के दो स्वरों को ह्रस्व कर तृतीय स्वर को दीर्घ करना चाहिए।

उदाहरणार्थ स रि गा। रि ग मा। ग म पा। म प धा। प ध नी। ध नि सा।

9. उद्‌गीत—इसमें आद्य स्वर को दो वार उच्चारण कर द्वितीय स्वर को एक वार उच्चारण करना चाहिए तथा तृतीय स्वर को एक वार एवं दीर्घ उच्चारित करते हैं।

उदाहरणार्थ—स स रि गा। रि रि ग मा। ग ग म पा। म म प धा। प प ध नी। ध ध नि सा।

10. उद्वाहित हनुमान द्वारा यह अलंकार प्रकीर्तित है। प्रथम स्वर चार वार, द्वितीय स्वर दो वार, तृतीय व चतुर्थ स्वर एक-एक वार उच्चारण करना चाहिए।

उदाहरणार्थ—स स स स रि रि ग म। रि रि रि रि ग ग म प। ग ग ग ग म म प ध। म म म म प प ध नि। प प प प ध ध नि स।

11. त्रिवर्ण—इनके श्लोक व उदाहरण 'संगीत रत्नाकर' के हैं। तृतीय स्वर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की आवृत्ति तीन वार होगी, प्रथम व द्वितीय स्वर की एक-एक वार।

उदाहरणार्थ— ('संगीत रत्नाकर') स रि ग ग ग। म प ध ध ध। ('संगीत पारिजात') स रि ग ग ग। रि ग म म म। ग म प प प। म प ध ध ध। प ध नि नि नि। ध नि स स स।

12. वेणी—वेणी का नामांतर 'पृथग्वेणी' भी है। यह भी 'संगीत रत्नाकर' से उद्धृत है। इसमें तीन स्वरों की तीन वार पुनरावृत्ति की जाएगी।

उदाहरणार्थ—(1) स स स रि रि रि ग ग ग। म म म प प प ध ध ध।

(2) स स स रि रि रि ग ग ग। रि रि रि ग ग ग म म म। ग ग ग म म म प प प। म म म प प प ध ध ध। प प प ध ध ध नि नि नि। ध ध ध नि नि नि स स स।

अवरोहेक्रमादेते द्वादशप्यवरोहिणि।

'संगीत रत्नाकर' के श्लोक के प्रथम चरण का उद्धरण देते हुए अहोवल यह स्वीकार करते हैं कि अवरोही अलंकार भी द्वादश हैं (जो आरोही अलंकार का व्युत्क्रम है।) रचना-विस्तार के भय से इसकी पुनरावृत्ति से विरत होना पड़ा।

संचारी वर्ण अलंकार

संचारीगत अलंकार शार्ङ्गदेव ने पच्चीस एवं अहोवल ने छब्बीस बताए हैं, जिनमें शार्ङ्गदेव-वर्णित एक ही अलंकार के दो भेद बताए हैं। 248 से 277 तक के श्लोकों में संचारी-अलंकार वर्णित हैं, जिनमें कहीं शार्ङ्गदेव का संपूर्ण अनुकरण है और कहीं एक-दो शब्दों में परिवर्तन कर दिए गए हैं। सोमनाथ के समय तक संभवतः तेरह ही संचारी-अलंकार प्रचलित रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने इतने ही अलंकारों का वर्णन किया है।

अलंकारों के नाम गिनाने के पश्चात् अहोबल कहते हैं—'स्वरों के यतस्ततः संचरण करने को 'संचारी-अलंकार' कहते हैं।' साथ ही 'मंद्रो विंदुशिरा ज्ञेयस्तारो मस्तकरेश्वकः' का पुनरुल्लेख करने का अभिप्राय अस्पष्ट है; क्योंकि स्थायीवर्ण अलंकार में ऐसा कहा जा चुका है। श्लोक के प्रथम चरण के साथ यह उचित भी प्रतीत नहीं होता। मंद्रादि अलंकार के प्रमाण में ऐसा चिन्ह भी नहीं दिया गया है। अतः यह पुनरुक्त दोष से दुष्ट मानना चाहिए। अतएव आगे कहे जाने वाले मंद्रादि अलंकारों का अर्थ मूर्च्छना में स्थित प्रथम स्वर (स) से लेना ही उचित होगा। ये अलंकार निम्नांकित हैं।

1. मंद्रादि—शार्ङ्गदेव-उल्लिखित उदाहरण से संपूर्ण भिन्न अहोवल का उदाहरण है। अहोवल के इन अलंकारों को देखने पर यह ज्ञात होता है कि उन्होंने अलंकारों का नाम तो शार्ङ्गदेव से लिया है, परन्तु उदाहरण अपने समय में प्रचलित अलंकारों से दिए हैं। दो गुरु काल से निर्मित मंद्रादि अलंकार का प्रारंभ मंद्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(प्रथम स्वर) से करना चाहिए। यह तीन स्थानों में विशिष्ट रूप से गतिमान है। स्वर शास्त्र-विचक्षणगण ऐसा अवरोह में भी करते हैं—अहोवल का ऐसा कथन है।

उदाहरणार्थ—स रि ग म म ग रि स, स रि ग रि स रि ग म। रि ग म प प म ग रि, रि ग म ग रि ग म प। ग म प ध ध प म ग, ग म प म ग म प ध। म प ध नि नि ध प म, म प ध प म प ध नि। प ध नि स स नि ध प, प ध नि ध प ध नि स।

2. मंद्र मध्य—यह अलंकार जगण से युक्त है जगण (छन्द) का अर्थ है ।S।; अर्थात् एक लघु, एक गुरु, एक लघु। इस अलंकार में भी वैसा ही नियम है, परंतु उदाहरण में स्वराक्षर का विभाजन ठीक नहीं है। इसके पूर्व के अलंकारों में भी जहां लघु-गुरु आदि काल का उल्लेख है, स्वर विभाजन उनमें भी ठीक नहीं है। यह ग्रन्थकार की भूल न मानकर पांडुलिपिकार का भ्रम मानना चाहिए।

उदाहरणार्थ—स ग रि ग, म ग रि ग रि ग रि स, स रि ग म। रि म ग म, प म ग म ग म ग रि, रि ग म प। ग प म प, ध प म प म प म ग, ग म प ध। म ध प ध, नि ध प ध प ध प म, म प ध नि। प नि ध नि, स नि ध नि ध नि ध प, प ध नि स।

3. मंद्रांत—मंद्र-स्थान जिसके अन्त में हो, वह 'मंद्रांत' है। मंद्र-स्थान का अर्थ क्रमशः आने वाले प्रथम स्वर से है। यह नगण (छन्द) अर्थात् लघु स्वर से सुशोभित है।

उदाहरणार्थ—स स रि रि, ग ग म ग, रि ग रि स। रि रि ग ग, म म प म, ग म ग रि। ग ग म म, प प ध प, म प म ग। म म प प, ध ध नि ध, प ध प म। प प ध ध, नि नि स नि, ध नि ध प।

4. प्रस्तार—अहोवल ने प्रथम स्वर के अनंतर दो-दो स्वरों का त्याग करने को कहा है, जबकि शार्ङ्गदेव ने एक स्वरांतर का त्याग किया है। शार्ङ्गदेव के श्लोक में उल्लिखित 'स्वरयुग्म' का परिवर्तन कर अहोवल ने 'स्वरद्वंद्वम्' कर दिया है। इन स्वर जोड़ियों के साथ आरोहण करना 'प्रस्तार' है। (स्थायी-अलंकार का प्रस्तार इससे भिन्न है।)

उदाहरणार्थ—स म। रि प। ग ध। म नि। प स।

5. प्रसाद—आद्य दो स्वर तीन बार आवृत्त करने के पश्चात् तृतीय व द्वितीय को एक साथ कहना 'प्रसाद' है। 'सरि सरि सरि गरि' स्वरों से यह निर्मित है।

उदाहरणार्थ—स रि स रि स रि ग रि। रि ग रि ग रि ग म ग। ग म ग म ग म प म। म प म प म प ध प। प ध प ध प ध नि ध। ध नि ध नि ध नि स नि।

6. व्यावृत—'संगीत रत्नाकार' के अनुसार यह चतुःस्वर कला का है, जो पुनः आदि स्वर पर जाकर मिलता है। अहोवल-वर्णित इस अलंकार का प्रथम भाग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

थोड़ा-बहुत 'संगीत-रत्नाकर' से मिलता हैं। अहोवल ने 'स ग रि म स रि ग म', क्रम से 'व्यावृत' अलंकार को 'गीतशास्त्र विशारद' ने जाना—ऐसा कहा है।

उदाहरणार्थ—स ग रि म स रि ग म। रि म ग प रि ग म प। ग प म ध ग म प ध। म ध प नि म प ध नि। प नि ध स प ध नि स।

7. चलित—'संगीत रत्नागर' में इसकी संज्ञा स्खलित है। सोमनाथ ने 'संगीत रत्नाकर' का अनुसरण किया है। अहोवल ने 'संगीत रत्नाकर' के दिए हुए उदाहरण के अंत में अधिक स्वर जोड़ दिया है (क्योंकि 'संगीत रत्नाकर' के उदाहरण के साथ इनके स्थायी अलंकार का प्रस्तार अभिन्न हो जाता है।)

उदाहरणार्थ—स ग रि म म रि ग स स रि ग म। रि म ग प प ग म रि रि ग म प। ग प म ध ध म प ग ग म प ध। म ध प नि नि प ध म म प ध नि। प नि ध स स ध नि प प ध नि स।

8. परिवर्त्त—'संगीत-रत्नाकर' में इसे त्रिस्वर कला कहा है, जबकि अहोवल ने इसे चतुःस्वर कला के रूप में यति ताल में बैठाया है। उदाहरण भी भिन्न है।

उदाहरणार्थ—स ग म रि। रि म प ग। ग प ध म। म ध नि प। प नि स ध।

9. आक्षेप—क्रम से तीन स्वरों को बोलना बुधगण 'आक्षेप अलंकार' कहते हैं। उदाहरण 'संगीत-रत्नाकर' के समान ही है।

उदाहरणार्थ—स रि ग। रि ग म। ग म प। म प ध। प ध नि। ध नि स।

10. बिंदु—आद्य स्वर दीर्घ तथा तीन बार आवृत्त करना है, उससे उत्तर (द्वितीय) स्वर ह्रस्व है, पुनः आदि-स्वर दीर्घ एवं तृतीय स्वर दीर्घ लेना है। गीत-विचक्षणों ने इसे बिंदु कहा है। 'संगीत-रत्नाकर' से उदाहरण पृथक् है।

उदाहरणार्थ—सा सा सा रि सा गा। री री री ग री मा। गा गा गा म गा पा। मा मा मा प मा धा। पा पा पा ध पा नी। धा धा धा नि धा सा।

11. उद्घाहित—इस अलंकार का उदाहरण 'संगीत-रत्नाकर' जैसा है।

उदाहरणार्थ—स रि ग रि। रि ग म ग। ग म प म। म प ध प। प ध नि धा। धा नि स नि।

12. उर्मि—यह भी 'संगीत-रत्नाकर' से मिलता है। आद्य स्वर के पश्चात् चतुर्थ स्वर तीन बार लेना है, पुनः आद्य स्वर एवं चतुर्थ स्वर का उच्चारण करना है।

उदाहरणार्थ—स म म म स म। रि प प प रि प। ग ध ध ध ग ध। म नि नि नि म नि। प स स स प स।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

13. सम—'स रि ग म' का आरोहण कर फिर अवरोहरण किया जाए तथा पुनः उस स्वर का आरोहण हो, सुधीजन उसे 'सम' कहते हैं। शार्ङ्गदेव ने आरोहण करने की बात नहीं कही।

उदाहरणार्थ—स रि ग म म ग रि स स रि ग म। रि ग म प प म ग रि रि ग म प। ग म प ध ध प म ग ग म प ध। म प ध नि नि ध प म म प ध नि। प ध नि स स नि ध प प ध नि स।

14. प्रेरव—दो-दो स्वरांतरों में स्वरद्वंद्व (जोड़ी), जो क्रमशः आरंभ के स्वर को त्याग कर बनाया जाए तथा जहां एक-एक स्वर का त्याग हो, 'प्रेरव' है। 'संगीत-रत्नाकर' से यह संपूर्ण भिन्न है (यहां अलंकारों की संख्या गिनाने में भ्रम से चौदह के स्थान पर तेरह हो गया है एवं वही भ्रम आगे के अलंकारों में प्रयुक्त है।)

उदाहरणार्थ—स स म म। रि रि प प। ग ग ध ध। म म नि नि। प प स स।

15. निष्कूजित—आद्य तथा चतुर्थ स्वर को दो बार आवृत्त किया जाए, पुनः 'स' से 'म' तक क्रम (स्वरों के) से कहा जाए एवं इसी तरह एक-एक स्वर की हानि हो, तो वह 'निष्कूजित' है।

उदाहरणार्थ—स म स म स रि ग म। रि प रि प रि ग म प। ग ध ग ध ग म प ध। म नि म नि म प ध नि। प स प स प ध नि स।

16. श्येन—श्येन को 'संगीत रत्नाकर' में 'संवादियुग्मक' के रूप में बताया गया है। अहोबल ने आद्य स्वर के साथ क्रम से एक-एक स्वर का वर्जन करते हुए सभी स्वरों को स्पर्श करने को कहा है। यह अनिबद्ध अर्थात् ताल-रहित अलंकार है।

उदाहरणार्थ—स रि स ग स म स प स ध स नि स स।
रि ग रि म रि प रि ध रि नि रि स।
ग म ग प ग ध ग नि ग स।
म प म ध म नि म स।
प ध प नि प स।
ध नि ध स।
नि स।

17. क्रम—'सरि रिग गम' को क्रम से कहना 'क्रम' अलंकार है।

उदाहरणार्थ—स रि रि ग ग म। रि ग ग म म प। ग म म प प ध। म प प ध ध नि। प ध ध नि नि स।

18. उद्घाटित—'संगीत रत्नाकर' में इसे 'उद्घाट्टित' कहा गया है। आंदोलन के द्वारा 'सग सग सरिगम' का जो क्रम बनता है, वह 'उद्घाटित' है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदाहरणार्थ—स ग स ग स रि ग म। रि ग रि ग रि ग म प। ग म ग म ग म प ध। म प म प म प ध नि। प ध प ध प ध नि स।

19. सन्निवृत्त—सदा सुखदायक यह 'सन्निवृत्त' अलंकार 'सरिग रिगम गरि सरि गम' के स्वर-समुदाय से बना है।

उदाहरणार्थ—स रि ग, रि ग म, ग रि स रि, ग म। रि ग म, ग म प, म ग रि, ग म प। ग म प, म प ध, प म ग, म प ध। म प ध, प ध नि, ध प म प ध नि। प ध नि, ध नि स, नि ध प, ध नि स।

20. प्रवृत्तक—'सन्निवृत्त' के स्वरों को द्विगुण बनाने से 'प्रवृत्तक' होता है। यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि शार्ङ्गदेव ने 'सन्निवृत्त प्रवृत्तक' एक ही अलंकार बताया है, जबकि अहोबल इन्हें दो अलग अलंकार मानते हैं, जिनमें प्रथम एक-एक स्वर के तथा द्वितीय स्वर द्वंद्व के बने हैं। अहोबल ने इस अलंकार का उदाहरण केवल प्रथम स्वर का ही दिया है, विस्तार नहीं किया। यहां विस्तारित रूप से अलंकार वर्णित है।

उदाहरणार्थ—स स रि रि ग ग, रि रि ग ग म म, ग ग रि रि स स, रि रि ग ग म म। रि रि ग ग म म, ग ग म म प प, म म ग ग रि रि, ग ग म म प प। ग ग म म प प, म म प प ध ध, प प म म ग ग, म म प प ध ध। म म प प ध ध, प प ध ध नी नी, ध ध प प म म, प प ध ध नि नि। प प ध ध नि नि, ध ध नि नि स स, नि नि ध ध प प, ध ध नि नि स स।

21. वेणु—'समगम सरिगम' ऐसे स्वरों से 'वेणु' जानना चाहिए।

उदाहरणार्थ—स म ग म स रि ग म। रि प म प रि ग म प। ग ध प ध ग म प ध। म नि ध नि म प ध नि। प स नि स प ध नि स।

22. ललित स्वर—आद्य-चतुर्थ-तृतीय स्वरों को दो बार पुनरावृत्ति के पश्चात् 'रिस सरिगरि सरिगम' करने पर सुखद 'ललित स्वर' अलंकार का निर्माण होता है।

उदाहरणार्थ - स स म म ग ग रि स स रि ग रि स रि ग म। रि रि प प म म ग रि रि ग म ग रि ग म प। ग ग ध ध प प म ग ग म प म ग म प ध। म म नि नि ध ध प म म प ध प म प ध नि। प प स स नि नि ध प प ध नि ध प ध नि स।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

23. हुंकार—युग्म स्वरों का जहां संवाद हो, वहां 'हुंकृति' या 'हुंकार' अलंकार है। शार्ङ्गदेव-वर्णित 'श्येन' अलंकार को ही यहां दो लघु स्वर-द्वंद्वों द्वारा बनाया गया है।

उदाहरणार्थ- स स प प। रि रि ध ध। ग ग नि नि। म म स स।

24. ह्लादमान —'संगीत पारिजात' की अन्य पांडुलिपि में 'ह्लादमान' पाठ भेद है। शार्ङ्गदेव व सोमनाथ ने भी ऐसा ही कहा है। अहोबल ने 'समगरि' के स्वर-समुदाय से इस अलंकार का उल्लेख किया है। शार्ङ्गदेव ने 'सगरिस' के रूप में उदाहरण दिया है।

उदाहरणार्थ—स म ग रि। रि प म ग। ग ध प म। म नि ध प। प स नि ध।

25. अवलोकित—आद्य व चतुर्थ स्वर को तीन बार आवृत्त करने पर 'अवलोकित' बनता है।

उदाहरणार्थ—स स स म म म। रि रि रि प प प। ग ग ग ध ध ध। म म म नि नि नि। प प प स स स।

संचारी-अलंकारों के वर्णन के प्रारंभ में अहोबल के सम्मुख निश्चय ही शार्ङ्गदेव के 'संगीत-रत्नाकर' का अलंकार प्रकरण था। फिर भी लक्ष्यानुसार उन्होंने 'सन्निवृत्त' एवं 'प्रवृत्तक' को दो बना दिया, जो शार्ङ्गदेव के अनुसार एक ही अलंकार है। अलंकारों के नाम गिनाते समय अहोबल ने 'सन्निवृत्तश्च प्रवृत्तों' कहा है एवं उदाहरण भी दो दिए हैं। फिर भी संचारी अलंकारों की संख्या 25 कही है। ऐसा लगता है कि उन्हें संख्या गिनाने में भ्रम हो गया होगा तथा 'सम' के पश्चात् 'प्रेरव' अलंकार की संख्या वही तेरह गिनाई है और यह भ्रम अंत तक रहा।

उपर्युक्त पैंतालीस अलंकारों के अतिरिक्त अन्य कई अलंकारों का पुन: वर्णन किया गया है। संचारी-अलंकार को आरोहावरोह दोनों स्थानों में प्रयुक्त किया जा सकता है। इनके अलावा गीतज्ञ सात अलंकार बताए हैं। वेंकटमखी एवं तुलजा जी ने गीतज्ञों द्वारा कहे ऐसे अलंकारों का उल्लेख किया है। शार्ङ्गदेव ने भी गीतज्ञों के द्वारा वर्णित अन्य सात अलंकारों की चर्चा की है, जिसे टीकाकार सिंहभूपाल ने 'लोक प्रसिद्ध अलंकार' की संज्ञा दी है। पं० सोमनाथ ने केवल दो ही लोक-प्रसिद्ध अलंकारों का उल्लेख किया है। पर यह 'लोक-प्रसिद्ध' कुछ अस्पष्ट शब्द ही है।

इंद्रनील, महावज्र, निर्दोष, सोर, कोकिल, आवर्त्तक, सदानंद—इन सात अलंकारों में अहोबल ने शार्ङ्गदेव के अन्य सात अलंकारों में से केवल 'आवर्त्तक' की पुनरावृत्ति की है, परंतु उदाहरण सर्वथा भिन्न है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन सात अलंकारों में से प्रत्येक के अपने-अपने ताल हैं, अर्थात् हर एक अलंकार तालबद्ध है। वैसे, स्थायी आदि अलंकारों में भी किसी-किसी को ताल में निबद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाया गया। परंतु वे अधिक नहीं हैं जबकि यह संपूर्ण सातों अलंकार तालबद्ध हैं। वेंकटमखी द्वारा कहे गए (केवल) आठ अलंकारों में से सात इनके अलंकारों के समान हैं। दक्षिण के सप्त सूलादि तालों के अलंकार जो वेंकटमखी ने कहे हैं, अहोवल के गीतोपयोगी (आलोच्य) अलंकारों में वे सभी विद्यमान हैं। अहोवल ने इन तालयुक्त अलंकारों के भिन्न नाम दिए हैं, जबकि वेंकटमखी ने तालों के नाम पर ही अलंकारों के नाम रखे हैं, जैसे ध्रुव ताल द्वारा बद्ध 'ध्रुवतालालंकार' आदि। तंजोर राज तुलजा जी-रचित 'संगीत सारामृत' की एक अप्रकाशित पांडुलिपि में इन सातों अलंकारों का उल्लेख है, जो इन्हीं के अनुकरण-मात्र हैं एवं कहीं-कहीं पर स्वर-विभाजन पृथक् है। इन्होंने यह कहा कि लक्ष्य-लक्षणकोविद इन अलंकारों की संज्ञा पृथक्-पृथक् आधार-तालों के नामों के अनुसार व्यवहार करते हैं। अहोवल एवं वेंकटमखी के वर्णित अलंकारों के तुलनात्मक विवेचन के साथ इनका भी यथास्थान उल्लेख करना अनुचित न होगा।

1. **इन्द्रनील**—ध्रुव ताल से शोभित 'इंद्रनील' अलंकार 'सरिगमगरि सरिगरि सरिगम', ऐसे स्वर-समुदाय से निर्मित है। वेंकटमखी के ध्रुवालंकार का उदाहरण ऐसा ही है। परंतु तुलजा जी का स्वर-विभाजन पृथक् है।

उदाहरणार्थ—स रि ग म, ग रि, स रि ग रि, स रि ग म। रि ग म प, म ग, रि ग म ग, रि ग म प। ग म प ध, प म, ग म प म, ग म प ध। म प ध नि, ध प, म प ध प, म प ध नि। प ध नि स, नि ध, प ध नि ध, प ध नि स। (अहोवल एवं वेंकटमखी) स रि ग म ग रि स रि गरि स रि ग म। (तुलजा जी ने विस्तार नहीं किया।)

2. **महावज्र**—मंठताल से यह अलंकार शोभित है, जिसके स्वर 'स रि ग रि स रि स रि ग म' हैं। वकटमखी का मंठालंकार ऐसा ही है, स्वर विभाजन कुछ अलग है। तुलजा जी का उदाहरण अहोवल से अभिन्न है। अहोवल का उदाहरण आज भी कर्नाटक संगीत में प्रचलित है।

उदाहरणार्थ—(अहोवल) स रि ग रि, स रि, स रि ग म। रि ग म ग, रि ग, रि ग म प। ग म प म, ग म, ग म प ध। म प ध प, म प, म प ध नि। प ध नि ध, प ध, प ध नि स।

(वेंकटमखी) स रि, ग रि स रि, स रि ग म। रि ग, म ग रि ग रि ग म प। ग म, प म ग म, ग म प ध। म प, ध प म प, म प ध नि। प ध, नि ध प ध, प ध नि स।

3 **निर्दोष** रूपक ताल में निबद्ध 'निर्दोष' अलंकार में 'स रि स रि ग म' का क्रम है। वेंकटमखी तथा तुलजा जी ने भी रूपकालंकार का कुछ ऐसा ही क्रम रखा है। मध्ययुगीय एवं वर्तमान कर्नाटकीय रूपक ताल यही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदाहरणार्थ—स रि, स रि ग म। रि ग, रि ग म प। ग म, ग म प ध। म प, म प ध नि। प ध, प ध नि स।

4. सोर—झंप ताल से शोभित 'सोर' अलंकार में 'स रि स रि ग स रि ग म' का क्रम है। 'संगीत-रत्नाकर' में 'झंपतालो विरामांत द्रुत-द्वंद्व लघुस्तथा' कहा गया है; उसी के अनुसार उदाहरण में अंतिम अक्षर का गुरु होना आवश्यक है। परन्तु अहोवल के उदाहरण में एक अक्षर कम है, श्लोक में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। वेंकटमखी ने नाटझंपा, वीणा-झंपा, ऐसा द्विविध झंपालंकार कहा है। इसमें वाग्गेयकार का झंपा (वीणा झंपा) 'विरामांत द्रुतो मतः' का है, जो सप्ताक्षर के पश्चात् तीन अक्षरों के उच्चारण का है। इनका उदाहरण अहोवल से कुछ भिन्न है तथा दक्षिण में प्रचलित है। तुलजा जी का विभाजन तथा स्वरावली कुछ भिन्न है।

उदाहरणार्थ—(अहोवल) स रि स रि ग स रि ग म।
रि ग रि ग म रि ग म प। ग म ग म प ग म प ध।
म प म प ध म प ध नि। प ध प ध नि प ध नि स।

(वेंकटमखी) स रि ग स रि स रि ग, मा।
रि ग म रि ग रि ग, म, पा। ग म प ग म ग म, प, धा।
म प ध म प म प, ध, नी। प ध नि प ध प ध, नि, सा।

(तुलजा जी) स रि ग, स रि, स रि ग मा। रि ग म, रि ग, रि ग म पा।

5. कोकिल—'स रि ग स रि ग म' के क्रम से 'कलिका' (अलंकार) ही त्रिपुट ताल से वद्ध होने पर 'कोकिल' कहलाता है। इनका उदाहरण कर्नाटक संगीत में प्रचलित है। वेंकटमखी तथा तुलजा जी के स्वर-विभाजन कुछ भिन्न हैं।

उदाहरणार्थ—(अहोवल) स रि ग स रि, ग म। रि ग म रि ग, म प। ग म प ग म, प ध। म प ध म प, ध नि। प ध नि प ध, नि स।

(वेंकटमखी) स रि, ग स, रि ग म। रि ग, म रि, ग म प। ग म, प ग, म प ध। म प, ध म, प ध नि। प ध, नि प ध नि स।

(तुलजा जी) स रि ग, स रि ग म। रि ग म, रि ग म प।

6. आवर्त्त—अड्डतालावद्ध 'आवर्त' अलंकार का स्वर क्रम ऐसा है।

उदाहरणार्थ—स रि ग रि स रि स रि स रि ग म। रि ग म ग रि ग रि ग रि ग म प। ग म प म ग म ग म ग म प ध। म प ध प म प म प म प ध नि। प ध नि ध प ध प ध प ध नि स।

वेंकटमखी ने चौदह अक्षरों से युक्त यह अलंकार बताया है तथा संज्ञा 'अठतालालंकार' दी है, जो खंड जाति का है। तुलजा जी का 'अड्डतालालंकार' इससे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भिन्न है एवं उदाहरण में कहीं-कहीं स्वरों की मात्रा भ्रष्ट है।

वेंकटमखी—स रि, इ ग, अ सा रि ग, अ मा मा। रि ग, अ म, अ री ग म, अ पा पा। ग म, ड प, अ गा म प, अ धा धा। म प, ड ध, अ मा प ध, अ नी नी। प ध ड नि, इ पा ध नि, इ सा सा।

तुलजा जी—स रिग्गा सा रि ग म मा। रि गा मा री ग मा पा पा।

7. सदानंद—लघु ताल में बद्ध 'सदानंद' का स्वर-समुदाय है—'स रि ग म'। वेंकटमखी का आठवां अलंकार एकतालालंकार है, जो 'एक द्रुत' से बना है। पर इन्होंने भी इस एकताल के स्थान पर आदिताल की योजना की, क्योंकि लक्ष्य में एक ताल रक्तिप्रद न था। अहोबल का यह अलंकार एक लघु (चार अक्षर) से बना है। 'चतुर्दण्डि प्रकाशिका' में उदाहरण अप्राप्य है।

तुलजा जी—वर्णित 'एकतालालंकार' अहोबल के उदाहरण से अभिन्न है।

उदाहरणार्थ—स रि ग म। रि ग म प। ग म प ध। म प ध नि। प ध नि स।

गीतोपयोगी सात तालों के प्रदर्शन के पश्चात् अब पुनः 'रागोपयोगी' पांच अलंकारों का स्मरण किया जा रहा है। गीतोपयोगी तथा रागोपयोगी कहने का तात्पर्य सम्भवतः ऐसा हो सकता है—तालबद्ध विशेष अलंकार गीतोपयोगी है। गीतोपयोगी अलंकार कर्नाटक संगीत में आज भी सप्त सूलादि तालों के साथ व्यवहार्य है, जो सूड प्रबन्ध के लिए निश्चित है। अहोबल से वेंकटमखी एवं तुलजा जी में पार्थक्य यह है कि अहोबल के गीतोपयोगी अलंकार की संज्ञाएँ भिन्न हैं, जबकि वेंकटमखी ने इन अलंकारों का नाम तालों के नाम पर ही रखा एवं तुलजा जी ने उनका अनुसरण किया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वेंकटमखी के समय तक तालबद्ध अलंकारों की स्वर संज्ञाएं न रहीं, यद्यपि उदाहरण प्रायः वही रह गये थे। अतः तालों के नाम पर ही वे परिचित रहे, जो आज भी कर्नाटक में प्रचलित हैं।

अहोबल ने स्थायी आदि अलंकारों में भी कहीं-कहीं ताल की चर्चा करते हुए कहा है—'जहां काल को नहीं कहा, वहां स्वर की प्रधानता समझनी चाहिए।' चूंकि अहोबल के प्रायः सभी अलंकार (स्थायी से संचारी तक) चतुरस्र जाति के हैं, अतः उनमें कहीं-कहीं ताल बताने की छूट दी जा सकती है।

रागोपयोगी अलंकारों को देखने से ज्ञात होता है कि इनके चलन में एक वैशिष्ट्य तथा इनके अभ्यास के पश्चात् रागों के विस्तार में विशेष असुविधा का अवकाश नहीं रह जाता। ये क्रमशः वर्णित हैं :—

1. चक्राकार—चक्र-सदृश रूपवान् होने से इसे 'चक्राकार' कहा है। चार वार 'रि', फिर 'स', पुनः तीन वार 'रि' का उच्चारण करने से यह अलंकार बनता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदाहरणार्थ—रि रि रि रि स रि रि रि। ग ग ग ग रि ग ग ग। म म म म ग म म म। प प प प म प प प। ध ध ध ध प ध ध ध। नि नि नि नि ध नि नि नि। स स स स नि स स स।

2. जव—क्रम से सभी स्वरों का उच्चारण करने के पश्चात् अंतिम स्वरों में से एक-एक स्वर की हानि करना हनुमान ने 'जव' अलंकार कहा है।

उदाहरणार्थ—स रि ग म प ध नि स नि ध प म ग रि स
स रि ग म प ध नि ध प म ग रि स
स रि ग म प ध प म ग रि स
स रि ग म प म ग रि स
स रि ग म ग रि स
स रि ग रि स
स रि स
स

3. शंख -अंतिम स्वर दीर्घ एवं दो बार आवृत्त हो, पुनः उसके उपांत (निकट) के स्वर एवं उपांत के अधः स्वर को एक-एक बार आवृत्ति हो; ऐसा जहां स्वर-संबंध है, मनीषियों ने वहां 'शंख' अलंकार माना है।

उदाहरणार्थ—सा सा नि ध। नी नी ध प। धा धा प म। पा पा म ग। मा मा ग रि। गा गा रि स।

4. पद्माकार : एक षड्ज, एक ऋषभ, तीन षड्ज, पुनः एक ऋषभ तथा दो गांधार 'पद्माकार' अलंकार का रूप है। इसी प्रकार विस्तार होगा।

उदाहरणार्थ—स रि स स स रि ग ग। रि ग रि रि रि ग म म। ग म ग ग ग म प प। म प म म म प ध ध। प ध प प प ध नि नि। ध नि ध ध ध नि स स।

5. वारिद—आद्य स्वर का एक बार उच्चारण कर सप्तम स्वर को तीन बार आवृत्त करना फिर क्रमशः एक-एक स्वर की हानि करना 'वारिद' अलंकार है।

उदाहरणार्थ—स नि नि नि। स ध ध ध। स प प प। स म म म। स ग ग ग। स रि रि रि। स स स स।

अहोवल ने अलंकार अड़सठ बताए हैं, जबकि शार्ङ्गदेव ने तिरेसठ, भरत ने उनतालीस तथा सोमनाथ ने शार्ङ्गदेव के ही अलंकारों की संख्या में कम करके केवल बत्तीस बताए हैं।

परिशिष्ट में अहोवल यही कहते हैं कि अलंकारों के अभ्यास के बिना रागों का विस्तार असंभव है। तुलजा जी ने भी यही कहा कि गीत-वाद्य के आरम्भ में गीतोपयोगी अलंकारों का प्रयोग होना चाहिए। साथ ही गीतोपयोगी एवं रागोपयोगी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अलंकारों के अतिरिक्त स्थायी से संचारी तक के अलंकारों को हम अभ्यास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मान सकते हैं, जो रागों की शिक्षा एवं विस्तार के लिए प्रयोजनीय है। अहोबल पुनः कहते हैं कि इन अलंकारों के अभ्यास के पश्चात् गायक स्वर-ताल में प्रवीणता प्राप्त करते हैं।

अलंकार-प्रकरण के अंतिम श्लोक में अहोबल राग के त्रिविध प्रकार (संपूर्ण-षाडव-औडुव) के समान अलंकार को भी 'त्रिविध' कहते हैं। अर्थात् जैसी राग की जाति है, उसी प्रकार अलंकारों का रूप होना आवश्यक है। जिस प्रकार मेल-भेद से राग में वृद्धि होती है, उसी प्रकार शास्त्र-सम्मत (मेल भेद से) अलंकारों के अनंत भेद हो जाते हैं।

वर्तमान काल में अलंकारों की संज्ञा संगीतज्ञ वर्ग परम्परा के टूटने के कारण भूल गये हैं, किन्तु इनका प्रयोग प्रचलित है। प्रायोगिक शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व अलंकारों की शिक्षा देने की जो प्रचलित प्रथा है, उनमें से अधिकांश अलंकार इन शास्त्रज्ञों द्वारा वर्णित हैं। कर्नाटक संगीत में विशेषकर सप्त सूलादि प्रबंधों के प्रारंभ में सप्ततालालंकार की शिक्षा दी जाती है, जो अहोबल एवं वेंकटमखी द्वारा वर्णित हैं। हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में यद्यपि ऐसा कोई नियम नहीं है, फिर भी गायन या वादन की शिक्षा ग्रहण करते समय कंठ या हस्त-संचालन में पारदर्शिता-लाभ करने हेतु अलंकारों का अभ्यास करना अत्यावश्यकीय है एवं ये अलंकार इन्हीं विद्वज्जन-वर्णित अलंकारों का विकसित तथा विस्तृत रूप हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. संगीत पारिजात।
2. संगीत रत्नाकार अध्याय 1, सिंहभूपाल व कल्लिनाथ की टीका सहित।
3. राग विबोध।
4. चतुर्दण्डी प्रकाशिका।
5. रस कौमुदी।
6. रागमाला।
7. संगीत सारामृत।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4

संगीत में गुण-दोष विचार

जीवन की प्रत्येक स्थिति में गुण-दोष शब्द आते हैं। जिस विशेष धर्म का फल सुन्दर एवं शिव हो, वह है गुण, एवं जिसका प्रभाव इससे विपरीत पड़े, वह दोष के रूप में जाना जाता है। अन्यान्य विषयों की तरह संगीत में भी गुण-दोष का विचार किया गया है, जिसका एक संक्षिप्त रूप हमें सर्वप्रथम 'नारदीय शिक्षा' में मिलता है। नारद ने गान के गुण-दोष का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त भरत ने गायक-गायिका; वैणिक-वैणुक (वंश-वादक), आचार्य, कंठ (शारीर) के गुण-दोषों का वर्णन किया है। सोमेश्वर, शार्ङ्गदेव, राणा कुंभ ने थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ इन्हीं की व्याख्या की है।

> गुणात् प्रवर्तते गानं दोषंचै (वाच्चै) व निरस्यते।
> तस्मात् यत्नेन विज्ञेयौ गुणदोषौ समासतः॥

जैसे—'गुणों से गान प्रवर्तित होता है, यानी आगे बढ़ता है। और दोष से उसका निरसन होता है, अतः गुण-दोषों को यत्न से जानना चाहिए।' इस पर अभिनवगुप्त ने अत्यन्त विस्तृत टीका की है। इनके अनुसार पहले गांधर्व का स्वरूप, फिर प्रकृत नाट्योपयोगी ध्रुवागान को कहने के पश्चात् उन दोनों (गांधर्व-गान) में परतत्त्व (गुण-दोष) का निरूपण करने के लिए अन्य अध्याय का आरम्भ किया जाता है। अभिनवगुप्त को 'गुण-दोष विचार' के लिए पृथक् अध्याय अभिप्रेत है तथा बंबई-संस्करण में भी इस नियम का पालन किया गया है, जबकि काशी-संस्करण में इस अध्याय को ध्रुवा-प्रकरण के अंतर्गत ही रखा गया। उपर्युक्त अध्याय की पृथक्ता की अभिनवगुप्त ने सुन्दर रूप से आलोचना, समर्थन (Support) एवं पुष्टि की है। किसी-किसी के अनुसार चूंकि गान का कार्य उपरंजनात्मक है, गांधर्व का नहीं, अतः गुण-दोष गान के लिए ही हैं। उपरंजन तो गुण-दोष के अनुसार ही संभव है। अभिनवगुप्त के अनुसार ऐसी बात नहीं है—'स्व-स्व-स्वरूप के अनुसार प्रवृत्त कृतकार्य का फल भी विधि के आदेश से वैसा ही होता है। शारीर (कंठ) एवं दारवी (वीणादि) की संपत्ति स्वर के रूप में हैं। अगर कंठ रक्त (रंजनात्मक) न हो तथा हस्त मधुर न हो तो वहाँ लय-ताल का ज्ञान कहाँ से होगा। अतः इन काल-संपत्ति की विकृति अर्थात् तत्त्व ज्ञान से रहित होने पर कर्ता (गायकादि) को अदृष्ट फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है?··· क्योंकि अदृष्ट फल की सिद्धि अपरुष, मधुर, रंजनात्मक स्वर में ही होती है, जो कि ताल-स्वर द्वारा गुणायत्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने से ही संभव है। अतः यहाँ जो भी विचार गुण-दोष का किया जाएगा, वह गांधर्व एवं गान, दोनों के लिए प्रयोज्य है।'

गान शब्द में भी प्रयोजनानुसार अर्थ-भेद किया गया है। नारद ने 'गानस्य तु दशविधा गुणवृत्तिस्तद्यथा' कहा है, जहाँ अभिनवगुप्त ने 'गान' शब्द की पुष्टि की है। उनके अनुसार नारदादि गंधर्वों को 'गान' के लिए नियोजित किया गया है। यहाँ 'गान' शब्द सामान्य वचन है। यहाँ 'गान' का अर्थ गीति से लिया गया है, ~~जिसे~~ जिसे शार्ङ्गदेव ने 'गीतगुण' कहा है।

फिर भी विशेष रूप से गुण-दोष विवेचन गान (जो गंधर्वप्रभव एवं नाट्योपयोगी है) के लिए ही उपयोगी है; यद्यपि मधुर कंठ, जितहस्त, तालादि गुणों का उपादान दोनों में ही होना आवश्यक है। विस्वरता दोनों में वर्जित है, फिर भी चूंकि रंग (Stage) में बैठकर गाना आवश्यक होता है, अतः गायक को प्रत्यग्रवय (युवावस्था) का होना गान के लिए अधिक आवश्यक है, गांधर्व के लिए नहीं; क्योंकि गांधर्व का फल प्रयोक्ता को मिलता है, श्रोता को नहीं; अतः गांधर्व-गाता को रूपवान् होने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी गान के प्रयोक्ता को है। फिर शंका यह उत्पन्न होती है कि पूर्व रंग अध्याय ('नाट्यशास्त्र', अध्याय 1, पृष्ठ 211) में गीतकों (गांधर्व के अंतर्भूत गान, जो देव-परितोष में प्रयुक्त है) के प्रयोग में देव-परितोष के साथ ही श्रोता के चित्त को एकाग्र करने का विधान है; वहाँ अगर प्रयोक्ता अपंग या कुशारीरयुक्त हो तो श्रोता का चित्त एकीभूत न होकर क्या असंवेदनशील नहीं हो जाएगा, जबकि नाट्य का प्रयोजन ही विनोद है! जैसा कि 'नारदीय शिक्षा' के टीकाकार भट्ट शोभाकर ने कहा है—'लौकिकं वैदिकं च गानं दशगुणं युक्तं तु वेदिकार्यमित्युच्यते'; तथा अभिनवगुप्त ने भी गांधर्व-गान, दोनों विधि के लिए गुण-दोष को आवश्यक माना है, वही उचित प्रतीत होता है।

अब गान या गीत के दशविध गुणों का क्रम से वर्णन किया जा रहा है, जिसे भरत ने कुछ न्यूनाधिक कर गायक-गायिका के गुण-दोष के अन्तर्गत रखा है, जो विश्लेषण के साथ उल्लिखित होंगे।

'नारदीय शिक्षा' में गान या गीत के दस गुण हैं—रक्त (सुरक्त—'संगीत-रत्नाकर'), पूर्ण, अलंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विक्रुष्ट (विकृष्ट—'संगीत-रत्नाकर'), श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार, मधुर। इन्हीं को क्रम-भेद कर 'संगीत-रत्नाकर' में वर्णित किया गया है। ये क्रमशः ऐसे हैं—

1. रक्त—जब वेणु, वीणा एवं (गायक के) कंठ-स्वर का एकीभाव हो तो उसे 'रक्त' कहते हैं। शार्ङ्गदेव के अनुसार वल्लकी आदि वीणा, वंश एवं कंठ की ध्वनि एकता से युक्त होने पर 'सुरक्त' गुण है। यह नारद की व्याख्या का भावानुवाद (Paraphrase) है। एक प्रश्न यह उठता है कि वल्लकी वीणा का नाम लेने की शार्ङ्गसूरि को क्या आवश्यकता थी, एकतंत्री, त्रितंत्री आदि वीणाओं का उल्लेख

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्यों नहीं किया ? क्या इसमें कोई वैशिष्ट्य रहा होगा, जिससे इसका नाम लेने की कोई आवश्यकता हुई ? क्योंकि वल्लकी वीणा का कोई उल्लेख या व्याख्या नाट्याध्याय में नहीं है। यह सचमुच मननीय विषय है।

2. **पूर्ण**—गान के स्वर अर्थात् मध्यम आदि स्वर विशेष (चूंकि मध्यम स्वर साम का एक विशेष स्वर रहा था, अथवा 'मध्यम स्वर' का 'अर्थ मतंगानुसार' 'मध्य-स्थानीय स्वर' से लें तो भी असंभव नहीं है), श्रुति अर्थात् द्वित्रि-चतुःश्रुति का उचित प्रयोग, करण (उच्चारण) का पूरण (पाद-पूर्ति), संहिता के पाद, छंद अक्षरादि के संयोग से 'पूर्ण' है। निश्शंक के अनुसार पूर्णांग गमक अर्थात् 15 गमकों के सभी भेदों का स्वर में उचित प्रयोग 'पूर्ण' है। स्पष्ट है कि इनके समय तक प्रयोग में परिवर्तन आ गया था।

3. **अलंकृत**—उर (हृदय), कंठ एवं शिर (मंद्र-मध्य-तार) इन तीनों स्थानों से अलंकारों का प्रयोग 'अलंकृत' है। शार्ङ्गदेव और कुंभ का यही कथन है।

4. **प्रसन्न**—शंकाहीन एवं गद्गद् (अस्पष्ट ध्वनि) कंठ से रहित गान-क्रिया 'प्रसन्न' है। शार्ङ्गसूरि ने 'प्रसन्न' से अर्थ का प्राकट्य' अर्थात् शब्द का स्पष्ट उच्चारण माना है, जिससे अर्थ प्रकट हो जाए; कुंभ ने इसके साथ वैदर्भी रीति को जोड़ा है। यह रीति संभवतः स्पष्ट उच्चारण के लिए विख्यात रही हो।

5. **व्यक्त**—पद (सविभक्ति शब्द), पदार्थ (पद के अर्थ का बोध, जो स्वर द्वारा संभव है), प्रकृति (शब्द प्रकृति या धातु तिङादि प्रत्यय), वृद्ध्यादि विकार, आगम (अधिक शब्द का समावेश), लोपकृत, तद्धित (प्रत्ययादि), समास (द्वंद्व-तत्पुरुषादि), धातु, निपात, उपसर्ग, स्वर (उदात्त-अनुदात्तादि), लिंग (स्त्री आदि), वृत्ति (सामान्य अर्थ का कारण), वार्तिक (ऊहापोह आदि विशेष अर्थों का सुस्पष्ट कारण), विभक्ति, वचन (एक-द्वि आदि)—इन सबका जहाँ उपपादन हो, वहाँ 'व्यक्त' गुण है।

शार्ङ्गदेव ने अल्प शब्दों में ही व्यक्त की व्याख्या की है—प्रकृति प्रत्ययादि स्वरों की तथा छंदों-रागों पदों की जहाँ स्फुटता या स्पष्टता हो, वहाँ 'व्यक्त' है। कुंभ ने इनकी अनुध्वनि की है।

6. **विकृष्ट**—व्यक्त पदाक्षर को स्पष्ट ध्वनि के साथ उच्च से उच्चतर ध्वनि में बोलना 'विकृष्ट' है। शार्ङ्गदेव ने भरत का नाम लेकर इन्हीं शब्दों की पुनरुक्ति की है। कुंभ ने व्युत्कृष्ट नाम से द्रुत-मध्य विलंबित उच्चारण को समझाया है।

7. **श्लक्ष्ण**—(स्वरों की) उच्चता नीचता-प्लुतता आदि का समाहार अद्भुत एवं अविलंबित (एक के बाद एक) होता हो, तैलधार के समान अविच्छिन्न या चिकनापन जिन प्रयोगों में हो, हेला (किसी स्वर में रुकने की क्रिया—न्यास ?), आदि का व्यवहार ठीक से हो तो वहाँ 'श्लक्ष्ण' गुण है। शार्ङ्गदेव ने कहा है—(स्वरों का) उच्च-नीच, द्रुत मध्य आदि का श्लक्ष्णत्व (चिकनापन, अविच्छिन्न या अविराम प्रयोग) जहाँ हो, वहाँ 'श्लक्ष्ण' है। कुंभ ने इनकी प्रतिध्वनि की है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

8. सम—आवाप (स्वरों को भरना या स्वरों में गंभीरता या Intensity बढ़ाना), निर्वाप (स्वरों को प्रयोजनानुसार कम करना अथवा Intensity घटाना), प्रत्यंतर (जहाँ व्यवधान हो) का समास (भराव) करना 'सम' है। शार्ङ्गदेव और कुंभ के अनुसार वर्ण-लय-स्थान के प्रयोग में जहाँ अविषमता हो, वहाँ 'सम' है।

9. सुकुमार—वर्ण तथा पद मृदु हो, कठोर न हो, कंठ दबाकर न गाया जाए, अधिक उच्च स्वर में न बोला जाए, ये गुण जहाँ हों, वहाँ 'सुकुमार' है। शिव प्रिय (शार्ङ्गदेव) के अनुसार सुकुमार (ललित) कंठ का होना 'सुकुमार' है। कुंभ के अनुसार लावण्य-गुण से संपन्न लघुप्राय अक्षरों का व्यवहार 'सुकुमार' नाम से जाना जाता है।

10. मधुर—ललित पद एवं अक्षर का उच्चारण स्वभाव से ही समृद्ध हो तो 'मधुर' है। निश्शंक ने कहा है (कंठ या गीत) लावण्यपूर्ण एवं जनता के मन को हरने में धुर्य (प्रवीण) हो तो 'मधुर' है। कुंभ के अनुसार हृदय में अविच्छिन्न रूप से माधुर्य-गुण का स्मरण किया जाए तो 'मधुर' है।

उपर्युक्त दस गुणों के अतिरिक्त नारद ने दस गीत-दोष भी बतलाए हैं; परंतु उनमें से अधिकांश गायक के दोषों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। शार्ङ्गदेव ने दस गीत-दोष एवं पच्चीस गायक के दोष कहे हैं। इनके द्वारा वर्णित गान-दोष या गीत-दोष विषय के अंतर्गत ही आते हैं। भरत ने गायक के पाँच दोष कहे हैं, जिनमें नारद वर्णित गीत-दोष आ जाते हैं। शार्ङ्गदेव द्वारा उल्लिखित गान-दोष सर्वथा नवीन हैं; अतः उन्हीं का वर्णन अभी किया जा रहा है। यद्यपि नारद ने गीतों के दोष बताए हैं, परंतु गंभीर अध्ययन के पश्चात् वे गायन (गायक) के दोष ही माने जा सकते हैं। अतः उनका वर्णन गायक के दोषों के अंतर्गत ही रखना श्रेयस्कर होगा। शार्ङ्गदेव का अनुकरण कुंभ ने किया है। अब क्रमशः इनका वर्णन किया जा रहा है :—

1-2. दुष्ट—यह दो प्रकार का है—लोकदुष्ट तथा शास्त्रदुष्ट। लोक (सामान्य जन) अथवा देशी में एवं शास्त्र अर्थात् मार्ग, दोनों में जहाँ गीत भ्रष्ट हो, वहाँ 'दुष्ट' है। यहाँ शास्त्र एवं लोक का अर्थ मार्ग एवं देशी से किया जा रहा है। शास्त्रीय एवं लौकिक शब्द का व्यवहार शार्ङ्गदेव ने संगीत में कई बार किया है। वंश-प्रकरण में अंगुली द्वारा फूंक से स्वर निकालने की विधि शास्त्र एवं लोक, दोनों में एक-जैसी होनी बताई है—'स्वरोदयेऽप्यङ्गुलयः शास्त्रीय लौकिके तथा। वंशे तुल्यप्रकाराः स्युरिति शार्ङ्गिणोदितम्॥' इसी प्रकार ततादि लक्षण में रागों का निरूपण करते समय शास्त्र एवं लोक का उद्धरण दिया है। शार्ङ्गदेव को लौकिक परंपरा प्रिय है, क्योंकि मार्ग रागादि का निरूपण तत एवं वंश में नहीं किया है; साथ ही देशी वंश ही उन्हें अधिक पसंद है, जिनका विस्तृत वर्णन भी वह करते हैं। लौकिक का एक अन्य अर्थ 'लक्ष्य' भी हो सकता है, जिसका उल्लेख भी शार्ङ्गदेवादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रायः करते हैं। अतः अगर यह किसी का कहना है कि 'शास्त्रीय संगीत' की संज्ञा केवल कुछ ही समय पूर्व दी गई है, और वह भी फिल्म-संगीत पनपने के बाद; तो उचित नहीं है। क्योंकि लक्षण ग्रन्थों में इस परंपरा का दर्शन हमें हो जाता है (किसी विद्वान् द्वारा यह उक्ति एक संगीत-सभा में प्रस्तुत की गई थी)।

3. **श्रुतिविरोध**—श्रुतियों की हीनता, अर्थात् जहाँ जिन श्रुतियों की आवश्यकता नहीं है, अथवा जहाँ अनावश्यक श्रुतियों का अपप्रयोग हो, वैसा गीत श्रुति-विरोधात्मक है।

4. **कालविरोध** – गीत की रचना निषिद्धकाल में हो, अथवा उस काल में विशेप गीत का गान हो, वहाँ 'कालविरोध' है।

5. **पुनरुक्त** - वारंबार स्वर, शव्द, पद का व्यवहार किया जाए या बोला जाए, वहाँ 'पुनरुक्त' है।

6. **कलाबाह्य**—कला से बाहर जो गीत हो, अर्थात् जो गीत सुंदर व कलात्मक ढंग का न हो, वह 'कलाबाह्य' है।

7. **गतक्रम** – क्रम से हीन गीत 'गतक्रम' है। गतक्रम का अर्थ है क्रम-वद्ध से गीत की रचना न होना।

8. **अपार्थक**—व्यर्थ (अर्थहीन) गीत 'अपार्थक' है।

9. **ग्राम्य** - रूढ़ार्थ से ग्राम्य शव्द का अर्थ है अश्लील। ऐसे गीत 'ग्राम्य' हैं।

10. **संदिग्ध**—जिस गीत में (शव्द या अर्थ का) संशय हो, वहाँ संदिग्ध है।

गायक के गुण

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में ध्रुवाध्याय के पश्चात् 33वें अध्याय में गायक-वादक आदि के गुण-दोष का विचार हुआ है। औचित्य से ये गुण गांधर्व में भी प्रविष्ट हो जाएँगे, इसी लिए अभिनवगुप्त ने पृथक् अध्याय की सिद्धि की है; अन्यथा ध्रुवा, जिसे अभिनवगुप्त ने गान की श्रेणी में रखा है, उसी में गुणादि समाविष्ट होने से वह केवल गान-मात्र के लिए ही प्रयुक्त होता। शार्ङ्गदेव ने भी मार्ग-देशी, दोनों में इन गुणों का अन्तर्भाव माना है। उनके अनुसार—

मार्गं देशीं च यो वेत्ति स गांधर्वोऽभिधीयते।
यो वेत्ति केवलं मार्गं स्वरादि स निगद्यते॥

अर्थात्— जो मार्ग-देशी, दोनों को जानता है, वह 'गांधर्व' है और जो केवल मार्ग को जानता है, वह 'स्वरादि' है।

क्योंकि शारीर (शारीर—शरीर से उद्भूत-कंठ) स्वर सर्वप्रथम है, अतः क्रमशः गातृ, विपंची, वंश-वादक के गुण को भरत ने बताया है। उनके अनुसार गाता (गायक) के ये गुण हैं :—

1. **प्रत्यग्रवय**—युवावस्था में स्वरोत्पादन की शक्ति शैशव या वृद्धावस्था से अधिक होती है, अतः गाता को 'प्रत्यग्रवय' (यौवनशाली) होना आवश्यक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2. स्निग्ध—अपरुप (कोमल) स्वर से कंठ स्निग्धता को प्राप्त करता है।

3. मधुर—जो सुनते ही मन को प्रसन्न करे, ऐसे माधुर्य या मधुर स्वर से युक्त कंठ 'मधुर' है।

4. उपचितकंठ—उद्वेग (agitating) से रहित कंठ (नादलक्षणात्मक अर्थ से) या सुख देने वाला स्वर 'उपचितकंठ' है।

5. लय—विलंबित-मध्य-द्रुत लयों का उचित संपादक।

6. ताल—चच्चत्पुट-चाचपुट आदि तालों का ज्ञाता।

7. कला—आवाप-निष्काम आदि कला यानी ताल दिखाने का ढंग जानने वाला।

8. पात—शम्यादि (खाली) पात का ज्ञान जिसे हो।

9. प्रमाण—चित्र-वार्तिक-दक्षिण मार्गों का जानकार। Slow Medium & Fast.

10. योग—समपाणि-अवपाणि-उपरिपाणि (अतीत-सम-अनागत ग्रह) का उपयुक्त योजनाकार। किसी-किसी के अनुसार योग का अर्थ है लय-ताल-कला-पात-प्रमाण का साम्य होना। दोनों ही अर्थयुक्त हैं।

शार्ङ्गदेव ने गायक या गाता न कहकर 'गायनलक्षण' कहा है। गायन शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'गीयते अनेन इति गायन:।' गान में 'ल्यु' प्रत्यय लगा कर गायन' शब्द की रचना हुई है। गायन का स्त्रीवाची है 'गायनी', गायन के साथ स्त्री प्रत्यय लगाकर गायनी शब्द बना है। गायन के ये गुण हैं :—

1. हृदय शब्द—शब्द का अर्थ शारीर (कंठ) का लक्षण मानना चाहिए। हृदय अर्थात् रमणीय शब्द का होना आवश्यक है।

2. सुशारीर—शरीर में सम्बन्धित अंग (कंठ) सुन्दर हो, अर्थात् गायन (गायक) सुकंठ का अधिकारी हो।

3. ग्रहमोक्षविचक्षण—गीत के आरम्भ की परिसमाप्ति जहाँ होती है, वह स्थान ग्रहमोक्ष है। ग्रहमोक्ष का अर्थ है ग्रह के मोचन का स्थान; इसके प्रयोग में गाता पटु हो, न्यास में सम्पूर्ण गीत-राग या जाति की पूर्ण समाप्ति होती है। ग्रह-ताल-लय के अनुरोध का गीत में सम्यक् रूप से निर्वाह करने वाला इस नाम से जाना जाता है।

4. राग—मार्ग रागादि का ज्ञाता।

5. रागागांदि—रागांग-भाषांग-क्रियांग उपांग-जैसे देशी रागों का ज्ञाता।

6. प्रबंधगाननिष्णात—प्रबन्ध-गान; जैसे—एला-टेंकी, तथा (देशी) ताल का सुज्ञाता हो। यहां 'गान' का अर्थ 'देशी' है।

7. आलप्तितत्ववित्—विविध प्रकार की आलप्ति (रागालप्ति-रूपकालप्ति) को जानने वाला हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

8. गमक—अनायास ही मंद्र-मध्य-तार-स्थान से शोभित गमक को लेने में शरीर (कंठ) समर्थ हो।

9. आयत्त कंठ—कंठ अपने आयत्त में रहे। अर्थात् इच्छानुसार जिस स्वर पर आवश्यकता हो, कंठ वहाँ तक पहुँचे।

10. तालज्ञ—ताल का ज्ञाता।

11. सावधान - स्वर एवं श्रुति के स्थान को निश्चित रूप से जानने वाला।

12. जितश्रम—अनेक प्रबन्धों को गा लेने के पश्चात् भी जो श्रांत नहीं होता, अर्थात् अकथ परिश्रम करने पर भी जिसका शरीर एवं मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

13. शुद्धछायालगाभिज्ञ—सिंहभूपाल ने इसकी टीका की है—मार्गसूड, सालगसूड का अभिज्ञ। छायालग शब्द का अपभ्रंश 'सालग' है। एलादि आठ प्रबन्ध शुद्ध सूड के एवं ध्रुवादि सात प्रबन्ध छायालग या सालगसूड के अन्तर्गत आते हैं। इन सभी को जानने वाला उपर्युक्त नाम से प्रसिद्ध है।

14. सर्वकाकुविशेषवित्—सभी प्रकार के काकु (ध्वनि-भेद) को जानने वाला।

15. अनेकस्थाय संचार—प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध 96 प्रकार के स्थाय तक (सब प्रकार के दोष-वर्जित हो) जो संचार कर सकता हो।

16. क्रियापर— गान-क्रिया अर्थात् अभ्यास में जो तत्पर हो। 'संगीतसमयसार' के अनुसार—

यथाशास्त्रप्रयोगेन मार्गं देशीयमेव च।
यो गायति बिना दोषान् कथ्यतेऽसौ क्रियापरः॥

('संगीत-रत्नाकर', प्रकीरणकाध्याय, पृष्ठ 155)

अर्थात्—मार्ग-देशी का यथाशास्त्र प्रयोग जो बिना दोष से करता हो, वह 'क्रियापर' है।

17. युक्तलय—रंजकता के साथ गान-क्रिया करने वाला।

18. सुघट—संगीतसमयसारकार ने 'सुघट' का लक्षण इस प्रकार दिया है:—

स्वरोवर्णश्च तालश्च व्यक्त घटयति त्रयम्।
शोभनध्वनिसंयुक्तः सुघटं तं प्रचक्षते॥

अर्थात्—'स्वर-वर्ण-ताल इन तीनों को शोभन ध्वनि से युक्त कर उसे व्यक्त करने वाला 'सुघट' है।' कल्लिनाथ के अनुसार लौकिक (देश) भाषा में इसे 'सुघड़' कहा जाता है। आज भी किसी सुन्दर कार्य करने वाले को लक्षणा से 'सुघड़' कहा जाता है।

19 धारणा—संगीतसमयसारकर्ता के अनुसार—

अनुतारात् परं श्रुत्या ह्यनेनापसरन् स्वरात्।
ध्वनैः सुगाढ़ता तज्ज्ञैर्धारणा समुदाहृता॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात्—सुन्दर रूप से तार (स्वर) से नीचे आते समय सुगाढ़ता हो एवं ध्वनि में कोई बाधा न आने पाए तो वह 'धारणा' का ज्ञाता कहलाता है।

20. स्फूरन निर्जवन—निर्जवन नामक स्थाय में स्फूरता से या अप्रतिहत वेग से प्रयोग करना। निर्जवन नामक स्थाय सरल, कोमल, रंजक, क्रम से अतिसूक्ष्म स्वर को प्राप्त होने को कहते हैं। इसमें ध्वनि धीरे-धीरे अतिसूक्ष्म हो जाती है।

संगीतसमयसारकार ने 'जितश्वासतया गानं नाम्ना निर्जवनं विदुः' कहा है। अर्थात् श्वास को जीतकर गान करना निर्जवन है।

21. हारिरहःकृत—श्रोतृजन का मनमोहक गीत 'रहःकृत' गीत कहलाता है। सिंह-भूप के अनुसार 'रहंकृत' का अर्थ वेगगायी है।

22. भजनोद्धुर—भजन अर्थात् राग की सुव्यक्ति एवं सुशारीर (सुकंठ) युक्त होना है। ऐसे भजन में उत्कट ज्ञाता को भजनोद्धुर कहते हैं।

उपर्युक्त सभी गुणों को जानने वाला सुसंप्रदाययुक्त एवं उत्तम गायक माना जाता है। कतिपय गुणों का लोप होने से वह गायक मध्यम कोटि का है, केवल दोषों से युक्त गायक (जो आगे बताए जाएंगे) अधम कोटि के हैं।

इनके अतिरिक्त भरत ने गायिकाओं के गुण भी बताए हैं। निश्शंक के अनुसार गाता के समान ही गुणादि गायनी (गायिका) में होने चाहिए। इनके अतिरिक्त उन्हें रूपयौवन-शालिनी मधुरता से युक्त (कंठ) ध्वनि एवं चतुरा होना आवश्यक है। भरत के द्वारा पृथक् रूप से कहे गायिकाओं के गुण निम्नांकित हैं—

1. रूप-गुण-कांति से युक्त गायिका हो।

2. माधुर्य से युक्त एवं सत्व-गुणसंपन्न हो। अभिनवगुप्त ने अर्थ किया है कि गायिका की चेष्टा में उल्वणता न हो। 'उल्वण' का अर्थ उद्धत क्रिया (violent action) सशक्त, दृढ़ या गाढ़ है। ललित (grace) का विपरीत उल्वण है। यहाँ उल्वण तथा अनुल्वण, दोनों पाठ ले सकते हैं 'उल्वण' पाठ लेने से अर्थ होगा—जहाँ नाद सशक्त, दृढ़ तथा गाढ़ हो तो वहाँ 'माधुर्य' है। माधुर्य का मार्दव अर्थ लेने से पाठ 'अनुल्वण' होगा, जिसका अर्थ है उल्वणता से वियुक्त गुण।

3. (क) पेशल—विकार शून्य कंठ।

(ख) मधुर—कंठ की मधुरता।

(ग) स्निग्ध—(कंठ), मन को प्रसन्न करने वाला हो।

(घ) अनुनादी—एक नाद से दूसरा नाद जुड़ता चला जाए पर (कंठ) विच्छेदी न हो। शार्ङ्गदेव द्वारा वर्णित श्लक्ष्ण गुण इससे मिलता है।

(ङ) सम—परस्पर (कंठ) के साथ मिलन हो, अर्थात् एक कंठ से दूसरा विच्छिन्न न हो जाए।

(च) रक्त—कमल, सुन्दर, रंजक (कंठ) हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(छ) शुभ—जो भी गाया जाए, वह सुनाई दे। अर्थात् गीयमान पद में श्रावकता का अभाव न हो। शार्ङ्गदेव ने इसे शब्द-गुण के अंतर्गत रखा है।

4. सुविदित गमक का विधान करने वाली गायिका हो। अभिनवगुप्त की टीका यहाँ स्पष्ट नहीं है। अभिनव ने 'अंतरमार्ग' का उल्लेख इसकी टीका में किया है। परन्तु भरत ने वैसा कहीं नहीं किया है। अंतरमार्ग आलाप का एक प्रकार है, जिसमें (आलाप में) अल्पत्व-बहुत्व का उचित निर्देश दिया गया है। चूंकि भरत ने आलाप नहीं कहा है, अतः उसका उल्लेख यहाँ उचित नहीं है। अभिनवगुप्त की टीका से टूटा-फूटा अर्थ यही निकलता है कि गायिका सुविहित गमक में व्युत्पन्न (बिना पहले देखे या जाने भी वस्तु को एक बार देखने से समझ लेना) है, अतः अंतरमार्ग में (गमक का) विधान करे।

गमक की उचित व्याख्या (विस्तारित भी) शार्ङ्गदेव के 'संगीत-रत्नाकर' में ही अब तक मिली है। नान्यदेव एवं सोमेश्वर ने केवल सात ही गमक बताए हैं। भरत-अभिनव ने कहीं और गमक का उल्लेख नहीं किया है। यहाँ भी 'गमक' पाठ का शार्ङ्गदेवादि-कृत अर्थ 'महामाहेश्वर' को अभिप्रेत नहीं है, अतः क्या इसे अर्वाचीन पाठ माना जाए? साथ ही एक प्रश्न और हो सकता है कि जब भरत ने आलाप नहीं कहा, फिर अभिनवगुप्त ने 'अंतरमार्ग' का उल्लेख कैसे किया?

5. ताल-लय में गायिका कुशल हो। गीतवाद्य में जिन ताल-लय का जहाँ प्रयोग हो, वहाँ उसका सुव्यवहार हो।

6. आतोद्य (वाद्यविधि) विषय में श्रोताओं के कारण (कर्ण एवं मन-जैसे इंद्रियादि) को एकाग्र करने वाली हो।

7. गायिका श्यामा हो। यह स्त्रियों (नायिका) का गुण-विशेष है। श्यामा नायिका का लक्षण है—शीत में जिसका शरीर गर्म एवं आतप में शीतल हो, मुख की शास्त्र-वर्णित छटा न होने पर भी जो मुक्ताजल के समान लावण्यमयी हो। संगीत में इन गुणों के साथ ही गान के समय 'स्वेद-वर्जित' होना आवश्यक है।

अतः पर भरत यह कहते हैं—'प्रायः यह देखा जाता है कि स्त्रियाँ गान में और पुरुष पाठ्यविधि में स्वभावतः कुशल होते हैं। स्त्रियों का कंठ स्वभाव से ही मधुर एवं पुरुष का ललित होता है। इसीलिए गायिकाएँ ही अधिक होती हैं। अगर कहीं स्त्रियों को भी पाठकुशल एवं पुरुष को गानकुशल देखा जाए, तो वह उनके स्वभावानुसार नहीं है, वरन् वह एक अलंकार (गुण) है।'

शार्ङ्गदेव ने गायक के पांच लक्षण बताए हैं यहाँ उन्हें क्रमशः वर्णित किया जा रहा है—

1. शिक्षाकार—जिसके शिक्षण में कोई कमी न हो, अर्थात् छोटे-से-छोटे विषय पर भी शिक्षा देने में जो दक्ष हो, वह 'शिक्षाकार' है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सोमेश्वर के अनुसार शिक्षक का विस्मरण न हो। वाग्गेयकार की कृतियों में कुछ भी लुप्त न कर जो द्रुत गति से उसका ग्रहण कराता है तथा जो सावधान है। संगीतसमयसारकार के अनुसार—

द्रुतं या शिक्षते गीतं विषमं प्रांजलं तथा।
शुद्धे च सालगे सम्यक् शिक्षाकार स कथ्यते ॥

अर्थात्—गीत की शिक्षा जो जल्दी से दे सके, विषम (कठिन) विषय को प्रांजलता (सुबोधता) से समझा सके, शुद्ध सालगादि (सूड प्रबंध) का सम्यक् ज्ञान करा सके, वह 'शिक्षाकार' है।

2. अनुकार—सोमेश्वर के अनुसार अपर के गीत का अनुकरण है। चेष्टा से ध्वनि निकालना जो दक्षता एवं सम्यक् रूप से कर सकता है, वह 'कूटकार' या 'अनुकार' कहलाता है।

शार्ङ्गदेव के अनुसार दूसरे के गाने की मुद्राओं का जो अनुकरण करे, वह 'अनुकार' है।

3. रसिक—स्वयं के प्रयुक्त स्निग्ध श्रुति आदि से जो अनन्य आनंद भोगता है एवं सर्वांग पुलकित हो उठता है, वह 'रसिक' है। शार्ङ्गदेव के अनुसार रस एवं भाव में जो गायक आविष्ट (ओतप्रोत) हो जाए, वह 'रसिक' है। 'संगीतसमयसार' कहता है—

सुश्रव्यं गीतमाकर्ण्य भवेद्यः पुलकान्वितः।
सानंदोऽश्रूनिराकीर्णो रसिको गायकः स्मृतः ॥

अर्थात्—सुश्राव्य गीत को गाते समय जो पुलकित होते हैं, आनन्द से जिनके अश्रु स्वयं बाहर निकल आते हैं, वे 'रसिक' हैं।

4. रंजक—अपने भावों में श्रोताओं को जो रंगाते हैं, वे 'रंजक' हैं।

सोमेश्वर के अनुसार श्रोता के हृदय को जानकर उसके चित्तानुसारी रंजक गान करने वाला 'रंजक' है। रसिक में सम्भवतः यह आवश्यक नहीं है कि श्रोता भी उसके साथ अश्रुपुलकित हो, परन्तु रंजक के लिए ऐसी आवश्यकता है। संगीतसमयसारकर्त्ता ने कहा है—

चेतो लग्नेन गीतेन विदित्वा श्रोतुराशयम्।
रंग गीते विधत्ते यो रंजकः सोऽभिधीयते ॥

अर्थात्—श्रोता के आशय को जानते हुए चित्तहरक रूप से जो रंगमंच के गीत का धारण करता है, वह 'रंजक' है।

5. भावक—गीत का अतिशय 'आधान' (Concentration) जो करे, वह 'भावक' है। रसिक को श्रोताओं के मनोभावों के प्रति कोई चिन्ता नहीं, पर भावक को श्रोता के भावानुसार गान करना ही पसन्द है। 'संगीतसमयसार' के अनुसार—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नीरसं सरसं कुर्वन्निर्भावं भावसंयुतम् ।
बुद्धा श्रोतुरभिप्रायं यो गायेत स तु भावकः ॥

अर्थात्—नीरस वस्तु को सरस कर, भावहीन को भाव से संयुक्त कर श्रोता के अभिप्राय को जानकर जो गाता है, वह 'भावक' है ।

इनके अतिरिक्त तीन प्रकार के गायक होते हैं—

1. एकल—जो अकेला गाता है, वह 'एकल' गायक है । इससे स्पष्ट है कि नाट्य से बाहर एकल गान (Solo performance) बहुप्रचलित हो गया था ।

2. यमल - दो व्यक्ति एक साथ गाएँ. तो 'यमल' है । वर्तमान समय में बंधु (डागरबंधु, मिश्रबंधु) के नाम से दो गायक अपना यमलगान (Dual performance) देते हैं ।

3. वृंद—परिवार के साथ अर्थात् अनेक व्यक्ति मिलकर गाएँ, तो 'वृंद' कहलाता है, जिसे भरत ने 'कुतप' की संज्ञा दी है । आधुनिक काल में भी इन तीनों का प्रयोग होता है ।

गायक के दोष

नारद ने गीत के दोष के रूप में जिनकी व्याख्या की है, उनमें से प्रायः सभी प्रकार का अंतर्भाव निश्शंक ने गायक के दोष में किया, जो अर्थानुकूल है । क्रमशः इनके रूप ऐसे हैं—

1. संदष्ट—दांत पीसकर गाने वाला ।

2. उद्घुष्ट—रसहीन गान । नारद ने 'उद्घुष्ट' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ 'क्षुब्धता' है ।

3. सूत्कारी—'सूत-सूत' ध्वनि जिसके गाने में निरंतर होती रहे ।

4. भीत—नारद, शार्ङ्गदेव, कुम्भ ने भय से गाने वाले को 'भीत' कहा है ।

5. शंकित—त्वरित गति (जल्दी) से गाना 'शंकित' है । आत्मविश्वास के अभाव में भूल होने के भय से जल्दी गाने की इच्छा होती है ।

6. कंपित—जो स्वभाव से गात्र (शरीर) एवं शब्द (पद) को अकारण ही कम्पित कर गाता है ।

7. कराली—भयानक रूप से मुंह खोलकर एवं विकृत कर गाने वाला ।

8. विकल—स्वर को न्यूनाधिक कर गाने वाला । कुम्भ के मत से स्वरों में न्यूनाधिक श्रुतियों का प्रयोग कर गाने वाला 'विकल' या 'कपिल' है । नारद ने 'व्याकुल' शब्द का प्रयोग किया, जिसका अर्थ है—'वर्ण स्वर में वैषम्य होना ।' दोनों में विशेष पार्थक्य नहीं है ।

9. काकी—काक (कौवा) के समान जिसका रव (ध्वनि) हो । नारद ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'काकस्वर' कहा है, जिसका अर्थ है—कंठ-स्थान को निष्पीडन कर गाना।

10. विताल—ताल से विच्युत होना 'विताल' है। साम की शिक्षा में नारद ने इसे तालहीन माना है, जिसका अर्थ है—'वृत्तियों की अनियम प्रवृत्ति होना'।

11. करभ—गधे के समान कंधे को ऊँचा कर गाने वाला।

12. उद्भट—छाग (बकरी) के समान वहनी (कंधा) को बनाकर गानेवाला 'उद्भट' है, जो अधम गायक का लक्षण है। कुम्भ ने इसे 'उद्घड' कहा है।

13. झोंबक—सिराल (नाड़ी veins) भाल (सिर), वदन, ग्रीवा (गर्दन) को फुलाकर गाना।

14. तुंबकी—तुम्बी के आकार के समान गल्ल (गला) को फुलाकर गाने वाला।

15. वक्री—गले को टेढ़ा कर गान-क्रिया करने वाला।

16. प्रसारी—गात्र और गीत या रूपक (पद) को अनावश्यक प्रसारित या विस्तार कर गाने वाला।

17. निमीलक—आँखों को निमीलित कर गाना, अर्थात् आधा बंद और आधा खोलकर दृष्टिकटु रूप से गाने वाला।

18. विरस—नीरस कंठ के गायक। नारद के अनुसार गान करते समय चित्त का विक्षेप (मन का इधर-उधर जाना) 'विरस' है।

19. अपस्वर—वर्ज्य या निषिद्ध स्वर का गाता।

20. अव्यक्त—गद्गद् कंठ से वर्ण का उच्चारण, जो अन्य को ठीक सुनाई न पड़े, वह 'अव्यक्त' है।

21. स्थानभ्रष्ट—तीनों स्थानों की प्राप्ति करने में जो असमर्थ हो। नारद के अनुसार स्वर-स्थान का उचित प्रयोग न होना 'स्थानविवर्जित' है।

22. अव्यवस्थित—व्यस्त होकर अव्यवस्थित रूप से (स्वर) स्थानों में घूमने वाला।

23. मिश्रक—शुद्ध-छायालग-संकीर्ण आदि रागों में मिश्रण कर गाने वाला।

24. अनवधान—स्थाय आदि (गमकादि) नियमों से जो मुक्त है, इनमें एकाग्रता का अभाव होना, स्थान-विपर्यय करना, 'अनवधान' है।

25. सानुनासिक—नाक से ध्वनि निकालकर गाने वाला 'सानुनासिक' है। नारद ने भी नासिका-स्थान से गान करने वाले को 'सानुनासिक' कहा है।

संगीतसमयसारकार ने कुछ विशेष गायकों के उदाहरण दिए हैं—

गीतादपि यदालप्तिं कुर्यात् सौख्यविधायिनीम्।
आलप्तिगायनः सोऽयं निर्दिष्टो गीतवेदिभिः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आलप्तेरपि यद्गीतं भवेदतिमनोहरम् ।
उक्तो गायकभेदज्ञैः सोऽयं रूपकगायनः ॥
शुद्धे छायालगे चैव गीतमालप्तिसंयुतम् ।
यो गायति स विज्ञेयश्चौपटो गीतवेदिभिः ॥
ध्वनिशारीरयोर्यत्र नानादेशेषु रीतयः ।
विलगंति स विज्ञेयो वितालो गीतवेदिभि ॥
नानाविधं विभक्तं च ध्वनौ यस्य भवेद्गलम् ।
निबंधः स तु विज्ञेयो गीततत्वविचक्षणैः ॥
रागे रागांतरच्छायां मिश्रयन् दोषवर्जितः ।
प्रवीणत्वेन यो गायेत सोऽयं मिश्र उदाहृतः ॥

जिसका सार है—जो गीत से आलप्ति को गाने में अधिक कुशल है वह 'आलप्ति' गायक है । आज कुछ गायकों एवं वैणिकों में भी ऐसा परिलक्षित होता है । जो आलप्ति के अतिरिक्त केवल गीत को मनोहर रूप से गाता है, वह 'रूपक' गायक है । यह भी वर्तमान संगीत में सुलभ है । गीत एवं आलप्ति के साथ शुद्ध-छायालग रीति को जो उचित ढंग से गाता है, वह चौपट कहा जाता है । जिसकी कंठ-ध्वनि से नाना देश की रीतियों को अलग-अलग समझा जा सकता है (विलगतिः) वह 'विताल' है ('विताल' गायक के दोष में भी आता है, जो पूर्वोक्त है) । जिसके गले की ध्वनि विविध विभक्त हो सके, अर्थात् अपनी इच्छानुसार उसे घुमा-फिरा (mould कर) सके, वह निबंध गायक है । एक राग से दूसरे राग को जाते समय दूसरे की छाया पहली पर लाए, परन्तु दोषवर्जित तथा अत्यंत प्रवीणता-पूर्ण मिश्रण हो तो वह 'मिश्र' है ।

भरत ने आचार्य के भी गुण बतलाए हैं, छह गुणों की परिपाटी आचार्यों में होनी चाहिए—

1. ज्ञान—शास्त्र का जिन्हें सम्यक बोध हो ।

2. विज्ञान—उन (शास्त्रों) को जानने के पश्चात् क्रियात्मकता का भी जिन्हें सम्यक् ज्ञान हो । अर्थात् शास्त्रज्ञ के साथ-साथ प्रयोग कुशल हो ।

3. करण—कंठ-हस्त की गौणता-अधिकता का संपूर्ण ज्ञान हो । अर्थात् कंठ एवं हस्त के प्रयोग की क्षमता रखने वाला हो ।

4. वचन—'वचन' का अर्थ है जितग्रंथता । अर्थात् जिसने ग्रंथों को इस प्रकार जीत लिया है कि वह स्वयं ही एक शास्त्र के रूप में प्रतिभासित हो, अथवा जिसमें धारणाशक्ति प्रचंड हो एवं वचन को धारण कर दूसरों को शिक्षा देने में समर्थ हो ।

5. प्रयोगसिद्धि—देशादि (गीत-आचार-व्यवहारादि) का सम्यक् ज्ञान हो ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केवल शास्त्रज्ञ ही नहीं, वरन् देश-विदेश के विभिन्न संगद का आहरण किया हुआ हो।

6. निष्पादन—शिष्य की बुद्धि के अनुसार जो इष्ट हो, उसी प्रकार की शिक्षा देने की जिसमें क्षमता हो। शिष्य के प्रति इतनी उदार भावनाएँ हों कि शिष्य की बुद्धि-वृत्ति का विशेष ज्ञान रखकर फिर उसकी ग्रहण क्षमता के अनुसार शिक्षा दे सके।

सामशिक्षाकार नारद ने श्रोताओं के गुणों का भी उल्लेख किया है। किसी भी गान-क्रिया को सुनते समय चार प्रकार का श्रोता होता है, जो स्वभावानुसार गान का दोष-गुण विचार करता है। इससे क्या यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने साम-गान को सम्मुख रखकर विचार किया अथवा सामान्य गुण वृत्ति का ?

(किसी भी गान-क्रिया के समय) 'आचार्य' गीत में समता (balance) ढूँढ़ता है; 'पंडित' पदच्छेद (splitting of the words or syllables) को देखता है; स्त्रियाँ 'मधुरता' या लालित्य की खोज करती हैं; इतरजन 'विकृष्ट' अर्थात् गायक की चीत्कार से आनन्द पाता है। इन रूपों का दर्शन आज भी समाज में होता है, विशेषकर अंतिम रूप का। ये क्रियाएँ श्रोता एवं गायक, दोनों पर ही लागू की जा सकती हैं।

अब भरत एवं शाङ्‌र्गदेव-वर्णित शारीर (कंठ) के गुण-दोष पर विचार किया जा रहा है एवं स्थान-स्थान पर अन्यों के उदाहरण भी आवश्यकतानुसार दिए जाएँगे। संगीतसुधाकार राजा रघुनाथ ने भी शारीर के गुण-दोष पर विचार किया है, जो शाङ्‌र्गदेव का ही अनुकरण है। भरत ने कंठ के छह गुण बतलाए हैं—

1. श्रावक—स्वर उदात्त रूप में दूर तक सुनाई दे तो 'श्रावक' या 'श्रावण' है, कंठ का औदात्य 'श्रावक' है।

2. घन—श्रावक ध्वनि ही सुस्वर एवं अविच्छिन्न रूप में रहे तो 'घन' है।

3. स्निग्ध—अरुक्ष यानी अपरुष (लालित्ययुक्त) ध्वनि से युक्त कंठ 'स्निग्ध' है।

4. मधुर—मन को प्रह्लादित कर देने वाला या रंजक ध्वनियुक्त कंठ 'मधुर' है।

5. अवधानवान—स्वर में आधिक्य एवं न्यूनता को पहचानना अवधान है। इन्हें पहचानने या प्रयोग करने में समर्थ कंठ 'अवधानवान' है। यह मन की तादात्म्य अवस्था में ही संभव है।

6. त्रिस्थानशोभित—तीनों स्थान जिनकी उत्पत्ति उर, कंठ एवं शिर से है, मधुरता से उनमें प्रयोग की क्षमतायुक्त कंठ 'त्रिस्थानशोभित' है।

शाङ्‌र्गदेव ने दस शारीर-गुण कहे हैं। शरीर से उत्पन्न होने के कारण कंठ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को शारीर कहा जाता है, अथवा जो ध्वनि अनभ्यास से भी राग की अभिव्यक्ति करने में समर्थ है, वह शारीर कही जाती है। शार्ङ्गदेव ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

रागाभिव्यक्तिशक्तत्वमनभ्यासेऽपि यद्ध्वनेः ।।
तच्छारीरनिति प्रोक्तं शरीरेण सहोद्भवात् ।।

अदुष्ट यानी दोषहीन शारीर विद्यादान से, अनेक पुण्यों से, तप से एवं पार्वतीपति महेश्वर पर भक्ति रखने से ही प्राप्त हो सकता है। शारीर के गुण क्रमशः ये हैं —

1. तार—तार स्वर तक कंठ की व्याप्ति (भरत का 'त्रिस्थानशोभित' उल्लेखनीय)।

2. अनुध्वनि—कंठ अनुरणनयुक्त हो।

3. माधुर्य—कंठ में मधुरता या रमणीयता का होना (द्रष्टव्य : भरत-वर्णित 'मधुर')।

4. रक्ति—रंजकता का होना।

5. गांभीर्य—गंभीरता (अगाधता ?) का होना।

6. मार्दव—सुकुमार कंठ का होना, जो मसृण एवं कोमल ध्वनि-संयोग से संभव है।

7. घनता—दूर से श्रवणयुक्त एवं अंतःसारयुक्त ध्वनि।

8-9-10. स्निग्धता—कांति-प्राचुर्य—रुक्षताहीन स्वर एवं शरीर का होना। इनकी प्रचुरता से जिनके अंदर प्राप्ति हो, वह शरीर प्राचुर्य है।

'संगीतसमयसार' में शारीर के चतुर्विध गुण का वर्णन है—

अंतरेण यदभ्यासं रागव्यक्तिनिबंधनम्।
शरीरेण सहोत्पन्नं शारीरं परिकीर्तितम्।।
चतुर्विध भवेत्तच्च कडालं मधुरं तथा।
पेशलं बहुभंगीति तेषां लक्षणमुच्यते।।
स्थानत्रयेऽपि कठिनं कडालं परिकीर्तितम्।
मंद्रे मध्ये च माधुर्यें शारीरं मधुरं मतम्।।
शारीरं पेशलं ज्ञेयं तारे रागप्रकाशकम्।
तच्छाशीरगुणा मिश्रा यत्र तद्बहुभंगिकम्।।
कडालं मधुरं चैव ततो मधुर सौबलम्।
कडालसौबलं चैव शारीरं त्रयमिश्रकम्।
एव चतुर्विधं ज्ञेयं शारीरं बहुभंगिकम्।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विना अभ्यास के ही राग की अभिव्यक्ति का हेतु एवं शरीर के साथ जो उत्पन्न होता है, वह 'शारीर' है। इसी को किसी हिंदी-कवि ने 'उपजत अंग स्वभाव' कहा है। शारीर चतुर्विध है—कडाल, मधुर, पेशल और बहुभंगी। कुंभ ने पेशल के स्थान पर सौचल शब्द का प्रयोग किया है। पार्श्वदेव ने मिश्र के प्रकार में पेशल के स्थान पर सौवल शब्द का प्रयोग किया है। स्पष्ट है ये तीनों नाम ही प्रचलित रहे।

(i) तीनों स्थानों में (पहुंचकर) जो कठिन होते हुए भी स्थिर रहे, वह 'कडाल' है।

(ii) मंद्र और मध्य (स्थान) में माधुर्य होने पर शारीर 'मधुर' कहलाता है।

(iii) तार (स्थान) में राग के प्रकाशन को जानने वाला कंठ 'पेशल' है।

(iv) इन शारीर-गुणों का जहाँ मिश्रण हो, उसे 'बहुभंगिक' कहा गया है। ये कडाल मधुर, मधुर-सौवल (पेशल ?), कडाल-सौवल हैं। इन तीनों गुणों के मिश्रण से उत्पन्न नई विधि बहुभंगिक है।

शारीर-दोष

भरत ने कंठ के पाँच दोष वताए हैं—

1. कपिल—कपिल शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई है—कंपनं कपिः तं लालयतीति—कपिलम्।' श्लेष्मा से युक्त घर्घरध्वनिक कंठ, जो विस्वरता लिए है, 'कपिल' है।

2. अव्यवस्थित—स्वर की कम-अधिक ध्वनि जिसमें सुनाई दे एवं कंठ रुक्ष या परुष हो तो 'अव्यवस्थित' है।

3. संदष्ट—दाँत पीसकर गाने की आदत 'संदष्ट' है। 'संगीत-रत्नाकर' में इसे गायक का दोष माना गया है।

4. काकी—स्वर का उच्चारण उचित स्थान में न हो, वीणा शब्द की ध्वनि से मिल तो जाए, फिर भी स्वर में रुक्षता हो तो वहाँ 'काकी' है। 'संगीत-रत्नाकर' में ये गायक-कंठ, दोनों के दोष माने हैं।

5. तुंबकी—नासा से शब्द निकालना तुंबकी है। शार्ङ्गदेव ने इसे गायक के दोषों के अंतर्गत रखा है।

निश्शंक ने अनुस्वान (अनुरंजन-हीन) रुक्षता (परुषता) से भरे, त्यक्तरतिता (रंजकता से परे), निःसारता (सारहीनता), विस्वरता (स्वर से बाहर), काकित्व (कौवे के स्वर के समान), स्थानविच्युति (स्थानभ्रष्टता), कार्श्य (कठोरता) एवं कार्कश्य (कर्कशता) को कंठ का दोष माना है।

प्राधान्यवशात् कंठ एवं तत्संबंधित सभी के गुण-दोषों का विवेचन करने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पश्चात् अब वादक के गुण-दोषों पर विचार किया जाता है। भरत-शार्ङ्गदेवादि ने वैणिक एवं वांशिक, दोनों के अलग-अलग गुणों का वर्णन किया है एवं इसके विपरीत दोष माना है। प्रथम भरत एवं तत्पश्चात् शार्ङ्गदेवादि के बताए वैणिक तथा वांशिक के गुणों का विवेचन किया जा रहा है। भरत के अनुसार गुणीवादक इस प्रकार है—

1. पाणि-लय-यति के योग को सुसंबद्ध करने की क्रिया का ज्ञाता हो।

2. अत्यन्त मधुर एवं लघु हस्त (हलका हाथ फेंकने वाला) हो, अर्थात् प्रयोजनानुसार हाथ का चालन करने वाला हो।

3. गायक के गुणों का अवधान उसमें अधिक हो, क्योंकि वादक को गायक से अधिक अवहित होना चाहिए। गायक के अवगुणों को अधिकांशत: वादक ही अपने सुसंबद्ध वादन के द्वारा आच्छादित या अप्रकट कर सकता है।

4. वादक को अच्छा संगीतज्ञ होने की आवश्यकता है।

5. चित्र (विचित्र) करणों के द्वारा स्फुट (खुले) रूप में वैचित्र्य का यत्न करना चाहिए।

6. गीत के श्रवण में अचल रूप से या ध्रुव अवधानयुक्त और उसमें प्रवीण हो।

7. वादक गण (वादकों) अर्थात् मत्तकोकिला एवं चित्रा-विपंची के वादक (अभिनवगुप्त के अनुसार—'**वैणिकवैपञ्चिकयोस्तुल्यकालवादने परस्परमनुसारिणां वैलक्षण्यं चेत्यनेन दर्शितम्।**') एक साथ या परस्पर का अनुकरण कर वादन-क्रिया करें और चित्रादि मार्गों को बजाने में कुशल हों। 'वैणिक' का अर्थ मत्तकोकिला वीणा-वादक है। यह भरत की वीणा थी। (इस पर विशेष रूप से द्रष्टव्य 'नाट्य-शास्त्र' 28-वें अध्याय में अभिनवगुप्त की व्याख्या, एवं 'संगीत' मार्च-अप्रैल 73 का लेख 'वीणा-वादन की प्रविधि एवं वस्तु का शास्त्रीय उल्लेखों के आधार पर विवेचन'।) वैपंचिक में चित्रादि अन्य वीणाओं का अंतर्भाव हो जाता है।

शार्ङ्गदेव के अनुसार जैसे-जैसे स्वर में अभिव्यक्ति (प्रकटता) आए, रंजकता की प्रचुरता हो, उस तरह से लोक के अनुसार तत का विधान करना चाहिए। तत वाद्य (वीणा) की प्रशंसा करते हुए, उन्होंने याज्ञवल्क्य के श्लोक का ही अनुकरण (Paraphrase) किया है।

वैणिक के गुण-विशेष ये हैं—

1. नाद-श्रुति-स्वर-ग्राम-जाति-राग इत्यादि को जानने वाला हो।

2. देह (शरीर) सौष्ठव (सुंदरता) संपन्न हो, अर्थात् शरीर में कोई ऐसा दोष न रहे, जिससे वह श्रोताओं के हास्य का पात्र बने।

3. वैणिक स्थिरासन परिग्रह करने वाला हो, अर्थात् उचित आसन पर बैठे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4. वैणिक जितश्रम करद्वंद्व हो, यानी परिश्रम को जीत लेने वाला एवं दोनों हस्तों का व्यवहार समान रूप से कर सकता हो।

5. त्यक्तभीति—भय को जीतने वाला यानी वादन-क्रिया के समय निर्भीक रहे।

6. जितेंद्रिय—इंद्रियों पर जय करने वाला संयमसना हो।

7. प्रगल्भधी—बुद्धि तीक्ष्ण एवं अविकल हो, प्रत्युत्पन्नमतित्व (बात को तुरन्त पकड़कर उत्तर देना) भी रहे।

8. सुशारीर—सुकंठ का अधिकारी भी हो।

9. गीतवादनकोविद—सुकंठी होने के साथ-साथ गीत-वादन को जाननेवाला भी हो। वैणिक की प्रशस्ति शास्त्रकारों ने कंठ से अधिक की है, क्योंकि कंठ के दोषों को ढकने की क्षमता एवं योग्यता वैणिकों में ही मानी जाती थी। वर्तमान हिन्दुस्तानी और कर्णाटकीय संगीत में भी वैणिक के लिए गान का जानना प्रयोजनीय है। चूंकि कर्णाटकीय पद्धति में वीणादि वादन की शैली पदाश्रित है, अतः उन्हें गान की शिक्षा लेना परमावश्यक है। शार्ङ्गदेव के समय से ही गान (गीत या कंठ) को मुख्य एवं अन्य को उसका उपरंजक मानना शुरू हो गया था। उनके पूर्व सोमेश्वर तक सभी ने वाद्य को श्रेष्ठ माना है, क्योंकि वाद्य के विना गीत-नृत्य में कोई रंजकता नहीं।

10. सावधानमना—चित्त (मन) निश्चल हो। अर्थात् स्वर के लगाव में मन को एकाग्र कर सावधानता का अवलंबन करे।

पृथक् रूप से वैणिक के दोषों का उल्लेख नहीं किया गया है, अतः इन गुणों का विपरीत ही दोष है, ऐसा मानें।

भरत तथा शार्ङ्गदेव ने वैणिक के हस्तगुणों का भी उल्लेख किया है, जो क्रमर्वणित है—

1. समप्रहरण—दोनों हस्तों का एक साथ प्रहार करने में वैणिक क्षम हो। शार्ङ्गदेव ने 'युक्तप्रहारौ च करौ' कहा है।

2. जितश्रम—परिश्रम को जीत लेने वाला हो, अर्थात् अत्यधिक परिश्रम से भी जिसके शरीर या मन पर कोई विशेष प्रभाव न पड़े।

3. विकृष्ट—वि (विशेष रूप से) कृष्ट (कर्षण) में जो पारंगत हो (मीड़ ?)। यह कर्षण वाम हस्त से संभव है, जो व्यंजन धातु में वर्णित है।

4. मधुर—हाथ में मधुरता हो। स्वर पर इस प्रकार हनन करे, जो रंजकत्व के साथ ही मधुर हो। आज भी किसी मधुर वादन का श्रवण कर कहा जाता है उस वादक का हाथ कितना मीठा है।' वैसे हाथ तो मीठा नहीं होता, वरन् स्वर-प्रयोग ही ऐसा होता है, जो श्रवण करते ही सुमिष्ट प्रतीत होता है। शार्ङ्गदेव ने इसे 'स्निग्ध' कहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

5. **स्वेदवर्जित**—वादक को पसीना नहीं आना चाहिए। उसकी प्रफुल्ल कांति से श्रोता को यह अनुभव न हो कि वादन-क्रिया में कोई विशेष परिश्रम हो रहा है। शाङ्गर्देव ने इसे 'स्वेदहीन' संज्ञा दी है।

6. **बृहन्नख**—नख (नाखून) वृहत् होना आवश्यक है। भरत या शाङ्गर्देव के समय अंगुली या नख से वादन होता था; अतएव यह अति आवश्यक था कि वादक का नख बड़ा हो। शाङ्गर्देव ने 'दृढ़नखौ' कहा है। आज तो वैसे केवल-मात्र नख या अँगुली से वादन प्रायः नहीं के बराबर है (स्वामी रामदत्त पार्वतीकर स्वर-मंडल या मत्तकोकिला वीणा अँगुली एवं नख की सहायता से बजाते हैं)। हाँ, तरब के तारों को छेड़ने या झाला बजाने के लिए दक्षिण हस्त की कनिष्ठांगुलि का नख बढ़ाते हैं।

इनके अतिरिक्त जिन हस्त-गुणों का उल्लेख निश्शंक ने किया है, वे निम्न-लिखित हैं—

1. **वांछानुग**—श्रोताओं की इच्छानुसार अथवा स्व-स्वभावानुसार वादन करने में तत्पर हो।

2. **दृढ़**—जिसका हाथ वाद्य पर स्थिर रहे, अर्थात् वादन-क्रिया करते समय वाद्य हाथ से छिटक न जाए।

3. **व्यक्त**—जो भी बजाए, हस्त उसे स्फुट करने में समर्थ हो; अर्थात् स्पष्ट और उचित स्वर का निकलना 'व्यक्त' है।

4. **लघु**—हस्त इतना अभ्यस्त हो कि वाद्य पर वह लघु संचार करता रहे। आज की भाषा में इतना मंजा हुआ हाथ होना चाहिए कि इच्छानुसार द्रुत एवं हलके हाथ से वहाँ तक पहुंच सके।

कुछ दक्षिण के वैणिक आज भी नख या अँगुली से वीणा-वादन करते हैं।

5. **विधायअंगुलिसंचार**—अंगुलि विधेय अर्थात् वादक के अधीन हो। अंगुलि के संचार में इतना परिश्रम एवं अभ्यास अपेक्षित है कि जहाँ इच्छा हो, अंगुलि वहाँ तक संचरण या भ्रमण करती रहे।

अब भरत एवं शाङ्गर्देव-वर्णित वांशिक के गुणों का क्रमशः उल्लेख किया जा रहा है—

1. **बलवान्**—बलवान् का अर्थ केवल शक्तिशाली ही नहीं, वरन् जितग्रंथ अर्थात् फूत्कार करते समय साँस का आधिक्य माना गया है।

2. **दृढ़पाणि**—(उचित) स्वर-स्थान में अंगुलि का अचल या स्थिर रहना 'दृढ़पाणि' है। अंगुलि में कंपनादि होने से स्वरभ्रष्ट होने की आशंका रहती है।

3. **अवहितबुद्धि**—बुद्धि एकाग्र या तीव्र हो। किसी भी शिक्षा का सम्यक् धारण करने की क्षमता हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4. गीतलयज्ञ—गीत एवं लय का अच्छा गाता हो।

5. सुसंगीत—अच्छा गान करने वाला हो। वैणिक के साथ-साथ वांशिक को भी अच्छा ज्ञाता होने की आवश्यकता है।

6. श्रावक, मधुर, स्निग्ध—यह गुण कंठ, वीणा एवं वंश तीनों में परमावश्यक है, जिसकी व्याख्या पूर्व की जा चुकी है।

(अ) अविचलित—स्थिर स्वर को प्रदान करने वाला।
(ब) अविच्छिन्न – स्वर में एकरूपता, अर्थात् तैलधारावत् श्लक्ष्णता रहे।
(स) वर्णालंकारबोधक—वर्णों एवं अलंकारों का ज्ञान कराने वाला।
(द) मधुर, स्निग्ध वंश मधुर एवं स्निग्ध स्वरदायक हो।

भरत ने उपर्युक्त (अ) से (द) तक संख्या से दोषवर्जित वेणु के लक्षण बताए हैं। शार्ङ्गदेव ने वैणुक के गुणों के साथ-साथ दोषों का भी अलग से उल्लेख किया है, जबकि वैणिक के लिए ही केवल ऐसा नहीं किया। इन्होंने फूत्कार के गुण-दोष बताए हैं, जो भरत-कथित कंठ के गुण-दोष को भी समेट लेता है। साथ ही वांशिक के गुण (भरत-वर्णित) का भी अधिकांशतः इसमें अध्याहार हुआ है। इन्होंने वांशिक के गुण एवं दोष कुछ अलग ही बतलाए हैं।

शार्ङ्गदेव के कहे द्वादश फूत्कार-गुण क्रमशः ये हैं—स्निग्धता, घनता, रक्ति, व्यक्ति, प्रचुरता, लालित्व, कोमलत्व, नादानुरणन, त्रिस्थानत्व, श्रावकत्व, माधुर्य, सावधानता। इन द्वादश गुणों में एकादश शब्दगुण हैं, जो प्रकीर्णकाध्याय में उल्लिखित हैं। कंठ के भी ये गुण हैं। तात्पर्य यह है कि शब्द, कंठ तथा वंश फूत्कार के गुण समान हैं। 'सावधान' फूंक में कमी-बेशी पर सचेष्ट रहने के लिए कहा गया है। शार्ङ्गदेव ने इसे गायक के गुण के अंतर्गत रखा है। स्वर-श्रुति के उचित स्थान को जानते हुए ठीक वैसा फूत्कार करना 'सावधान' है। विस्तार-भय से इसके पुनरुल्लेख से विरत हो रहे हैं।

शार्ङ्गदेव ने यद्यपि दस फूत्कार-दोष कहे हैं, फिर भी गिनाए केवल ही नौ हैं। प्रथम चार दोषों को कहा है, जो ये हैं—

1. यमल – फूंक देने के पश्चात् भी उसे भरने के लिए पुनः पुनः फूंक दिए जाते हैं, तो 'यमल' है।

2. स्तोक – इतनी स्थूल फूंक हो कि स्थान (स्वर) प्राप्ति में असमर्थ हो।

3. कृत सिंहभूपाल ने 'कृश' पाठ लिया है, जो यथार्थ प्रतीत होता है। फूंक इतनी हलकी हो कि स्थान-प्राप्ति में असमर्थ हो।

4 स्खलित—फूंक देने में असमर्थ होकर स्वर के बीचों-बीच रुक जाना या फूंक को स्थगित कर देना।

इनके अतिरिक्त अन्य पाँच दोष मतांतर में कहे, जो भरत के बताए कंठ-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दोष के अंतर्गत आ जाते हैं। इसमें प्रथम लक्षण कंपित कहा है, जिसमें सिंहभूपाल ने उपर्युक्त एवं कल्लिनाथ ने 'कपिल' पाठ का ग्रहण किया है। नाम गिनाते समय शार्ङ्गदेव ने 'कंपित' कहा, पर व्याख्या करते समय 'कपिल' कहा है।

5. **कंपित (कपिल)**—कफ या श्लेष्मा से जड़ित जब स्वर का स्फुरण विकृत रूप से हो, तो 'कंपित' या 'कपिल' है।

6. **तुंबकी**—तुंब या गोल मुंह बनाकर ध्वनि निकालना।

7. **काकी**—तार-स्थान में श्रुतिहीनता हो तथा काक (कौवा) के समान स्वर निकले, तो 'काकी' है।

8. **संदष्ट**—दाँत पीसकर फूंक देना 'संदष्ट' है। गायक के दोषों के अंतर्गत भी इन दोषों को शार्ङ्गदेव ने रखा है।

9. **अव्यवस्थित**—कभी ऊनता (कमी), कभी अधिकता (वेशी) से रुक्ष स्वर निकले, तो 'अव्यवस्थित' फूंक है।

अतः पर शार्ङ्गदेव कहते हैं—'पहले कंठ के जो गुण-दोष कहे गए हैं (प्रकीर्णकाध्याय), फूत्कार में भी इनका यथायोग्य योजन करना चाहिए।

कंठस्य गुण-दोषा ये पुरोक्तातेषु केचन ।
फूत्कारेऽपि यथायोगं योजनीया मनीषिभिः ॥

शार्ङ्गदेव द्वारा वर्णित वांशिक के गुण ये हैं—

1. **अंगुलीसारणाभ्यास**—सारणाओं का अर्थ अंगुली का स्वर-स्थान पर उचित ढंग से बैठाना और उठाना (जैसे वीणा में सारणा का अर्थ उचित स्वर में मिलाना है)। इस प्रकार अंगुलियों से सारणा का ठीक अभ्यास होना आवश्यक है।

2. **सुस्थानत्व**—सम्यक् व उचित स्थान की प्राप्ति करने वाला।

3. **सुरागता**—रागों को माधुर्य से व्यक्त करने वाला।

4. **वेगाद्गतागते**—गत का अर्थ है आरोह, आगत का अवरोह। रागों का वेग से आरोहावरोह कर माधुर्य प्रदान करने में समर्थ हो। इससे ग्रंथकार को सपाट तान जैसी क्रिया अभिप्रेत है—ऐसा लगता है।

5. **गीतवादनदक्ष** - प्रबंध आदि गान एवं वादन करने में वैणुक समर्थ व कुशल हो।

6. **गातॄणां तानदायिता**—इसके दो पाठ हैं। कल्लिनाथ के समक्ष दोनों पाठ 'तानदायिता' और 'स्थानदायिता' हैं, सिंहभूपाल ने केवल अंतिम पाठ का ग्रहण किया है। द्वितीय पाठ लेने से अर्थ होगा—गायकों को मंद्र-मध्य-तार-स्थान की ओर प्रदर्शित करने की शक्ति वांशिक में होनी चाहिए। प्रथम पाठ लेने से अर्थ होगा—गाता को जो तान गाने की इच्छा होगी (संगीतकार के रूप में) वांशिक राग के अनुकूल उस तान को पहले ही दिखा दे। यह प्रयोग आज भी सारंगी-वादक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कभी-कभी कर देते हैं। यह विधि यही प्रमाणित करती है कि शार्ङ्गदेव एवं कल्लिनाथ के समय तक 'तान' का प्रचलन सुचारु रूप से हो गया था।

7. **दोषाच्छादन**—गाता के दोषों (संदष्टादि, जो पूर्व वर्णित हैं) को ढकने की क्षमता हो; श्रोताओं को रागभ्रष्टता का पता न चल सके। अतः वांशिक गायक के दोषों से अवहित होकर उन्हें ढकने में कुशल हो।

8 **मार्ग-देशी-रागकौशल**—मार्ग-देशी, दोनों प्रकार के सभी रागों में वांशिक को कुशल होना आवश्यक है।

9. **स्वस्थानवदपस्थाने रागोद्भुतिप्रगल्भता**—मुखचालनादि चार प्रकार के स्वस्थान होते हैं। उनके अतिरिक्त अपस्थान भी होते हैं। यद्यपि केवल स्वस्थान में ही रागों की अभिव्यक्ति होती है, अपस्थान में नहीं; फिर भी वांशिकों को अपनी प्रगल्भ बुद्धि द्वारा अपस्थान में भी स्वस्थानवद्ध रागों का उत्पादन करने में समर्थ होना आवश्यक है।

वांशिक के ये दोष हैं—

1. **मिथ्याप्रयोगबाहुल्य**—मिथ्या का अर्थ है रंजकत्वहीन। प्रयोग का अर्थ है अस्थान (अनपेक्षित) में गमकालाप। शार्ङ्गदेव ने कहा है—

आलापोगमकालप्तिरक्षरैर्वजिता मता।
सैवप्रयोगशब्देन शार्ङ्गदेवेन शब्दिता॥

इस प्रकार रंजकत्वहीन अस्थान (अनुचित स्थान) में गमकालाप का बाहुल्य एक दोष माना गया है।

2. अंगुलीसारणाभ्यासादि जो गुण बताए हैं, उनके विपरीत रूप भी दोष के नाम से जाने गए हैं।

3. **इष्टस्थान**—अर्थात्, जो स्थान प्रेय हैं, उन तक न पहुंचना एक दोष है।

4. शिर का क्रमागत कंपन होता रहे, तो वह भी वांशिक का दोष है।

मुनि भरत ने 'मृदंग' वाद्य का गुण बताया है—

स्फुटप्रहारं विशदं विभक्तं रक्तं विकृष्टकरलेपनं च।
त्रिमार्जनापूरित रागगम्यं मृदंगवाद्यं गुणतो वदंति॥

अर्थात् —'स्फुट' (स्पष्ट) प्रहार हो; 'विशद' (उचित, acurate); 'विभक्त' अलग-अलग सुनाई दे; 'रक्त' (रंजक) हो; 'विकृष्ट' (स्पष्ट और उच्च ध्वनि अथवा ऐसी थप्पी लगाई जाए कि मृदंग के स्वर की आँस बनी रहे), क्रिया हो, अभिनवगुप्त ने इसका अर्थ किया है—'आरात' (दूर तक) जो ध्वनि सुनाई दे; 'करलेपन' (हाथ को पसीने से बचाने के लिए पाउडर या चूर्ण-जैसी वस्तु का लेपन, जिसका प्रयोग आज भी मृदंग या तबले में किया जाता है); 'त्रिमार्जना' (तीन प्रकार के स्वरों से मृदंग को मिलाया जाता था, उसी विधि से उन्हें मिलाएँ) से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूरित रागगम्य (ग्राम-राग तक पहुंचाने वाला अथवा रागादि का बोध करने वाला या राग यानी रक्ति को बताने वाला) हो। राग का अर्थ विशेष प्रकार से 'राग' ही लें, जिसे जाति का परवर्ती विकास माना जाता है, तो अर्थ निकलता है जिस ग्रामांतर्गत राग है, मृदंग उसी ग्राम के स्वरों में (मूर्च्छनागत स्वरों में) मिला हो, अथवा ग्रह के अनुसार मार्जना की गई हो (मिलाई गयी हो)।

उपर्युक्त समस्त प्रकार मृदंग 'वाद्य' (बजाने की विधि) के गुण हैं, जिनका शार्ङ्गदेवादि ने वर्णन नहीं किया है।

शार्ङ्गदेव के समय तक विपुष्कर मृदंग का स्थान संभवतः मर्दल ने लिया था। अतः इन्होंने इसका पर्याप्त वर्णन किया है। यहाँ तक कि विशेष रूप से इन्होंने 'अवनद्धलक्षणम्' में मार्दलिक के गुण-दोष, वाद्य एवं वादक के गुण-दोषों पर विचार किया है। अंतिम प्रकार का वर्णन राणा कुंभकर्ण ने भी किया है, जो लगभग शार्ङ्गदेव का ही अनुकरण है। इससे यह स्पष्ट है कि शार्ङ्गदेव के समय में मर्दल (आज जिसे 'मादल' कहा जाता है और जो बंगाल, आसाम के कीर्तन या लोक-गीत में अब भी बहुप्रचलित है) एक विकसित एवं जनप्रिय शास्त्रीय (शास्त्रोल्लि-खित) वाद्य रहा होगा। साथ ही यह देशी वाद्य-प्रकारों में से एक अवश्य रहा होगा, क्योंकि शार्ङ्गदेव ने जिन वाद्यों के ऊपर कुछ चर्चा की है, वे हैं देशी वाद्य; जैसे—देशी किन्नरी या देशी वंश पर देशी रागों का विवेचन। अनेकानेक परि-वर्तनों के साथ धीरे-धीरे मर्दल का प्रभाव शास्त्रवर्णित संगीत से हटकर लोक-संगीत में अधिक हो गया। यह तो जीवन का साधारण धर्म है—कभी किसी का उत्थान होता है तो कभी किसी का पतन। और यही नियम हमारे संगीत में विशेषकर वाद्य के क्षेत्र में दीखता है। वर्तमान मादल के बोल शार्ङ्गदेव-वर्णित हस्तपाट से साम्य रखते हैं. अतः कीर्तन को बिल्कुल लोक-संगीत न मानकर देशी संगीत का एक प्रकार मानना उचित होगा। लोक-संगीत का प्रकृष्ट उदाहरण संथालों का गीत है, जिसमें संगति के लिए 'मादल' का ही प्रयोग होता है। मार्दलिक के गुण-दोष के पश्चात् वाद्य-वादक के गुण-दोषों पर विचार किया जाएगा। मार्दलिक के गुण-दोष कुंभ ने मार्दंगिक के बताए हैं।

1. वर्ण व्यक्ति—वर्ण अर्थात पाटाक्षर का प्रयोग ऐसा करें, जिससे वे स्फुट हों, यानी प्रत्येक का उच्चारण स्पष्ट हो।

2 सुरेखत्व—वादन-क्रिया में रंजकत्व अवश्य हो।

3. अनुयायप्रवीणता—'अनुयाय' का अर्थ कल्लिनाथ ने अन्य वाद्यों का अनु-करण तथा सिंहभूपाल ने गीत का छाया की तरह अनुसरण करना बतलाया है। दोनों ही अपने में यथार्थ हैं। इस प्रकार के अनुकरण में जो प्रवीणता लाभ करें, उनमें 'अनुयायप्रवीणता' मानी गई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4. **मधुरोद्धतवाद्येषु विज्ञता**—मर्दत्व के दो प्रकार के वाद्य (बाज) हैं—मधुर एवं उद्धत। देशी मर्दल जो देशी वाद्य, देशी रागों के गाता के साथ बजता हो, वह मधुर एवं सामान्यजन (आज की भाषा में 'लोक', इन शास्त्रकारों के अनुसार नहीं) के संगीत में प्रयुक्त (संथाल-जैसे आदिवासियों के द्वारा व्यवहृत) मर्दल उद्धत वाद्य है। इन दोनों को जानने वाला इस गुण का अधिकारी है।

5. **हस्तलाघव**—लघु हस्त (हलके हाथ) से मर्दल का वादन करने वाला हो। इसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

6. **अवधान**—वादन में एकाग्रचित्त हो।

7. **श्रमजय**—परिश्रम को जय करने वाला हो।

8. **मुखवाद्येषुपाट्वम्**—मुख-वाद्य में पटुता। मुख-वाद्य का अर्थ है, मुख्य वाद्य। मुख्य (अवनद्धादि) वाद्यों में निपुणता लाभ करना भी मार्दलिक के गुण के अन्तर्गत एक उचित विषय माना गया है।

9. **रक्ति**—रंजकता हो।

10. **आविद्धकस्यानुवृत्तिर्बहुलता**—आविद्धक यानी हुडुक्का वादक का अनुसरण बहुलता के साथ करता हो। इससे स्पष्ट है कि हुडुक्का वादक की प्रधानता मार्दलिक से भी अधिक थी।

11. यति (सम आदि), ताल (सम-विषमादि), लय (द्रुतादि) को जानने वाला हो।

12. **गीतानुगमन**—गीतों का अनुगमन उचित रूप से कर पाता हो। मार्दलिक के इन गुणों से विपरीत दोष हैं। शार्ङ्गदेव के अनुसार दस गुणों से युक्त 'वाद्य' होता है जो क्रमवर्णित हैं। कुंभ ने शार्ङ्गदेव का अनुसरण किया है।

1. **रक्त**—रंजकता।

2. **मधुर**—माधुर्य गुण जिस वाद्य में हो।

3. **विरक्त**—विभिन्न प्रकार का वाद्य हो।

4. **सम**—अक्षरसम आदि भेद से सम अष्ट प्रकार के हैं :—

(i) **अक्षरसम**—गीत में लघु-गुरु अक्षरों का अनुगम अक्षरसम' है।

(ii) **अंगसम**—गीत के अंग (ग्रहादि), मोक्ष (अंत, न्यास) आदि का अनुगमन।

(iii) **पाणिसम**—गीत का ग्रह, जो पाणि भी कहलाता है, उनमें समता हो।

(iv) **तालसम**—ताल का अनुसरण उसी के अनुसार हो तो 'तालसम' है।

(v) **यतिसम**—यति (समा आदि) का प्रयोग उसी प्रकार हो, जैसा कहा गया है तो 'यतिसम' है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(vi) न्याससम—न्यास का उचित अनुयायी हो तो 'न्याससम' है।

(vii) अपन्याससम—अपन्यास का अनुसरण हो तो 'अपन्याससम' है।

(viii) लयसम—लय की (मध्य या सम) आदि अनुवृत्ति (अनुसरण) उचित रूप से हो।

5. शुद्ध—शुद्ध का अर्थ है असंस्पृष्ट। अर्थात् शुद्धता की रक्षा करने की शक्ति वाद्य में हो, न कि वह प्रयोग के समय कहीं और चला जाए।

6. कल—(ध्वनि की) सूक्ष्मता का अभाव जहाँ न रहे।

7. घन—जिस वाद्य में सार हो, अर्थात् फूटा स्वर न निकले।

8. स्फुट प्रहार—आघात ऐसा हो, जो स्पष्ट रूप से व्यक्त या श्रवण-योग्य हो।

9. सुभर—सिंहभूपाल ने सुभर का अर्थ किया है 'सुराग', अर्थात् (सामान्य रूप से) अधिक रंजकता (राग) होना या स्वर में भराव होना 'सुभर' है। कुंभ ने इसे 'सुभग' कहा है, पर अर्थ नहीं दिया है।

10. विघुष्ट—वाद्य में गम्भीर ध्वनि अवश्य होनी चाहिए, जो श्रोताओं के मन को हरण करने में समर्थ हो।

इन गुणों के विपरीत दोष माने जाते हैं। भरत ने वादक के गुण-दोष का कोई वर्णन नहीं किया है, परन्तु शार्ङ्गदेव और कुंभ ने किया है। वादक के गुण ये हैं:—

1. हस्तकोणप्रहारवित्—हस्त (की अंगुलियाँ) एवं कोण, दोनों के प्रयोग में दक्ष हो।

2. गीतवादनपंडित—गीत, वादन दोनों का ज्ञाता हो।

3. यति (समादि), ताल (समादि), लय (द्रुतादि) का अभिज्ञ।

4. अवनद्ध वाद्य के पाटाक्षर को जानने वाला।

5. पंचसंचवित्—इसका अर्थ है गीत-वाद्य-नृत्य के गृह-मोक्ष के रंध्र (छिद्र) का ज्ञान जिसमें हो। अर्थात् इनके दोष का परिहार करने में सफल हो।

6. दस प्रकार के हस्त-गुणों (पूर्ववर्णित) से जो युक्त हो।

7. पात्र (श्रोता) की इच्छा (अभिप्रेत) का सम्मान कर जो वादक वादन करें। यह प्रमाणित करता है कि वर्तमान की तरह 'फरमाइशी' का प्रचार उस समय भी रहा।

8. आतोद्य (तत, अवनद्ध) की ध्वनि को जो अच्छी तरह जानता-पहचानता हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

9. सम, अतीत, अनागत ग्रहों का अच्छा अध्ययन किया हो एवं उनके प्रयोग में क्षम हो ।

10. गीत-वादन-नृत्य के छिद्र (भूल या दोष) को आच्छादित करने में जो पंडित हो ।

11. ग्रह (गीत का आरम्भ) एवं मोक्ष (न्यास या अंत) के स्थान का भली-भाँति ज्ञान जिसे हो ।

12. गीत-नृत्य के प्रमाण (उचित रूप) को जानने वाला हो ।

13. समस्त वाद्यों के भेदों को जानने वाला तथा उनकी रूप-रेखा (बनावट) का अच्छा ज्ञाता हो ।

14. 'उद्घट्टन' का अर्थ है—-'पाटाक्षर का सुष्ठु उच्चारण'। यानी जो भांड वाद्य के (वर्तमान भाषा में) 'बोल' हैं, उनमें पटु होना चाहिए ।

15. प्रत्येक प्रकार के वाद्य-भेद का निर्णय एवं विवेचन जो उचित प्रकार से कर पाता हो ।

16. नाद (ध्वनि) की कहाँ वृद्धि (बढ़ाव) होगी, कहाँ क्षय (घटाव) होगा, यह अच्छी तरह जानने वाला हो ।

उपर्युक्त गुणों से युक्त वादक श्रेष्ठ होते हैं। इसमें कतिपय गुणों से हीन होने पर मध्यम एवं सर्वगुणों से हीन होने पर वादक अधम माने जाते हैं ।

इन समस्त गुण-दोषों के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्तमान समय में यद्यपि संगीत के हर क्षेत्र में गुण-दोष का इतना कठोर नियम कोई मानता नहीं या जानता भी नहीं, फिर भी आधार-रूप में अधिकांश गुण-दोषों का ज्ञान प्रायः सभी गायक या वादक रखते हैं; भले ही उनकी संज्ञाओं से भली-भाँति परिचित न होते हों। उनके अनुसार—यह तो शास्त्र की बात है। यद्यपि कुछ दोष चमत्कार के रूप में भी आज देखे जाते हैं; जैसे—आज से 25-30 वर्ष पूर्व शरीर के समस्त अंगों को तोड़-मरोड़कर गाना, सभा में उछल-कूद करना श्रोताओं के लिए आकर्षक वस्तु थी तथा दुर्भाग्य से ऐसे कुछ कलाकार आज भी हैं, जबकि आज इसके लिए वे हास्य के पात्र बनते हैं। परन्तु आधुनिक श्रोता के लिए यह विरक्ति (रक्तिहीनता) प्रदान करता है । जिन गुण-दोषों का विवेचन एवं वर्णन इन महानुभावों ने किया है, वह मानव-जीवन के प्रत्येक आचार-व्यवहार के गम्भीर अध्ययन का परिणाम है; न इसका अमान्य किया जा सकता है, न ही इसमें और अधिक गुण-दोषों का विशेष योग किया जा सकता है। हाँ, परिवर्तित समय के साथ-साथ इन गुण-दोषों में कभी किसी का विशेष महत्त्व बढ़ जाता है तो कभी किसी का; और यही स्वाभाविक नियम है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. नारदीय शिक्षा—भट्ट शोभाकर की टीका सहित ।

2. नाट्यशास्त्र—अध्याय 1, 32, 33, 34; अभिनवभारती की टीका सहित ।

3. संगीत रत्नाकार—प्रकीर्णक तथा वाद्याध्याय, सिंहभूपाल तथा कल्लिनाथ की टीका सहित ।

4. संगीतराज—भाग 1 तथा वाद्याध्याय की अप्रकाशित पाण्डुलिपि ।

5. मानसोल्लास ।

6. संगीत समयसार ।

7. संगीत में वृत्ति एवं गीति ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Author Copy

5

संगीत में वृत्ति एवं गीति

'वृत्ति' शब्द अत्यन्त व्यापक है। दर्शन, साहित्य एवं संगीत के हर पहलू में 'वृत्ति' शब्द एक विशाल अर्थ का भंडार लेकर हमारे सम्मुख आता है। 'वृत्ति' शब्द का अर्थ मुख्य रूप से 'व्यापार-शैली' तथा 'ज्ञान' है। सामान्य व्यवहार में 'वृत्ति' शब्द का अपना महत्त्व है। लोक-जीवन में 'वृत्ति' का अर्थ है 'व्यवसाय'। जैसे एक व्यक्ति दूसरे से प्रश्न करे—'आपने किस वृत्ति को ग्रहण किया है?' तो उत्तर मिलता है—'मैंने शिक्षण-वृत्ति को ग्रहण किया है।' यहाँ 'वृत्ति' का अर्थ 'व्यवसाय' है।

किसी भी शास्त्र की व्याख्या प्रणाली के कई प्रकार होते हैं; उनमें से एक 'वृत्ति' भी है। राजशेखर के ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में इनका सुन्दर वर्णन मिलता है। ये संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

1. सूत्रों के पूरे सार का विवरण देना 'वृत्ति' है। उदाहरणतः मतंग की 'वृहद्देशी', जिसमें श्लोक के पश्चात् कभी-कभी गद्य-खंड में विषय का विवेचन किया गया है।

2. सूत्र और वृत्ति का विवेचन करना 'पद्धति' है।

3. स्वयं पूर्वपक्ष खड़ा कर समाधान करना 'भाष्य' है। उदाहरणतः पतञ्जलि का 'महाभाष्य'।

4. अवांतर प्रसंग का विच्छेद कर विषय के बीच-बीच में भाष्य करना 'समीक्षा' है।

5. थोड़ा-बहुत अन्य प्रसंगों का उल्लेख करते हुए श्लोकों का सीधा अर्थ करना 'टीका' है; जैसे 'संगीत-रत्नाकर' पर सिंहभूपाल तथा कल्लिनाथ-कृत क्रमशः 'संगीत-सुधाकर' और 'संगीत-कलानिधि' नामक टीकाएँ।

6. कठिन पदों को तोड़कर स्पष्ट करना 'पंजिका' है।

7. किसी विषय का प्रतिपादन स्वयं करना 'कारिका' है। यह सर्वदा पद्य-बद्ध होती हैं; जैसे सांख्यकारिका या 'काव्यप्रकाश' की कारिकाएँ।

8. सूत्र के आधार पर 'वार्तिका' लिखी जाती है। जो बात कही गई, जो नहीं कही गई और जो अनुचित ढंग से कही गई, उसका विस्तार से विचार इसमें किया जाता है।

राजशेखर ने 'विवृत्ति' का उल्लेख नहीं किया है। अभिनवगुप्त की 'अभिनव-भारती', 'नाट्यशास्त्र' की 'विवृत्ति' है। स्वयं ग्रन्थकार ने ऐसा स्वीकार किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपर्युक्त व्याख्या-प्रकारों में से अधिकांश का ग्रहण 'विवृत्ति' में किया गया है।

इसके अतिरिक्त कुछ और व्याख्या-प्रणालियाँ हैं। वे हैं—परिभाषा, निरुक्त आदि। कहाँ-से-कहाँ तक शब्द के नियम व्याकरण में प्रयुक्त होते हैं, उसका निर्देश 'परिभाषा' करती है। जहाँ व्याकरणादि से सूत्र आदि का अर्थ किया जाता है, वहाँ 'निरुक्त' है; जैसे यास्क-कृत वेदों पर निरुक्त।

'वृत्ति' की व्याख्या क्रमशः दर्शन, साहित्य और संगीत में कैसे की गई है, प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी की समीक्षा की जाएगी। प्रथम दो विषयों का सामान्य वर्णन और संगीत का विशेष वर्णन किया जाएगा।

'मीमांसा-दर्शन' में 'वृत्ति' का अर्थ है व्यापार'; अर्थात् जो हो रहा है, वह वृत्ति' है। 'नाट्यशास्त्र' में 'वृत्ति' का अर्थ है 'रहना' (to be)—'वर्त्तते इति वृत्तिः।' बुद्धि में किसी भी वस्तु को देखने से जो अनुभूति होती है, वृत्ति उसके साथ ही है। सव प्रकार की अनुभूतियों के सूक्ष्म आकार का रूप "वृत्ति' अपने में धारण कर लेती है; उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता।

साँख्य एवं योग में सभी प्रकार की विषय वस्तुओं का ज्ञान 'वृत्ति' है। यह ज्ञान बुद्धि एवं चित्त का धर्म है। बुद्धि जिस पदार्थ (विषय) को ग्रहण करे, उसी से सम्बन्धित 'वृत्ति' भी होगी; जैसे बुद्धि ने अगर 'घट' को जाना, तो वह 'घटविषयक वृत्ति' कही जाएगी।

योग में वृत्ति पांच प्रकार की मानी गई है—1. प्रमाण, 2. विपर्यय, 3. विकल्प, 4. निद्रा और 5. स्मृति।

1. प्रमाण—वस्तु का उसी के अनुरूप ज्ञान होना, अर्थात् चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियों से जो यथार्थ ज्ञान होता है, वही 'वृत्ति' है।

2. विपर्यय—ज्ञान दो प्रकार का होता है, यथार्थ ज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान। उपर्युक्त वृत्ति ज्ञान तथा विपर्यक मिथ्या ज्ञान है; जैसे टीन के खण्ड को देखकर चाँदी का आभास होना।

3. विकल्प—वस्तु के न होते हुए भी शाब्दिक ज्ञान होना; जैसे 'आत्मा का चैतन्य होना।' आत्मा स्वयं चैतन्य है, फिर उसकी क्या चेतनता? परन्तु ऐसा मान लेना ही 'विकल्प' है।

4. निद्रा—जिसमें समस्त वस्तुओं के अभाव का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ—निद्रा भंग होने के पश्चात् ही उस सुखपूर्ण निद्रा की अनुभूति की स्मृति होती है। निंद्रा में ही वह सुख मिलता है, अन्यथा ऐसे ज्ञान की अनुभूति होना ही असंभव है।

5. स्मृति—स्मरणात्मक ज्ञान। सुखमय निद्रा की स्मृति मन में आती है, जो सुख का ज्ञान कराती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याकरण तथा साहित्य में 'वृत्ति' से शब्द एवं अर्थ, दोनों जाने जाते हैं। यहां वृत्ति का अर्थ है 'व्यापार', जो तीन प्रकार के हैं—1. शब्द व्यापार, 2. शब्द संघटना-व्यापार तथा 3. अभिनय व्यापार।

1. शब्द-व्यापार (वृत्ति) व्याकरण-सम्मत है, जिसके तीन रूप हैं—(क) अभिधा, (ख) लक्षणा और (ग) व्यंजना।

(क) अभिधा—किसी वाक्य का शब्दश: अर्थ-बोध हो, तो वह 'अभिधा' है। अन्य शब्दों में इसे 'यौगिक' रूप भी कह सकते हैं।

(ख) लक्षणा—किसी वाक्य का अर्थ रूढ़ कर देने से 'लक्षणा' है; अर्थात, किसी वाक्य को सारगर्भित रूप से या बार-बार कहें, तो वह रूढ़ शब्द हो जाता है।

(ग) व्यंजना—योगरूढ़ शब्द 'व्यंजना' है। व्यंजना में रूढ़ एवं प्रयोजन, दोनों अर्थों का समावेश है; जैसे आज पंद्रह अगस्त है', इस वाक्य का अर्थ साधारण रूप (यौगिक) से लें, तो कोई विशेष अर्थ नहीं बैठता, व्यक्ति के मन में शब्दश: अर्थ रहता है। यह अभिधात्मक वाक्य है। 'लक्षणा' में पंद्रह अगस्त भारत के स्वाधीनता-दिवस के रूप में सम्मुख आता है, जो रूढ़ प्रयोग है। पन्द्रह अगस्त चूंकि स्वाधीनता दिवस है, अत: उस दिन अनेक उत्सव मनाए जाएँगे, व्यक्ति स्थान-स्थान पर एकत्रित होकर देश सम्बन्धी भाषणादि करेंगे। सर्वसाधारण उसमें भाग लेने के अधिकारी हैं; अत: उस दिन की तैयारी करेंगे। यह व्यंजनात्मक अर्थ है, जिसमें यौगिक तथा रूढ़, दोनों अर्थ मिले हैं, अत: यह योगरूढ़ शब्द है।

2. शब्द एवं अभिनय के बीच की स्थिति शब्द संघटना-व्यापार है। यह वर्णों से परे पदों का व्यापार होता है, जो विशेष रस का परिपाक कराता है। यह वृत्ति-शैली से सम्बन्धित है, जहाँ अभिनय मुख्य नहीं है। अर्थात्, यह अभिनेता के भाषा-व्यवहार से सम्बन्धित है, जो उनके चरित्र, कुल और सामाजिक स्तर को अभिव्यक्त करता है। यह शैली तीन कोटियों की है—ग्राम्या, उपनगरी और ललित।

'ग्राम्या वृत्ति' का उपयोग वे स्त्रियां करती हैं, जो मुख्यत: उच्च कुल की नहीं होती। इसमें लघु, किन्तु सरस वाक्य व्यवहृत होते हैं। 'उपनागरी वृत्ति' का प्रयोग मन्त्री तथा सामन्त (राजकुल को छोड़कर अन्य उच्च कुल) आदि शिक्षित वर्ग के व्यक्ति करते हैं। 'ललित वृत्ति' का प्रयोग राजकुल अथवा कुलीन व्यक्ति करते हैं, जिनमें सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता हो।

3. 'अभिनय व्यापार' में अभिनय-शैली ही वृत्ति संज्ञा से मानी जाती है। यह शैली चार प्रकार की है—भारती, सात्वती, आरभटी तथा कैशिकी। 'आरभटी' पुरुष प्रधान अभिनय होने से उसमें सौंदर्य की आवश्यकता हुई, जिससे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कैशिकी का जन्म हुआ और इसने समस्त अभिनय को माधुर्य प्रदान किया। इस पर भरत की उक्ति स्मरणीय है:—

अथाह मां सुरगुरुः कैशिकमपि योजय।
यच्च तस्याः क्षमं द्रव्यं तद् ब्रूहि द्विजसत्तम॥
एवं तेनात्म्यभिहितः प्रयुक्तश्च मया प्रभुः।
दीयतां भगवन् द्रव्यं कैशिक्याः सम्प्रयोजनम्॥

यहाँ 'वृत्ति' का अर्थ (किसी वस्तु के) 'रहने का भाव या दशा' समझ सकते हैं; जैसे चित्तवृत्ति का अर्थ चित्त (मन) की दशा है। चित्त की निस्तरंग अवस्था में कोई वृत्ति (भाव) नहीं है, जब उसमें तरंग उठती है, वही विकार 'वृत्ति' है।

(क) भारती—इसमें वाचिक व्यापार अर्थात् शब्द-प्रयोग प्रधान है। संवाद इस शैली में अधिक हैं, जो वाक् रूप हैं।

(ख) सात्वती—यह सात्त्विक क्रियाबहुल अभिनय-शैली है। रोमांच, अश्रु पात, स्वेद आदि सात्त्विक भावों की यहाँ प्रधानता है। यहाँ वाचिक व्यापार प्रधान नहीं है, वरन् सत्व या प्राणरूप भाव को ही प्रधानता मिली है।

(ग) आरभटी—उद्धत-क्रिया आरभटी वृत्ति है। अंग अथवा मनरूपा प्रवृत्ति का प्रकाश इसमें है। उद्धत-क्रिया का अर्थ है हस्तपदादि का अधिक संचालन या आस्फालन। वाग्व्यापार के साथ ही इसमें अंग-संचालन का प्राधान्य होता है।

(घ) कैशिकी—कैशिकी का अर्थ है 'केशवत्'। जैसे संपूर्ण शरीर को सुन्दर केश शोभान्वित करते हैं, उसी प्रकार नाट्य में कैशिकी वृत्ति ललित अभिनय का उत्सव है। यहाँ लास्य-क्रिया की प्रमुखता है। उपर्युक्त तीनों वृत्तियाँ इसी की सहायता से सौष्ठवपूर्ण बनती हैं। आरभटी-वृत्ति के औद्धत्य को इसी वृत्ति के द्वारा वैचित्र्यपूर्ण तथा सौन्दर्यात्मक बनाते हैं, अतः यह अंग या मनरूप का अन्य प्रकार है। कैशिकी वृत्ति श्लक्ष्ण, शृंगारात्मक एवं रसयुक्त है, जो स्त्रियों के साहचर्य के बिना संभव नहीं। कैशिकी वृत्ति के देव और प्रतिष्ठाता शिव में इसका आविर्भाव पार्वती से उनके मिलन के फलस्वरूप माना गया।

सभी रसों का प्राण कैशिकी वृत्ति है। सुन्दरता या वैचित्र्य के अमिश्रण से नाट्य रसहीन हो जाता है; अतः शृंगारादि रसों का अभिप्राय कैशिकी वृत्ति के साथ ही लेना उचित है। इसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर कैशिकी वृत्तियुक्त अप्सराओं का निर्माण हुआ, जिन्होंने विरक्त तथा संसार-विमुख संन्यासियों में लालित्य व वैचित्र्य का प्रादुर्भाव कराया।

संगीत में 'वृत्ति' का अर्थ है 'गीत तथा वाद्य के प्रयोग-वैचित्र्य का प्रदर्शन।' अर्थात् वाद्य और गीत की गौणता एवं प्रधानता का विभागानुसार व्यवहार। वाद्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से तात्पर्य प्रधानतः तत् वाद्यों से लेना चाहिए, कहीं-कहीं गौण रूप से अवनद्ध वाद्य का भी प्रयोग संभव है।

वृत्तिर्गुणप्रधानत्वरूपा व्यवहृतिर्मता।
चित्रावृत्तिदक्षिणा च तिस्रःस्युरिति वृत्तयः॥

'नाट्यशास्त्र' के अनुसार तीन प्रकार की वृत्ति के वाद्य प्रतिष्ठित होते हैं—'तिसृणामपि वृत्तीनां येषु वाद्ये प्रतिष्ठितम्।

अभिनवगुप्त ने वृत्ति का सामान्य लक्षण बताया है—'वृत्तिर्गुणप्रधानभावात्मा व्यवहार इति सामान्यलक्षणम्।' और अधिक स्पष्ट किया है—'गीतविषयो वाद्यस्य मेलनप्रकारः स विधिरितिसामान्यलक्षणस्य वृत्तिः।'

वृत्ति तीन हैं—1. चित्रावृत्ति, 2. वृत्ति (वार्त्तिक) वृत्ति तथा 3. दक्षिणा वृत्ति। भरत से शार्ङ्गदेवादि तक सभी ने इसकी एक समान सी व्याख्या की है। हां, कहीं-कहीं क्रम में परिवर्तन अवश्य हो गए हैं। भरत के शब्दों में :—

त्रिस्तु वृत्तयश्चित्रादक्षिणावृत्तिसंज्ञिता।
वाद्य गीतोभयगुणा निर्दिष्टास्ता यथाक्रमम्॥

दत्तिल के अनुसार :—

दक्षिणावृत्तिचित्राश्च वृत्तयस्तास्त्रयं विधिः।
प्रधानं गीतमुभयं वाद्यं चेति यथाक्रमम्॥

शार्ङ्गदेव के अनुसारः—

चित्रावाद्य प्रधानत्वाद्गीतस्य गुणतोच्यते।
उभयोः समभावेन वृत्तिर्वृत्तिरुदाहृता॥
गीतप्रधानता वाद्यगुणता दक्षिणा मता॥

1. चित्रा : तत वाद्य की प्रधानता तथा गीत की गौणता जहां हो, वहाँ 'चित्रा' वृत्ति है। किसी स्थान पर या तो गीत कुछ समय के लिए बन्द हो जाए या उसका प्राधान्य कम हो जाए, उस समय वाद्य यथाविधि अपने वैचित्र्य का प्रदर्शन करता रहे, तो वाद्य के इस विशेष व्यवहार (शैली) को 'चित्रा' कहते हैं भरत के अनुसार—'तत्र चित्रायां (अ)संक्षिप्तवाद्यतालद्रुतलयसमायतिरनागत ग्रहाणांप्राधान्यम्।'

2. वृत्ति : गीत एवं वाद्य के समभाव का जहाँ वर्तन हो, वहां वृत्ति' है अर्थात् किसी प्रयोग के समय जहाँ वाद्य एवं गीत एक साथ अपने वैचित्र्य का प्रदर्शन करते हैं, वह स्थान 'वृत्ति' कहलाता है। भरत कहते हैं—वृत्तौगीतवादित्रद्विकलतालमध्यलयस्रोतोगतायतिः समग्रहमार्गाणां प्राधान्यम्।'

3. दक्षिणा : गीत का प्राधान्य तथा वाद्य की गौणता जिस विशेष खण्ड में हो, वहां 'दक्षिणा' वृत्ति है। अर्थात्, जहां वाद्य का अंगरूप में वादन होता हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं गीत अपने प्रयोगनिपुणता का प्रदर्शन करे, वहाँ 'दक्षिणा' वृत्ति का प्राधान्य है। भरत के मतानुसार—'दक्षिणायाँ गीतिचतुष्कलतालविलंबितलयगोपुच्छायत्य (तिः। अ) तीतग्रहमार्गाणां प्राधान्यम्।'

इन वृत्तियों के विशेष लक्षणों पर कुछ मतान्तर भी परिलक्षित होते हैं। भरत के परवर्ती आचार्यों के अनुसार उपर्युक्त तीनों वृत्तियां लय, यति, गीति, वाद्य, मार्ग और ग्रह, इन छह तत्वों द्वारा पारिभाषित होती हैं। भरत ने कहा—तासाँ तालगीतिलययतिमार्ग प्राधान्यानि यथास्वं व्यंजकानि भवंति।' विशेष लक्षण देते समय भरत ने ग्रह का उल्लेख किया है, परन्तु गीति और मार्ग के प्रकार का उल्लेख नहीं किया है, साथ ही वाद्य का उल्लेख विशेष लक्षण में नहीं किया है, परन्तु उसका उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसका परवर्ती काल में संज्ञा-भेद हो जाता है।

'ताल' का अर्थ भरत ने कला-काल के प्रमाण' के रूप में माना है—

यस्तत्रतुलयो मध्यस्तत्प्रमाणों कला भवेत्।
कलाकालप्रमाणेन तालं इत्यभिसंज्ञितः ॥

परन्तु शार्ङ्गदेव ने यहां 'ताल' का उल्लेख अप्रयोजनीय समझा है अभिनव-गुप्त आलोच्य स्थान में 'अतिप्रसंग' हो जाने के भय से असहयोगी रहे हैं। केवल मतंग ने ही इस पर विस्तृत व्याख्या की है, जिसका वर्णन आगे किया जाएगा। इन विषयों के स्वधर्म के अनुसार इन पर महानुभावों के मतों को परिस्फुट करने की चेष्टा यहां की जा रही है।

वृत्ति के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले नियमों में (जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं) भरत तथा मतंग-शार्ङ्गदेव के वर्णन में थोड़ा अन्तर है। इन पर आलोचना करने से पूर्व सारिणी प्रस्तुत की जा रही है, जो विषयवस्तु को स्पष्ट करने में अधिक सहायता करेगी।

भरत के अनुसार वृत्ति का विभाजन

वृत्ति	ताल	गीति	लय
चित्रा	एककल		द्रुत
वृत्ति	द्वि त्रिकल		मध्य
दक्षिणा	चतुष्कल		विलंबित

यति	मार्ग	ग्रह	वाद्य
समा		अनागत	(अ) संक्षिप्त
स्रोतागता	?	सम	गीतवादित्र
गोपुच्छा	?	अतीत	गीति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मतंगादि वर्णित वृत्ति का विभाजन

वृत्ति	ताल	गीति	लय
चित्रा	एककल	मागधी	द्रुत
वृत्ति	द्विकल	संभाविता	मध्य
दक्षिणा	चतुष्कल	पृथुला	विलंबित
यति	मार्ग	ग्रह	वाद्य
समा	चित्र	अनागत, उपरिपाणि	ओघ
स्रोतोगता	वार्तिक	सम, समपाणि	अनुगत
गोपुच्छा	दक्षिण	अतीत, अवपाणि	तत्त्व

उपर्युक्त दोनों सारिणियों में विशेष अन्तर नहीं है। भरत ने गीति और मार्ग का उल्लेख किया है. पर लक्षण नहीं दिया है; वाद्य ~~एवं ग्रह~~ का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु लक्षण दिया है। मतंग ने इन सबकी विस्तार से व्याख्या की है। शार्ङ्गदेव ने ताल को मार्ग के वर्णन के अन्तर्गत कर लिया है। मार्ग का उल्लेख तो वृत्ति एवं दक्षिणा के लक्षण में भरत ने अवश्य किया है (केवल 'मार्ग' शब्द द्वारा), किन्तु किस वृत्ति में कौन से मार्ग व्यवहृत होते हैं, उनका कोई उल्लेख नहीं है। यह इसी दिशा की ओर संकेत करता है कि वृत्ति के उल्लेख एवं लक्षण में पाठ नष्ट-भ्रष्ट हो गए हैं. क्योंकि अन्य स्थल पर उनका विस्तृत उल्लेख है। जहां भरत, मतंग और शार्ङ्गदेव-वर्णित लक्षणों में एकरूपता है, उनका उल्लेख पहले; फिर भरतोत्तरकालीन विकास की विभिन्नता का दर्शन किया जाएगा।

(क) लय—

लय का अर्थ है, क्रिया के पश्चात् या बीच की विश्रांति। अर्थात् क्रियाविरति को 'लय' कहते हैं। क्रिया में विश्रांति होने से काल के गुरु अवयवों का लघु में लीन होना 'लय' है। लय की धारणा लघुकालक्रम के बिना सम्भव नहीं है। भरत के शब्दों में—ततः कलाकालकृतो लय इत्यभिसंज्ञितः। विलंबितादि काल भेदों की संपादना को 'कालकृत' कहा गया, ऐसा अभिनवगुप्त का कथन है। शार्ङ्गदेव कहते हैं :—

विश्रांतियुक्तया काले क्रियया मानमिष्यते।
क्रियानंतरविश्रांतिर्लयः.................. ॥

लय तीन प्रकार की हैं—द्रुत, मध्य और विलम्बित। द्रुत का अर्थ शीघ्र-गति है। क्रिया-विच्छेद के एक निश्चित 'मान' को आधार मानकर, जिसमें कालगति शीघ्रता से हो, वह 'द्रुत लय' है। द्रुत लय के द्विगुण विश्रांति-काल को 'मध्य लय' कहते हैं। मध्य लय के द्विगुण विश्रांति-काल को 'विलम्बित लय' कहते हैं। आज की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या इसके ठीक विपरीत है। किसी विशेष लय को, जो अत्यन्त धीमी गति से चल रही हो, 'विलम्बित' कहते हैं, तथा क्रमशः उससे द्विगुण-द्विगुण गति को बढ़ाने से 'मध्य' और 'द्रुत' लय की योजना समझी जाती है। दोनों में अंतर केवल विश्रांति-काल और गतिवेग से है। साथ ही किसी भी गति को हम विलम्बित मानकर उससे द्विगुण लय कर सकते हैं, परन्तु शार्ङ्गदेवादि के समय में काल निर्दिष्ट गति में निश्चित किया गया था और वैसे ही प्रयोग किए जाते थे।

अनन्तर द्रुत-मध्य-विलम्बित लयों का क्रमशः चित्रा-वृत्ति-दक्षिणा (वृत्तियों) में प्रयोग आवश्यक माना गया है। वाद्यप्रधान होने से चित्रा में द्रुत लय, समभाव होने से वृत्ति में मध्य लय एवं गीतप्रधान होने से दक्षिणा में विलम्बित लय प्रयोज्य है। आधुनिक संगीत से सम्पर्क जोड़ने की चेष्टा में संभवत ऐसा सोच सकते हैं— यदि 'लय' का अर्थ गुरु-अवयवों का लघु में अन्तर्भाव होना मान लें, तो किसी प्रयोग में जहाँ गीत में कुछ स्वरों पर स्थिर होकर आंदोलन करते रहें, तो 'विलम्बित लय' दिखती है। तब उसी विशेष समवाय या समष्टि (Combination) को वाद्य में लघु अक्षरों द्वारा स्थित रहना पड़ेगा, क्योंकि तत वाद्य में काफी देर तक स्थित रहना संभव नहीं। अतः गुरु उच्चारण को लघु आघात द्वारा उसमें लीन करने से साधारण दृष्टि में द्रुत का बोध होता है। यह प्रयोग खण्ड-खण्ड में क्रमशः संभव भी है।

(ख) यति : 'लयप्रवृत्तिनियमो यतिरित्यभिधीयते'

—अर्थात् लयप्रयोग (प्रवृत्ति) के नियम को 'यति' कहते हैं। भरत के शब्दों में :—

> **लयप्रवृत्तवर्णानामक्षराणामथापि वा (च)।**
> **नियमो या (यो) यतिः सा तु गीतवाद्यसमाश्रया ॥**

यति के तीन भेद हैं—समा, स्रोतोगता, गोपुच्छा।

(i) **सम**—जहाँ लय (गीत के) आदि, मध्य और अन्त में एक-सी हो, वहाँ समा यति है। लय के अनुसार यह त्रिविध है। अर्थात् (गीत के) आदि, मध्य और अंतमें तीनों स्थानों (खण्डों) में द्रुत लय का प्रयोग किया जा सकता है। अथवा आदि, मध्य और अन्त में मध्य लय का प्रयोग हो सकता है। अथवा उपर्युक्त तीनों खण्डों में मात्र विलम्बित लय प्रयुक्त हो सकती है। लय के परिवर्तन की कोई सम्भावना यहाँ नहीं है। चूंकि चित्रा वाद्यप्रधान है, अतः समा यति की तरह उसका लय-वैचित्र्य एक-सा होना स्वाभाविक है।

(ii) **स्रोतोगता**—जिस गीत-वाद्य के खण्डों के आदि में विलंबित, मध्य में मध्य तथा अन्त में द्रुत लय हो, वहाँ स्रोतोगता यति है। 'स्रोतोगता', अर्थात् स्रोत की तरह जिस (गान-वादन) की गति हो। यानी क्रमशः विलंबित, मध्य द्रुत वेग (गति) जिस विशेष स्थान में होता है, उसे स्रोतागता यति कहते हैं। (द्रष्टव्य, कल्लिनाथ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की टीका)। हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में आज यही नियम परिलक्षित होता है। स्रोतोगता यति के अन्य मत से विलंबित-मध्य या मध्य-द्रुत लय-प्रयोग भी संभव है। हिन्दुस्तानी पद्धति में ऐसी क्रिया भी होती है। सिंहभूपाल ने 'अन्यतर' मत का उल्लेख करते हुए उसी उदाहरण की पुनरावृत्ति की है, जो प्रथम मत के लिए शार्ङ्गदेव या स्वयं उन्होंने भी बताया है। यह अनुकार (लिपिकार) का भ्रम भी हो सकता है। वृत्ति गीत-वाद्य के समवाय को दिखलाती है, अतः वहाँ स्रोतोगता यति का प्रयोजन है, क्योंकि लय वहाँ क्रमशः गति को प्राप्त करती है।

(iii) गोपुच्छा—जैसे गौ (गाय) की पूंछ क्रमशः अन्त की ओर विस्तृत होती जाती है; उसी प्रकार गोपुच्छा यति में भी ऐसा लय-नियम है। (द्रष्टव्य, सिंहभूपाल की टीका)। गीत-वाद्य के आदि में द्रुत, मध्य में मध्य, तथा अन्त में विलंबित लय का जहाँ नियम हो, वहाँ 'गोपुच्छा' यति है। गोपुच्छा के अन्य भेद हैं—आद्य खण्ड में द्रुत तथा मध्य एवं अंतिम खण्ड में विलंवित लय; अथवा आद्य खण्ड में मध्य एवं मध्य और अंतिम खण्ड में विलंबित लय हो। शार्ङ्गदेव के अनुसार 'अपर' मत से द्रुत, मध्य या मध्य-विलंबित लय का प्रयोग संभव है। गीतप्रधान होने से दक्षिणा वृत्ति में गोपुच्छा यति का व्यवहार है, जहाँ विलंवित लय की प्रधानता है।

वर्तमान संगीत में यतियों का ऐसा नियम अप्राप्य होने से इनका पूर्ण तथा स्पष्ट विश्लेषण संभव नहीं।

(ग) ग्रह

'ग्रहणं ग्रह इति भावः' अर्थात् ग्रह का अर्थ है ग्रहण अथवा उठान। जहाँ से स्वर-गीत या ताल का ग्रहण किया जाता है, उस विशेष स्थान की संज्ञा 'ग्रह' है। ग्रह के दो प्रकार हैं—स्वर ग्रह तथा ताल-ग्रह। 'स्वर-ग्रह' में किसी गीत तथा स्थायी आदि वर्णों के उठान आदि आ जाएँगे। ताल का आवर्तन आदि जहाँ से प्रारम्भ हो, अर्थात् जिस विशेष पाटाक्षर से आरम्भ हो, वह 'ताल-ग्रह' है। इनके अतिरिक्त ग्रह का सम्बन्ध गीत-ताल के एवं गीत-वाद्य-ताल के प्रसंगों पर देखा जा सकता है। अर्थात् ग्रह सम्पूर्ण संगीत के पृथक्-पृथक् विषय पर भी आवश्यक है और संगीत के तीन भेदों (गीत-वाद्य-ताल) के साथ भी परस्पर सम्बन्धित है।

'गृह्यते जातिप्रयोगो यत इति ग्रहः'—यहाँ 'ग्रह' से तात्पर्य जाति में लगने वाले स्वर से है। भरत ने ग्रह का विकल्प 'अंश' कहा है। किन्तु अंश भी ग्रह हो, यह आवश्यक नहीं, जबकि ग्रह अंश भी हो सकता है; जैसे ग्रह-स्वर अगर गांधार है, तो अंश भी गांधार हो सकता है (शुद्धा जाति में ऐसा ही होता है)। परन्तु अगर पंचम अंश स्वर है, तो उस (जाति-विशेष) का ग्रह-स्वर गांधार भी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि गीत के उठान के स्वर और प्रधान स्वर एक ही हों। चूंकि यहाँ स्वर-ग्रह से विशेष मतलब नहीं है, अतः गीत-वाद्य-ताल के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रसंग में 'ग्रह' की व्याख्या की जाती है।

गीत-वाद्यादि के ताल के सम्बन्ध को बैठाने के लिए 'ग्रह' के तीन भेद परि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लक्षित होते हैं -- सम, अतीत और अनागत। इनके तीन और नामांतर क्रमशः ये हैं—समपाणि, अवपाणि और उपरिपाणि। दत्तिल के अनुसार पाणि का अर्थ है 'ताल'— 'तत्र तालं (च) पाणिं च प्राहुरेक-मिति'। भरत ने केवल पाणि तथा शार्ङ्ग-देव ने दोनों की व्याख्या की है। मतंग ने गीत-प्रकरण में मार्ग के साथ इन्हें बैठाने की चेष्टा की है।

1. समग्रह या समपाणि :—

'गीतादि समकालस्तु समपाणिः समग्रहः'—जहाँ गीतादि को ताल के साथ समान रूप में बैठाया जाता है, वहाँ समपाणि या सम ग्रह है। जहाँ गीत-वाद्य-ताल का प्राधान्य एक-जैसा हो, अर्थात् सबका उठान एक ही जैसा हो और उपर्युक्त तीनों का प्राधान्य एक समान हो, तो वहाँ सम ग्रह है। अभिनवगुप्त के अनुसार'...... गीतक्रियायां नाट्यक्रिया तुल्य काल (लः) समपाणिः'। सम ग्रह में लय मध्य-काल की है। इसमें गीत और ताल के भाव की समानता होती है, अतः 'वृत्ति' नामक वृत्ति में इसका प्रयोग होता है।

2. अतीतग्रह या अवपाणि :—

'सोऽवपाणिरतीतः स्याद्यो गीतादौ प्रवर्तते'—'जिसमें ताल गीत से पहले उठे, वहां अवपाणि या अतीत ग्रह है।' इस ग्रह में ताल का उठना पहले होगा, फिर गीत प्रारम्भ होगा। लय यहाँ द्रुत रहेगी। दक्षिणा वृत्ति में वैसे तो विलंबित लय है, परन्तु ग्रह द्रुत लय का (अतीत) है। ऐसा क्यों होता है, गीतियों के वर्णन के समय उसे स्पष्ट किया जाएगा।

3. अनागत ग्रह या उपरिपाणि :—

'अनागतः प्राक्प्रवृत्तग्रहस्तूपरिपाणिकः' – अर्थात्—गीतादि पहले प्रवृत्त हों, तो अनागत ग्रह या उपरिपाणि है। विलंबित लय में गीत का उठान जहाँ प्रारम्भ में हो, तत्पश्चात् ताल का उठान हो, वहाँ अनागत ग्रह है। अभिनवगुप्त के अनुसार अन्य मत से, जो लोग वाद्य की प्रधानता एवं गीत को वाद्य का अनुयायी मानते हैं, वे 'अवपाणि' में विलंवित लय तथा 'उपरिपाणि' में द्रुत लय का प्राधान्य कहते हैं। इस मत के अनुसरणकर्त्ता ने चित्रा वृत्ति के अन्तर्गत अतीत ग्रह और दक्षिणा वृत्ति के अन्तर्गत अनागत ग्रह को माना है, जो क्रमशः द्रुत और विलंबित लय का द्योतक है। फिर नियम का उलट-फेर कब से हुआ? अभिनवगुप्त द्वारा 'अपर मत' का उल्लेख क्या इस ओर संकेत नहीं करता है, भरत एवं उनके अनुयायी अभिनवगुप्त स्वयं गीत को प्रधान मानते थे? इन समस्याओं का थोड़ा बहुत समाधान मतंग की 'बृहद्देशी' की ओर दृष्टिपात करने से होता है। मतंग कहता है—'इदानीं प्राधान्यं जापयति पाणिकृतं विवर्त्तितम्।' अभिनवगुप्त ने भी 'अपर मत' कहकर इसी ओर संकेत किया है। मतंग के शब्दों का अर्थ यह निकलता है कि '(गीत-वाद्य के) प्राधान्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वशात् आजकल पाणि (ग्रह) के नियम का उलट-फेर हो गया है।' जहाँ द्रुत का नियम है, गीत की प्रधानता से वहाँ विलंबित लय तथा जहाँ विलंबित का नियम है, वाद्य के प्राधान्यवशात् वहाँ द्रुत लय का विवर्तन हो गया है। वैसे, मतंग ने भी प्रथम नियम को मार्ग या गीति या वृत्ति के साथ बैठाया है। 'बृहद्देशी' के 'वृत्ति-प्रकरण' में कुछ टूटे-फूटे शब्द हैं, जिनसे ऐसा लगता है कि उन्होंने मार्ग-लय-वृत्ति के साथ ग्रहों को जोड़ने का अच्छा प्रयास किया। परन्तु काल-कवलित इन भ्रष्ट श्लोकों का सम्पूर्ण पाठोद्धार संभव नहीं हो सका है। शंका के साथ उद्धार किए गए कुछ आशय का उल्लेख यहाँ अयुक्तिकर नहीं होगा। इस प्रकरण में बताई गई वृत्ति में 'वाद्यासमान' का अर्थ 'गीत के अनुसार ग्रह' और 'वाद्यसमान' का अर्थ 'वाद्य के अनुसार ग्रह' हो सकता है। इससे यही अर्थ बैठता है कि जब गीत विलंबित हो तो वाद्य द्रुत होगा तथा जब वाद्य विलंबित हो, तो गीत द्रुत होगा। वाद्य के सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए यहाँ ग्रह को बैठाया गया है और प्रथम मत के अनुसार उपर्युक्त नियम ठीक बैठ जाता है।

जैसे, सम ग्रह में गीत एवं ताल के भाव की समानता होती है व 'वृत्ति' नामक वृत्ति के साथ इसे बैठाया जाता है। 'दक्षिणा' वृत्ति की लय तो वैसे विलंबित है, किन्तु द्रुत लय के अतीत ग्रह से उसका सम्पर्क जोड़ा गया है। यानी उठान द्रुत लय-सम्बन्धित है। वैसे आज द्रुत लय की गत में प्रायः सम से कुछ दूर ही मुखड़े की उठान होती है (यद्यपि यह सर्वदा आवश्यकीय नहीं है)। 'चित्रा' वृत्ति में अनागत ग्रह है और 'चित्रा' वाद्यप्रधान होने से उसके लिए द्रुत लय निश्चित किए जाने पर विलंबित-लयप्रधान ग्रह को स्थिर किया गया है। बृहद्देशी के भ्रष्ट पाठ का उद्धार करके इस नियम का कारण खोजने की चेष्टा ऊपर की गई है।

गीत-वाद्य-नृत्य के साथ ताल का उठान जिस स्थान से होता है, वह 'ग्रह' कहलाता है। गीतादि एवं ताल, दोनों एक साथ ही उठें, तो वहाँ पर 'सम', पहले ताल पुनः गीत का उठान हो, तो 'अतीत' एवं पहले ताल और तत्पश्चात् गीत उठे, तो 'अनागत' ग्रह है। आज भी ये तीनों नाम प्रयोग में अवश्य आते हैं; जबकि इन वर्तमान 'ग्रहों' की धारणा सम्पूर्णतया बदल गई है। इसके साथ एक 'विषम' ग्रह की चर्चा भी की जाती है। इस धारणा का स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए। या तो 'सम' अथवा 'विषम' दो ही ग्रह माने जाएँ, जिनमें 'विषम' के अन्तर्गत 'सम' के साथ-ही-साथ 'अतीत' और 'अनागत' को भी रखा जाए। अथवा 'सम', 'अतीत' और 'अनागत' को पृथक् माना जाए तथा 'विषम' के लिए एक अलग विभाजन किया जाए।

आज किसी-किसी के अनुसार ताल के 'सम' के स्थान को 'सम' ग्रह माना जाता है। उनके अनुसार जब ताल, गीत या गत एक स्थान से उठे, तो वह 'सम' ग्रह है। जब गीत पहले उठे, फिर ताल उठे, तो 'अतीत' ग्रह है। 'अतीत' ग्रह का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयोग द्रुत लय में होता है और (आज की भाषा में) 'सम' से कुछ ही दूर गीत या गत का मुखड़ा शुरू होता है। जब गीत या गत ताल के पश्चात् उठता है, तो वहाँ 'अनागत' ग्रह है। विलंबित लय में 'अनागत' ग्रह है तथा 'सम' के पास ही गीत या गत का मुखड़ा होता है। परन्तु गीत या गत के सम के पास या दूर मुखड़ा होने से ग्रह के साथ क्या सम्पर्क है, या उससे क्या तात्पर्य निकलता है, यह अस्पष्ट है। वैसे, आज समादि ग्रहों का उचित अर्थ में प्रयोग नहीं होता है। किसी में कम्पोजीशन यानी गीत या गत पहले शुरू होता है, पश्चात् ताल। अतः कुछ-कुछ अवधि में केवल अतीत ग्रह का प्रयोग ही मान सकते हैं। हाँ, नाट्य में ऐसे तीनों ग्रहों का प्रयोग संभव है, क्योंकि नाट्य-धर्म के अनुसार वहाँ प्रयोग किया जाता है और उसे पहले ही निश्चित (set) कर लिया जाता है।

(घ) वाद्य

वाद्य का अर्थ गीतानुग वाद्य (वजाने की क्रिया) है। वाद्य का अर्थ ततादि वाद्यविशेष से न मानकर बजाने की शैली या नियम को मानना चाहिए। भरत के अनुसार—

त्रिविधं गीते कार्यं वाद्यं वीणासमुद्भवं तज्ज्ञैः।
तत्वं ह्यनुगतमोघः स्थानैककरणसमायुक्ता ॥

गीतविषय तथा वाद्य के मेलनप्रकार की विधि का सामान्य लक्षण ही 'वाद्य' है—(वही, वही, अभिनव०)। वाद्य तीन प्रकार के हैं—तत्त्व, अनुगत और ओघ। इन तीनों को स्व-स्व स्वभाव एवं प्रकृति के अनुसार वृत्तित्रय में बैठाया गया है। ओघ की चित्रा, अनुगत की वृत्ति तथा तत्त्व की वृत्ति दक्षिणा है। इनके लक्षण ऐसे हैं—

(i) तत्त्व—तत्त्व का वैशिष्ट्य है—'लयतालवर्णपदयतिगीत्यक्षरभावकंभवेद् तत्त्वम्' अर्थात्—द्रुत-मध्य-विलंबित लय का लक्षण, ताल : चच्चत्पुट या शम्यादि तालों-सहित वीणादि का साम्य प्रयोग वर्ण : स्याय आदि चतुः प्रकार का प्रयोग, पद : विराम यानी पदविच्छेद जहाँ उचित हो, यतिः स्रोतोगता आदि तीन प्रकार (पूर्ववर्णित), गीतिः ग्राम-विभाग यानी जाति, अंश आदि के भेद से जो वैचित्र्य उत्पन्न हो अक्षर 'देव शर्वं' आदि गीत के अक्षराक्षर प्रयोग; इन सभी वैशिष्ट्य का व्यजन करता हुआ जब वाद्य गीत में मिलता है, तब उसे 'तत्त्व' की संज्ञा दी जाती है। शार्ङ्गदेव ने पद की जगह 'विराम' तथा गीति एवं ग्राम-विभाग को अलग-अलग बताया, जबकि भरत की गीति का अर्थ अभिनवगुप्त ने ग्राम-विभाग से लिया है।

भरत ने वृत्ति-विभाजन में दक्षिणा वृत्ति का वाद्य 'गीति' कहा है तथा मतंगादि ने तत्त्व; क्योंकि यह गीतप्रधान वाद्य है। अतः स्वाभाविक रूप से इसमें गीत के अक्षरों का प्राधान्य है। इसका उल्लेख भरत तथा शार्ङ्गदेव, दोनों करते हैं। आज की दृष्टि में कर्णाटकीय संगीत को कुछ अंश तक 'तत्त्व' का स्वरूप समझ सकते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वहाँ गीत पूर्वनिर्धारित होता है, वाद्य भी उसी विरामादि से बजता है। हाँ, कहीं वाद्य को अपनी कल्पना का पुट देने का सुयोग भी मिलता है।

(ii) अनुगत—'गीतं तु यदनुगच्छत्यनुगतमिति तद्भवेद्वाद्यम्' गीत का वाद्य जहाँ अनुहरण या अनुकरण करें, जहाँ गीत में विरति है, वहाँ विरति करें, जहाँ स्थिति है, वहाँ स्थित हों; साथ ही कभी-कभी गीत की विलंबित लयावस्था में विदग्धता से द्रुत लय का प्रयोग करें, वहाँ 'अनुगत' वाद्य है। यहाँ प्रथम अवस्था में गीत प्रधान है एवं अंतिम अवस्था में वाद्य प्रधान है। अतः यह वृत्ति-वृत्ति के अंतर्गत आती है। भरत ने 'गीतवादित्र' शब्द का व्यवहार किया है तथा परवर्ती ग्रंथकारों ने अनुगत शब्द का। आधुनिक संगीत में कहीं-कहीं पूर्वनिर्धारित (set) प्रयोग में ऐसा विधान देखा जाता है।

(iii) ओघ—

आविद्धकरणबहुलं ह्युपर्युपरिपाणिक द्रुतलयं च।
अनपेक्षित गीतार्थं वाद्यं त्वोघे विधातव्यम् ॥

आविद्ध एवं करण धातुओं की जहाँ वाद्य में बहुलता हो, निरंतर द्रुत लय से हस्त का आघात हो तथा गीत के अर्थ की जहाँ वाद्य अपेक्षा न करें, वहाँ 'ओघ' वाद्य है। अभिनवगुप्त के मत से किसी-किसी के अनुसार धातु उपर्युक्त ही होना चाहिए। कोई-कोई व्यंजन—एवं विस्तार धातु को भी प्राधान्य देते हैं। परन्तु शार्ङ्गदेव के समय तक थोड़ा परिवर्तन हो गया था। वे कहते हैं—'अनुकर्त्ता (वादक) गीत के अंत में गीत के समुदाय का अनुकरण कर कई भागों में बाँटकर चातुर्य से निरंतर हाथ के आघात से प्रयोग करता रहे।' यहाँ हाथ के चतुरतापूर्ण आघात में किस धातु का बाहुल्य होगा, शार्ङ्गदेव या टीकाकारों ने उल्लेख नहीं किया है। इससे ऐसा प्रतीत होना अस्वाभाविक नहीं कि धातु के किन्हीं भी दो प्रकारों का प्रयोग विधिगत रहा हो। चित्रा वृत्ति, जो वाद्यप्रधान है, वहाँ 'ओघ' वाद्य को देखा जा सकता है। भरत ने यहाँ 'गीत के अनपेक्षत्व' को माना है। एवं चित्रा में गीत की प्रधानता नहीं है। वृत्ति के अनुसार 'ओघ' का वर्णन (अ) संक्षिप्त वाद्य के रूप में करना भरत को अभिप्रेत रहा है। आज भारतीय परंपरा में तो नहीं, पर पाश्चात्य संगीत की रचनाओं में इस प्रकार के प्रयोग का बाहुल्य है।

(ङ) ताल—

भरत मतंग तथा शार्ङ्गदेव, तीनों का आशय एककल, द्विकल और चतुष्कल तालों को क्रमशः चित्रा, वृत्ति एवं दक्षिणा के साथ जोड़ना था। अंतर केवल इतना है कि भरत ने विशेष लक्षण में इनका उल्लेख किया है तथा मतंग और शार्ङ्गदेव ने इनका अंतर्भाव 'मार्ग' के अंतर्गत कर लिया है। प्रस्तुत लेख में अंतिम विचारकों का अनुसरण किया गया है; क्योंकि 'मार्ग' एक विस्तृत सीमा है और उसके अंतर्गत ही ताल आ जाता है।

(च) मार्ग—

'मार्ग' का अर्थ है 'रास्ता'। यह ताल की इकाई भी है। अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मार्ग एककल आदि ताल का वह स्वरूप है, जो मार्ग को दर्शाता है। मार्ग के अंदर दूरी का भाव ही प्रधान है। किसी स्थान पर जाने के लिए जिस पथ (मार्ग) का ग्रहण करते हैं, उसके छोटे-बड़े होने की क्रिया मार्ग' है। शार्ङ्गदेव के अनुसार—'मार्गभेदाच्चिरक्षिप्र-मध्यभावैरनेकधा'—मार्ग चिर (विलंवित), क्षिप्र (द्रुत) तथा मध्य-भाव से अनेक होते हैं। यहाँ लय न कहकर 'भाव' कहा गया है, क्योंकि लय क्रमशः वढ़ती है। यहाँ दूरी (dur_tion) के भेद से ऐसा प्रतीत होता है कि गति में द्रुत-विलंवित रूप आ रहा है। एक-एक मार्ग का भेद प्रत्येक लय में लागू हो सकता है। अर्थात् मार्ग में मात्रा की दूरी (duration) समान है मात्रा की इकाई (unit) नहीं वदलती। लय का भाव गति के अनुसार है, परंतु गति नहीं वदलती। क्रिया-विश्रांति न होने पर भी मार्ग-भेद के भाव में द्रुत-मध्य-विलंवित रूप का वोध होता है। कल्लिनाथ ने इस 'भाव' का सुन्दर उदाहरण साधारण जीवन से लेकर दिया है—एक ही ग्राम में गंगा-तट पर जाने के तीन मार्ग हैं. जो एक-दूसरे से क्रमशः द्विगुण वड़े हैं। तीन व्यक्ति तीनों रास्तों से समान पदक्षेप करते हुए जाते हैं। इसमें सवसे छोटे रास्ते से होकर जाने-वाला व्यक्ति सर्वप्रथम तट पर पहुँचेगा। द्विगुण दूरी से जानेवाला व्यक्ति पूर्वपिक्षा मध्य भाव से पहुंचेगा तथा द्वितीय मार्ग से द्विगुण दूरी से जानेवाला तृतीय व्यक्ति अन्यों की अपेक्षा विलंव भाव से पहुंचेगा। यहाँ गति-भेद के स्थान पर मार्ग-भेद होने के कारण समय की दूरी (time-duration) में परिवर्तन होता है और यही मार्ग' है।

मार्ग के तीन भेद हैं—चित्र, वार्तिक और दक्षिण। ये तीनों परस्पर-संवंधित (interrelated) हैं। एक का ठीक द्विगुण दूसरा होता है। दक्षिण मार्ग में विलंबित भाव या चतुष्कल क्रिया, वार्तिक में मध्य भाव या द्विकल क्रिया तथा चित्र में द्रुत भाव या एककल क्रिया है। भरत के शब्दों में:—

चित्रे द्विमात्रा कर्त्तव्या वृत्तौ सा द्विगुणा स्मृता॥
चतुर्गुणा दक्षिणे स्यादित्येवं त्रिविधा कला।

यहाँ कला' को विलंबित आदि काल-भेद का संपादक जानना चाहिए। पाँच निमेष की एक मात्रा है। चित्र में ऐसी दो मात्राएँ वार्तिक में चार मात्राएँ एवं दक्षिण में आठ मात्राओं का प्रयोग है, जबकि काल की दूरी (time-duration) वही रहेगी। इन मात्राओं के नाम इस प्रकार हैं—चित्र में प्रथम एवं अंतिम मात्रा ध्रुवका-पतिता, वार्तिक में प्रथम दो और अंतिम दो मात्राएँ ध्रुवका-सर्पिणी. और विक्षिप्ता-पतिता दक्षिण में क्रमशः आठ मात्राएँ ध्रुवका-सर्पिणी-कृष्णा-पद्मिनी-विसर्जिता-विक्षिप्ता-पताका और पतिता का प्रयोग है। जैसे, किसी लय की स्थिति में दस लघु अक्षरों की एक कला का प्रयोग किया फिर उसी लय में उससे द्विगुण अक्षरों की कला (द्विकल) का प्रयोग हुआ; पुनः उसी लय में चतुर्गुण अक्षरों की कला (चतुष्कल) का प्रयोग किया। क्रमशः ये चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्ग हैं। अक्षरों को क्रम से बढ़ाने पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसा लगता है कि लय में भी परिवर्तन हो रहा है, परंतु ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थः—

1	2	3	4
1 2	3 4	1 2	3 4
1 2 3 4	1 2 3 4	1 2 3 4	1 2 3 4

यहाँ लय में कोई परिवर्तन न होकर अक्षर में परिवर्तन हुआ है। प्रत्येक लय (द्रुत-मध्य-विलंबित) में इन तीनों मार्गों का प्रयोग संभव है। चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्ग वृत्ति में अन्वर्थक हैं। अर्थात् चित्र की वृत्ति चित्रा, वार्तिक की वृत्ति और दक्षिण की दक्षिणा वृत्ति है। वाद्यप्रधान होने से चित्रा में द्रुत भाव है, सम होने से वृत्ति का भाव मध्य है, गीतप्रधान होने से दक्षिणा का भाव विलंबित है। आधुनिक संगीत में इस परंपरा का निर्वाह नहीं होता।

(छ) गीति—

वर्णाद्यलंकृता गानक्रिया पदलयान्विता।
गीतिरित्युच्यते......................।।

वर्णादि के अर्थ-वर्ण (स्थाय आदि चतुर्वर्ण) एवं अलंकार (प्रसन्नादि 63 अलंकार) से भूषित, (गीत के) पद जो लय (विलंबित आदि) से सुशोभित हों, ऐसी विशिष्ट गानक्रिया को 'गीति' कहते हैं। अभिनवगुप्त ने भी ऐसा ही कहा है। 'या पदानां निवृत्तिरावृत्तिस्तया प्रकृष्टं विततं गीतं गानक्रिया यस्यां सा गीतिः।" अथवा 'यतिकालविभागेन वर्णालंकारनियमेन लयगान-क्रियाविशेषो गीतिरिति सामान्यलक्षणम्'।

गीति दो प्रकार की हैं—स्वरगीति और पदगीति। शुद्धा आदि पंचविध गीतियाँ प्रथम प्रकार में आती हैं, जो गान में स्वर-प्रयोग की विशिष्ट शैली को बताती हैं। वृत्ति के साथ उसका विशेष संबंध न होने के कारण यहाँ केवल पदगीति को ही लिया जा रहा है। पदगीति चार प्रकार की हैं—मागधी, अर्धमागधी, संभाविता, पृथुला। वृत्ति के साथ केवल तीन ही गीतियाँ संबंध रखती हैं, अतः इन तीनों का वर्णन किया जा रहा है। मागधी में अर्धमागधी का अंतर्भाव होगा, क्योंकि अर्धमागधी में मागधी की अर्धकाल-निवृत्ति की क्रिया होती है।

(i) मागधी—मागधी में पद की त्रिरावृत्ति होती है—'त्रिरावृत्तिपदां मागधीं जगदुर्बुधाः।' मतंग की 'बृहद्देशी' के नष्ट-भ्रष्ट पाठ के गंभीर अध्ययन के पश्चात् जो अर्थ निकलता है, उससे भरत तथा शार्ङ्गदेव की वाणी का मर्मोद्धार हो जाता है।

पदों की चर्चा भरत ने नहीं की; परंतु मतंग तथा अभिनवगुप्त के शब्दों से वस्तुस्थिति का पता चलता है। मतंग ने कहा है—'द्विगुरुस्त्रिनिवृत्ता च चित्रे गीतिस्तु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मागधी ।' अर्थात्: चित्र में मागधी गीति है, जिसमें दो गुरु की तीन बार निवृत्ति या आवृत्ति होगी । आद्य कला में विलंबित लययुक्त पद, द्वितीय कला में मध्य लययुक्त तथा अंतिम कला में द्रुत लययुक्त पद से मागधी गीति सुशोभित है । अर्थात्—प्रथम कला द्विमात्रिक, द्वितीय कला चतुर्मात्रिक तथा प्रथम कला से द्विगुण एवं तृतीय कला का प्रथम पाद द्वितीय कला से द्विगुण और अंतिम पाद द्वितीय कला-जैसा हो । उदाहरण देने से विषयवस्तु स्पष्ट हो जाएगी, जो 'संगीत-रत्नाकर' से आहरित है ।

मा	गा	मा	धा
दे		वं	
धनि	धनि	सनि	धा
दे	वं	रु	द्र
रिग	रिग	मग	रिस
देवं	रुद्रं	वं	दे

यहाँ 'देवं' शब्द को गुरु अक्षर माना गया, जिसकी त्रिरावृत्ति दिखती है । प्रथम कला में चतुर्गुण विश्रांति-काल है, द्वितीय कला में द्विगुण विश्रांति-काल है एवं तृतीय कला के प्रथम अर्धपाद में सामान्य और अंतिम अर्धपाद में द्वितीय कला-जैसा विश्रांति-काल है । मतंग के अनुसार मगध देश में उद्भव होने से यह गानक्रिया 'मागधी' नाम से जानी जाती है । 'मगधदेशोऽद्भवत्वान्मागधी'—

(ii) संभाविता— गुरु अक्षरों से समन्वित पद 'संभाविता' है । 'संभाविता च विज्ञेया गुर्वक्षरसमन्विता'—शार्ङ्गदेव के अनुसार भूरि-भूरि गुरु अक्षरों से युक्त संक्षेपित पदयुक्त क्रिया 'संभाविता है ।' ('संगीत-रत्नाकर', 1/8/19) । 'संगीत-रत्नाकर' में दिए गए उदाहरण इस विषय को अधिक स्पष्ट करेगा :—

धा	मा	मा	रि	ग
भ		वत्या		
री	गा	सा	सा	
दे		वं		
नी	धा	सा	नी	
रु		द्रं		
धा	नी	मा	मा	
वं		दे		

अन्य मत का उल्लेख करते हुए कल्लिनाथ कहता है कि किसी-किसी ने क्वचित् लघु अक्षर का भी प्रयोग अंगीकृत किया है । परन्तु अधिकांशों ने गुर्वक्षर को ही माना है । मंतग के अनुसार 'संक्षिप्तता संभाव्यते पदानां यत्र सा संभाविता' —संभाव्य पदों में जहाँ संक्षिप्तता है वहाँ 'संभाविता' है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(iii) पृथुला—पृथुलाख्या च विज्ञेया नित्यं लघ्वक्षरान्विता'। नित्य जहाँ लघु अक्षर का प्रयोग हो, वहाँ 'पृथुला' है। शार्ङ्गदेव के अनुसार जहाँ भूरि भूरि लघु अक्षर हों, वहाँ 'पृथुला गीति' है। उनका प्रदत्त उदाहरण इस प्रकार है :—

मा	गा	री	गा
सु	र	न	त
सा	धनि	धा	धा
ह	र	प	द
धा	सा	धा	नी
यु	ग	लं	
पा	निधप	मा	मा
प्र	ण	म	त

अब उन गीतियों को पहले ताल, लय, मार्ग और ग्रह के साथ जोड़ने का प्रयास किया जाएगा, फिर वृत्तियों के साथ इनका संबंध देखा जाएगा।

मागधी गीति चित्र मार्ग में संभव है; जहाँ एककल ताल, द्रुत लय एवं अनागत ग्रह है। द्विमात्रिक प्रयोग होने के कारण इसमें एककल ताल ही है।

संभाविता गीति में वार्तिक मार्ग, द्विकल ताल (क्योंकि चतुर्मात्रिक प्रयोग है), मध्य लय तथा सम ग्रह है।

पृथुला गीति में दक्षिण मार्ग, चतुष्कल ताल (अष्टमात्रिक प्रयोग होने के कारण), विलंबित लय तथा अतीत ग्रह है।

शंका यह उठ सकती है कि मागधी में द्रुत लय है, तो अनागत ग्रह और पृथुला में, जो विलंबित लय की है, अतीत ग्रह कैसे संभव है? मतंग ने चूंकि लक्ष्य को प्रधानता दी है, अतः उन्होंने इसे नियम का विवर्तन माना है, जिसे ग्रह को बताते समय स्पष्ट किया गया है। वृत्ति के विवेचन में उन्होंने अवश्य इस पर विस्तार से चर्चा की है, किन्तु पाठ अत्यधिक भ्रष्ट होने से केवल यही स्पष्ट होता है कि 'वृत्ति' में 'वाद्यासमान' का अर्थ है 'गीत के अनुसार ग्रह होना' और 'वाद्यसमान' का अर्थ है 'वाद्य के अनुसार ग्रह होना।' फिर भी कुछ अधिक स्पष्ट नहीं है। अगर वृत्तियों को ग्रह के साथ बैठाया जाए, तो ऐसी कल्पना करना अनुचित न होगा कि जब गीत विलंबित होगा, उस समय वाद्य द्रुत होगा और इसी लिए 'पृथुला' में विलंबित लय के होते हुए भी अतीत ग्रह को बैठाया गया है। उसी प्रकार जब वाद्य विलंबित होगा, तो गीत द्रुत होगा, जबकि मागधी गीति में द्रुत लय है और अनागत ग्रह कहा गया है। यहाँ उन्होंने वाद्य से सम्बन्ध जोड़ते हुए ग्रह को कहा है और गीतियों को भी तदनुसार बैठाया है।

तीन गीतियों का (अर्धमागधी का मागधी में अन्तर्भाव माना गया है) लघु-गुरु योजना से सम्बन्ध है, जबकि प्रथम (मागधी) का आवृत्ति से भी सम्बन्ध है और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंतिम दो का सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि 'द्विगुर्द्विनिवृत्ता' का उल्लेख भरत-मतंग आदि सभी ने किया है।

गीत और वाद्य की सापेक्षता (relativity) का भाव 'वृत्ति' है। गीतियों को वृत्ति के साथ जोड़ते समय उपर्युक्त दोनों प्रकार इसमें आ जाते हैं। लघु-गुरु योजना गीत में जैसी होगी, वाद्य पर आघात (stroke) भी वैसा होगा।

इसके अतिरिक्त मतंग ने मागधी आदि के प्रयोग मार्ग में विभिन्न प्रकार से करने को कहा है, जो प्रायोगिक सिद्धान्त पर आधारित है। परन्तु शार्ङ्गदेवादि ने उस पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला एवं मतंग का पाठ भी खंडित होने से अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि विभिन्न मार्गों में गीतियों को गाने से गीतियों का रूप भेद हो जाएगा। उदाहरणस्वरूप :—

(अ) पृथुला में लघ्वक्षर है एवं उसमें आवृत्ति नहीं है। उसी की आवृत्ति कर क्रमशः लय-भेद करें, तो वह पृथुला 'मागधी' कही जाएगी :—

(आ) वार्तिक से आरम्भ कर चित्र में पहुँचे और आवृत्ति भी दो बार हो, तो वह 'मागधी' कही जाएगी।

(इ) चित्र मार्ग में आरम्भ कर वृत्ति मार्ग तक मागधी गीति जाए, तो वह 'संभाविता' हो जाएगी।

शार्ङ्गदेव ने जो उदाहरण मागधी आदि के लिए दिया है, उसमें मार्ग नहीं बदलता, केवल लय बदलती है। लय का जैसा विनियोग मतंग ने हर मार्ग के लिए दिया है, शार्ङ्गदेव ने उसका उल्लेख नहीं किया। मतंग ने प्रत्येक मार्ग के लिए जिन तीन लयों की परिपाटी बताई है, वह इस प्रकार है :—

दक्षिण मार्ग के लिए दक्षिण-वार्तिक-चित्र, जो क्रमशः 8-4-2 (2 गुरु, 1 गुरु, 1 लघु) मात्रा वाले हैं। वार्तिक मार्ग के लिए वार्तिक-चित्र-ध्रुव, जो क्रमशः 4-2-1 (1 गुरु, 1 लघु, 1 द्रुत) मात्राओं के हैं। चित्र मार्ग के लिए चित्र-ध्रुव-शून्य, जो क्रमशः 2-1-$\frac{1}{2}$ (1 लघु, 1 द्रुत, 1 अनुद्रुत) मात्राओं के हैं। मार्ग तालों में केवल गुरु-लघु मात्राओं का प्रयोग होता है एवं देशी तालों में द्रुत-अनुद्रुत आदि का। अतः यह स्पष्ट ही है कि मार्ग तालों में (जिन मार्गों का विवरण दिया गया है, जो मार्ग-संगीत के ताल के अन्तर्गत माने जाते हैं) इन मात्राओं को किस उद्देश्य से रखा गया है। क्या देशी तालों का प्रभाव मार्ग तालों पर भी पड़ा था ? मतंग का उद्देश्य भी देशी संगीत का विवरण एवं सिद्धान्त प्रस्तुत करना था। इस पर और अधिक अनुसंधान अपेक्षित है, परन्तु जब तक 'बृहद्देशी' का सम्पूर्ण खंड प्राप्त न होगा, तब तक इस ओर अधिक प्रकाश डाला जाना आसान नहीं है।

वर्तमान संगीत में गीति एवं वृत्ति का पूर्व-सूरियों द्वारा वर्णित प्रयोग ठीक वैसा दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे उदाहरण देने में असमर्थता प्रकट की जा रही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फिर भी वृत्तियों एवं उनके अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाली लयादि का अध्ययन करने पर हमें अपने प्राचीन संगीत की परम्परा का ज्ञान अवश्य हो जाता है। साथ ही जो परम्परा हमारे सम्मुख एक गहन अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी (जैसा हम कुछ समय पूर्व तक भी मानते थे), उस ओर प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार अनेक विषय अनुसंधान की वस्तु हैं, जिनका अन्वेषण कर एक-एक को निबन्ध के रूप में पाठकों के सम्मुख रखने से पाठक एवं लेखक, दोनों उपकृत होंगे। पाठक या श्रोताओं के मन में उठी जिज्ञासाओं के समाधान-हेतु अनुसंधान की ओर इच्छा मन में हो सकती है और इसी प्रकार अपने गौरवमय अतीत के संगीत का उत्तरदायित्व निभाया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. काव्यमीमांसा।

2. महाभाष्य।

3. काव्यप्रकाश।

4. नाट्यशास्त्र—अध्याय 1, 28, 29, 31 न अभिनवभारती विवृत्ति टीका सहित।

5. बृहद्देशी—गीति प्रकरण।

संगीत रत्नाकर—अध्याय 1, 5, 6। सिंहभूपाल तथा कल्लिनाथ की टीका सहित।

मीमांसा दर्शन।

दन्तिलम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

6

ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति में 'तान'

वर्तमान संगीत में तान का अर्थ सामान्य लोग भी जानते हैं। वह यह कि गाते या बजाते समय बहुत द्रुत कुछ सरगम प्रस्तुत करना, जो बहुत अभ्यास के पश्चात् गले या हाथ पर बैठ सकता है। यह तो हुई आम श्रोता की पहचान। संगीत के जिज्ञासु और शिक्षार्थी को यह ज्ञात है कि 'तान स्वरों का वह सन्निवेश है, जो राग का विस्तार करता हो।' वास्तव में 'तान' शब्द का अर्थ विस्तार करना ही है—'तन्यते विस्तारयत् इति'। किन्तु ग्राम-मूर्च्छना पद्धति में तान का प्रयोग दूसरी तरह से किया जाता था। वहाँ तान का सीधा सम्बन्ध मूर्च्छना से और बाद में स्वतन्त्र रूप में बताया गया है।

'नारदीय शिक्षा' में 'तान' शब्द का उल्लेख मिलता है। द्वितीय कंडिका के 2, 4, 5 श्लोकों में जो प्रयोग किया गया है, वह भरत के विचारों से भिन्न है। चतुर्थ श्लोक से यह ज्ञात होता है कि 'सप्त स्वर, तीन ग्राम और उनचास कोट तान' की परम्परा का आधार 'नारदीय शिक्षा' थी, जो लोक-मुख से आते-आते मध्ययुग के गीत के पदों और गायकों की भावनाओं में रम गया। प्रस्तुत लेख में भरत से मतंग तक के विचारों को एक अंश के और शार्ङ्गदेव एवं उनके टीकाकारों को दूसरे अंश के अन्तर्गत आलोच्य माना जाएगा।

1. म अंश—भरत ने तान की व्याख्या नहीं दी है। उन्होंने मूर्च्छना तथा तान, दोनों का प्रयोजन 'स्थान प्राप्ति' बताया है। सप्त स्वर युक्त व्यवस्था मूर्च्छना और षाडव-औडुव-भेद 'तान'।

मूर्च्छना का अन्य भेद है—'साधारणीकृता', 'काक्लीसमलंकृता' और अंतर स्वर संयुक्ता। जैसे आज किसी राग के स्वरों को वाद्य में प्राप्त करने के लिए किसी विशेष 'ठाठ' में मिलाने की बात की जाती है, उसी प्रकार मूर्च्छना तथा तान का प्रयोजन 'स्थान की प्राप्ति करना' था। परन्तु आज षाडव-औडुव राग के लिए कोई अलग पद्धति नहीं है, वरन् इसके लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है।

भरत के परवर्ती काल में मूर्च्छना और तान का प्रयोजन बिल्कुल उसी रूप में न रहा, जैसा भरत ने कहा है। बल्कि उससे भिन्न होकर मूर्च्छना का अर्थ 'स्थान प्राप्ति' एवं तान का अर्थ 'स्वर सन्निवेश का प्रयोग-विशेष' भी रह गया था। दत्तिल ने भरत का अनुकरण कर मूर्च्छना के ही 'षट्वंचक-भेद' को 'तान' कहा है। ये चौरासी हैं और आप्त (भरत) के द्वारा उदाहृत हैं। नारदादि ने देवाराधना (यज्ञ) के लिए अग्निष्टोम आदि तान कही है, जो पुण्य उत्पादन के लिए हैं। यहाँ बता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देना उचित होगा कि 'शिक्षा' में ऐसे नाम उपलब्ध नहीं होते। या तो 'नारदीय शिक्षा' का पूर्ण रूप हमें प्राप्त नहीं है, अथवा दत्तिल के समय भी इसका प्रयोजन कम रह गया था, जिससे उन्हें इन तानों का उपयोग देव-आराधना के लिए करना पड़ा। 'नाट्यशास्त्र' के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'तान मूर्च्छना का ही अंग था' और वह था 'पूर्णा मूर्च्छना' का षाडव-औडुव भेद। इसका विस्तृत और स्पष्ट उदाहरण 'बृहद्देशी में मिलता है'; जिसे सिंहभूपाल के उल्लेखों के आधार पर स्पष्ट किया जाएगा। मतंग ने चतुर्विध मूर्च्छना स्वीकार की है, परन्तु वह भरत का अनुकरण मात्र है। मतंग ने सोदाहरण इन मूर्च्छनाओं को प्रस्तुत किया है, साथ ही मूर्च्छना-मंडल भी बताया है। 'बृहद्देशी' से एक तथ्य और स्पष्ट होता है कि औडुव-भेदों में वर्ण्य-जोड़ियों में अनुवादी स्वर-युग्म का भी प्रयोग होता है; जैसे षड्ज-ग्राम में 'रि-प' तथा मध्यम ग्राम में 'रि ध'। मध्यम-ग्राम में 'रि-ध' के स्वर-संवाद होते हुए भी समश्रुतिकत्व न होने से शास्त्र में उसे अनुवादी-युग्म के रूप में गिना गया है। इसके अतिरिक्त चौरासी शुद्ध तानों के यज्ञ-नाम भी दिए, जो आगम-परम्परा का द्योतक है।

'संगीत-रत्नाकर' में मूर्च्छना-भेद की टीका करते समय सिंहभूपाल ने मतंग के श्लोकों का उदाहरण दिया है, जो 'भरत कोष' या प्राप्त 'बृहद्देशी' के पाठ से सर्वथा भिन्न है। अतः यह मानना अनुचित नहीं होगा कि सिंहभूपाल को 'बृहद्देशी' का शुद्ध पाठ प्राप्त था। इनके पाठानुसार "मूर्च्छना-तान का भेद मतंग के द्वारा प्रतिपादित किया गया है; जैसे कहा गया है—मूर्च्छना और तान में क्या भेद है ? उत्तर है—विशाखिल के अनुसार 'मूर्च्छना और तान में कोई अन्तर नहीं। परन्तु यह संगत नहीं है। संग्रह-श्लोक में मूर्च्छना और तान का भेद प्रतिपादित किया गया है।' अगर प्रश्न हो कि मूर्च्छना तान में कैसा भेद है ? तो उत्तर है कि 'आरोहावरोह क्रमयुक्त स्वर समुदाय मूर्च्छना होती है' और आरोह क्रम से तान यही भेद है।"

मूर्च्छना-तान में अभेदत्व विशाखिलाचार्य ने भी माना है, किन्तु उनके पश्चात् इसमें अन्तर आ गया होगा और मूर्च्छना-तान का अर्थ मतंग के समय काफी बदल गया होगा, अन्यथा उन्हें तानों के यज्ञ नाम देने की आवश्यकता नहीं होती; जिसका उल्लेख 'नाट्यशास्त्र' में नहीं मिलता है।

तान का प्रयोजन—

भरत ने दो प्रकार की तान-क्रिया 'प्रवेश' और 'निग्रह' बताई जो तन्त्री के लिए उपयोगी है। 'प्रवेश' का अर्थ है किसी वर्ज्य स्वर को उसके आगे पीछे के स्वर में मिला लेना। अर्थात् अगर गांधार स्वर वर्ज्य है, तो गांधार के तार को उसके आगे के स्वर मध्यम में प्रकर्ष (चढ़ा) कर मिलाया जाए अथवा पीछे के स्वर ऋषभ में मार्दव (उतार) कर मिलाया जाए। वीणा में जैसी सुविधा हो, तदनुसार ऐसा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कार्य किया जाए। 'निग्रह' का अर्थ है उस वर्ज्य स्वर में तार तो मिला रहे पर उसका स्पर्श ही न करें तथा उसे छोड़कर आगे के स्वर वीणा को ग्रहण करें। अभिनवगुप्त के अनुसार वीणा की तन्त्री में स्वर का लोप तभी करें तथा उसे छोड़कर आगे के स्वर को ग्रहण करें। अभिनवगुप्त के अनुसार वीणा की तन्त्री में स्वर का लोप तभी करें, जब कुशलता से स्वर का निग्रह न कर सकें—'वीणायां यदा तानक्रिया तदा लोप्यस्वर तंत्रीत्व क्रियते यदि तावत्कौशलं न स्पृश्यते यदि वा शिथिलीकरणे अधरस्वरसाम्यं षोऽनेन चोत्तरसाम्यं नीयते।"

लेखिका के अनुसार प्रथम विधि पृथक् स्वर के लिए पृथक तंत्रीयुक्त वीणा (मत्तकोकिला, चित्रा, विपंची) के लिए अधिक उपयुक्त है। द्वितीय विधि उन वीणाओं में सम्भव है, जिनके लोप्य स्वर को त्यागने से अर्थात् उसके रहते हुए भी छूने से वादन क्रिया या स्थान प्राप्ति में कोई विघ्न न हो। इनमें घोषा (एक-तंत्री), नकुली आदि वीणाएं आती हैं, जिन पर तार की लम्बाई को घटा-बढ़ाकर वादन किया जाता था। दोनों प्रकारों को प्रयोगविधि में प्रचलित रहते हुए देखकर भरत ने उसे शास्त्र सम्मत माना है। वैसे, तान का प्रयोग कंठ में द्वितीय विधि 'निग्रह' के द्वारा भी होता है, परन्तु प्रथम प्रकार 'प्रवेश' केवल तंत्रियों के लिए ही सम्भव है। अतः यह कहना कि 'नाट्य शास्त्र' में पाया जाने वाला पूर्वोक्त पाठ प्रक्षिप्त है, उचित नहीं है।

मूर्च्छना संपूर्ण है तथा तान उसके षाडव-औडुव भेद हैं। मतंगादि से शार्ङ्गदेव तक मूर्च्छना का प्रयोजन केवल स्थान प्राप्ति बताया गया है। षाडव-औडुव भेद को 'शुद्धतान' और क्रमशः एक स्वर से सात स्वरों तक के प्रस्तार को 'कूटतान' कहा गया। इस पर आगे चर्चा की जाएगी।

जैसे मूर्च्छना संपूर्ण है, आधुनिक मेल, संस्थान या ठाठ भी सम्पूर्ण माना जाता है। मूर्च्छना में प्रयुक्त 'साधारण' स्वरों के समान ही 'विकृत' स्वरों द्वारा भिन्न-भिन्न मेलादि का निर्माण किया गया है। मतंग के राजलक्षण प्रकरण में 'संस्थान' शब्द कई बार मिलता है। श्री चैतन्य देसाई के अनुसार—"Matanga has used the term "Sansthama' for any certain sagement of gamut or an octave."

शुद्ध-भिन्न-गौड़ी आदि राजलक्षणों के उदाहरण देते समय मतंग ने शुद्ध कैशिक तथा भिन्न कैशिक राग में अन्तर किया है। शुद्ध कैशिक का समस्त लक्षण भिन्न कैशिक में दिखने पर भी दोनों में गीतिकृत (गीतिशैली का) भेद है। शुद्ध कैशिक में शुद्ध गीति गाई जाती है, भिन्न कैशिक में भिन्न गीति मतंग ने इसका उद्धरण देते हुए कहा है—

"येन संस्थानेन रागीयते इति शुद्ध कैशिकेन तेन (स्थ?) संस्थाने भिन्न-कैशिके रागीयत इति। ·· येन संस्थाने (न) शुद्ध कैशिके स्वरलाप क्रियते, तत्संस्थानं विहा (य) तैरेव स्वरैरालापः कर्त्तव्यः।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री देसाई ने 'संस्थान' शब्द के परवर्ती लोचन या हृदयनारायणदेव के संस्थान के साथ एकीकरण करने की चेष्टा की है—"Later the medieval Northern authors Hrdayanarayanadeva and Lochana have used the terms Samsthana, Samsthiti etc. for Mela and Samsthana has mentioned for the Provincial terms as Thata for Mela."

परन्तु यह निश्चित तथ्य है कि मूर्च्छना, संस्थान अथवा मेल का उल्लेख राग-वर्गीकरण के समय किया जाता है, आलाप या गान-शैली के वर्णन में नहीं। यहाँ राग की शुद्ध-भिन्न शैली का वर्णन करते समय 'संस्थान' शब्द का उल्लेख किया गया है कि जिस 'संस्थान' में शुद्ध कैशिक गाया जाता है, उसी 'संस्थान' में भिन्न कैशिक नहीं गाया जाता। पाठ के गम्भीर अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट हो हो जाता है कि जब आलाप-क्रिया का वर्णन किया जा रहा है तो पाठ 'संस्थान' न होकर स्वस्थान होना चाहिए। आलाप के साथ इस शब्द का गहरा सम्बन्ध है, जिसका विशद विवरण 'संगीत-रत्नाकर' में मिलता है। लोचन के संस्थान के साथ इसे एकीकृत करने की चेष्टा कदापि उचित नहीं। शुद्ध कैशिक और भिन्न कैशिक में लगने वाले स्वर एक ही है; परन्तु स्वरालाप की क्रिया में अन्तर है। जिस 'स्वस्थान' पर शुद्ध कैशिक का स्वरालाप किया जाता है, उससे भिन्न 'स्वस्थान' पर भिन्न कैशिक का स्वरालाप होगा। अर्थात् दोनों की स्वरालाप-क्रिया में अन्तर है। अतः यह प्रमाणित हो जाता है कि मतंग के पूर्व-काल से ही आलाप में स्वस्थान-पद्धति का प्रचार हो रहा है।

कूटतान

भरत ने कूटतान का कोई स्पष्ट उल्लेख अवश्य ही नहीं किया, किन्तु इसका आभासमात्र दिया है—"इन्द्र च प्रयोक्तृ श्रोतृ सुखार्थं च मूर्च्छनाताननानात्वम्।" अभिनवगुप्त ने दत्तिल आदि मुनियों के द्वारा बताई तान-संख्या का उल्लेख तथा नष्टोदिष्ट विधि से कूटतानों को प्राप्त करने के उपाय को बताने के पश्चात् यह कहकर विषय को समाप्त किया है कि इन सबको कूटतान की प्राप्ति-संख्या को) विशद न बताकर मूर्च्छना-तान के साथ एक रूप में अन्तर्भुक्त कर भरत मुनि ने साधारण वचन कहा है कि प्रयोगकर्त्ता तथा श्रोता के सुख के कारण मूर्च्छना तथा तान अनेक प्रकार के होते हैं। अभिनवगुप्त के पाठ के अनुसार उनका यह अर्थ ठीक ही बैठता है। अभिनवगुप्त ने मूर्च्छना के तानरूप में प्रयोक्ता का सुख माना है, क्योंकि उससे उसे (प्रयोक्ता को) स्थान की प्राप्ति हो जाती है और जो श्रोता आगमवित् (शास्त्रज्ञ) है, उनको भी सुख मिलता है, क्योंकि प्रयोग में उन्हें मूर्च्छना-तान के रूप का दर्शन हो जाता है। वैसे मूर्च्छना का तो आगम (शास्त्र) में विशेष प्रयोग नहीं है, किन्तु सामक्रिया में इनका स्फुट प्रयोग है। उदाहरणस्वरूप—उत्तरमंद्रया तिस्रो गाथा' अथवा 'अग्निष्टोमोयमाद्यं स्याद द्वितीयं वाजपेयिकं' इत्यादि। बहुत संभावना है कि शुद्धतानों के यज्ञ-नामों की परम्परा का आधार यही रहा हो,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिसका सर्वप्रथम संकेत दत्तिल ने और विस्तारित विवरण मतंग ने दिया है।

एक प्रश्न उठ सकता है कि आगम में मूर्च्छना का दर्शन नहीं होता, इसका क्या अर्थ है ? किसी भी जाति-गान के समय कोई यह कहकर नहीं गाता कि अमुक मूर्च्छना का गान हो रहा है, बल्कि उस मूर्च्छना से प्राप्त जाति का नाम लिया जाता है। शास्त्र में भले ही पहले किसी मूर्च्छना से किसी जाति का उद्भव मान लिया गया हो; परन्तु जाति के प्रयोग के समय उस मूर्च्छना विशेष का नाम नहीं लिया जाता। साम में इससे विपरीत क्रिया होती है। सामगान में किसी मूर्च्छना विशेष या तान विशेष को गाने के लिए कहा गया है। इससे 'बृहद्देशी' में प्राप्त उल्लेख के आधार की जो संभावना ऊपर सोची गई है, उसकी पुष्टि होती है। अभिनवगुप्त ने भी उसी ओर संकेत किया है, क्योंकि उनके पास 'बृहद्देशी' में दिए कूटतानों के यज्ञ नाम भी प्राप्त थे। यह परम्परा भरत से अलग अथवा परवर्ती रही, क्योंकि भरत ने कूटतान का न विशेष उल्लेख किया है, न मूर्च्छना-तानों (शुद्ध तानों) के यज्ञ नामों का। तान का प्रयोग उन्होंने केवल मात्र स्थान प्राप्ति हेतु ही निर्दिष्ट किया है। यह कल्पना करने में बाधा नहीं कि भरत ने चूंकि नाट्याश्रित संगीत का वर्णन किया है, अतः संगीत के प्रत्येक अपेक्षित क्षेत्र का सूक्ष्म वर्णन करने का प्रयोजन न था। नाट्य से बाहर संगीत-जगत् में अवश्य ही इससे भिन्य अन्य क्रियाएँ भी रही होंगी, जिस ओर अभिनवगुप्त ने संकेत किया। चूंकि दत्तिल को केवल संगीत के तत्वों का ही प्रतिपादन करना था, अतः उन्होंने कूटतानों का उल्लेख संख्या के साथ किया है। अभिनवगुप्त ने एक और संकेत 'नारदीय शिक्षा' के प्रति किया है— 'ऋक्गाथा-साम' के उपयोगी 'नारदीय शिक्षा' में तथा पुराणादि में भी तानपर्यंत स्वर मंडल को दिखाया गया है, जिससे प्रयोक्ता को अदृष्ट सुख की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि आज 'नारदीय शिक्षा' में प्राप्त ग्रामराग प्रक्षिप्त और परवर्ती योग है।

भरत की बताई मूर्च्छनाओं के अतिरिक्त अन्य मूर्च्छनाएँ भी प्रयोग में आती थीं, जो श्रोता की श्रवणेन्द्रिय को सुखदायक थी तथा रागभाषादि में प्रयुक्त होती थीं। अभिनवगुप्त ने कहा है—"मूर्च्छनानां च यन्नानात्वं तदुपनियमद्वारेण दर्शितम् तच्छ्रोतृलक्षणं अर्थ प्रयोजनं कर्मभूतं प्रयोक्तृ युक्ते तच्छीलम्। एतदुक्तं भवति— यद्यपि जातिषु षाडवौडुविका नियता एवं गणितास्तथा च राग भाषा वैचित्र्यं श्रोतृ-सुखजनक मुन्मूलयितुं स्वातंत्र्येण स्वरलोपोमध्यमवर्जः प्रदर्शितः"।

उपर्युक्त व्याख्या में अंतिम वाक्य ध्यान देने योग्य है, जिसमें श्रोतृ सुख के कारण मध्यम के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्वर का राग भाषा के वैचित्र्य के कारण वर्जन करना लक्ष्य में प्रचलित माना गया है। परन्तु इसके विपरीत गान क्रिया में या कभी-कभी (ग्राम राग की) भाषा में भी मध्यम स्वर का लोप अभिनवगुप्त ने विहित माना है; पाठ भ्रष्ट होते हुए भी जिसका आशय स्पष्ट हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मतंग का देशी प्रकरण (जिसमें रागांगादि का वर्णन है) प्राप्त न होने से इस विषय पर विशेष कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु अभिनवगुप्त के द्वारा स्थान-स्थान पर दिए गए संकेत से इस अनुमान की पुष्टि होती है कि गान (देशी) में उन नियमों का कोई वन्धन न था, जिसके विना गांधर्व (मार्ग) अर्थहीन था। मध्यम वर्ज्य करने का संकेत भी मिलता है। अन्य उदाहरण हैं—"गाधर्व शास्त्रं (स्त्रे) इषदसमाप्ते गांधर्वे ग्राम राग रूप इति वानेन भाषादेशीमार्गादिषु मध्यमस्यापि विनाशित्वमभ्युपगतं भवति।" वादी-संवादी की व्याख्या करते समय 25 षड्ज के मूलत्व की ओर इंगित किया है; यद्यपि खंडित होने से पाठ स्पष्ट नहीं हो पाया है। मूर्च्छना व तान (शुद्ध तान, जिसे मतंग ने अलग करने के लिए यज्ञनामों के साथ उल्लेख किया है) का प्रयोजन गांधर्व के लिए तथा कूटतानों का गान के लिए है। शार्ङ्गदेव ने इसे स्पष्ट किया जिसका विवेचन आगे किया जाता है।

मूर्च्छना-तान का प्रयोजन स्थान प्राप्ति था और वह भी वीणादि वाद्य में ही। कंठ पर 'प्रवेश'-'निग्रह' के नियम लागू करने की कोई तुक नहीं। कंठ में स्वतः स्वर का निग्रह यानी असंस्पर्श हो जाता है। यह जान लेना भी उचित है कि 5040 कूटतानों का प्रयोजन या अभ्यास भी कण्ठ तथा विशेषतः वाद्य के लिए है। कंठ में भी इसका अभ्यास किया जाता है, किन्तु वाद्य में अधिक स्पष्ट और छष्ट भी है। आज भी गायक व वैणिकों के घराने में ऐसी कूटतानों का प्रयोग वाद्य पर हाथ साफ करने के लिए करते और करवाते हैं।

2. य अंश शार्ङ्गदेव ने मूर्च्छना के षाडव-औडुव भेद को 'शुद्धतान' कहा और मतंग के वताए यज्ञनामों का उल्लेख भी किया। इसके अतिरिक्त असम्पूर्ण और सम्पूर्ण स्वरों को लेकर व्युत्क्रम से वने रूपों को 'कूटतान' कहा, जिसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने दत्तिल के उद्धरणों द्वारा किया है। प्रत्येक मूर्च्छना के स्वरों में क्रमशः प्रस्तार करने से 5040 कूटतानों की प्राप्ति होती है। शार्ङ्गदेव ने नष्टोछिष्ट विधि के द्वारा इसे स्पष्ट किया है।

मूर्च्छना, शुद्धतान, कूटतान के विस्तृत विवरण के पश्चात् शार्ङ्गदेव ने स्वीकार किया है—

गांधर्वे मूर्च्छनास्तानाः श्रेयसेश्रुतिचोदिताः।
गाने स्थानस्य लाभेन ते कूटाश्चोपयोगिनः॥

कल्लिनाथ ने इसकी टीका की है—

"गांधर्वे वक्ष्यमान लक्षणो गीतविशेषस्तत्र । मूर्च्छनास्ताना इति । ताना शुद्धतानाः। ते च शुद्धा इति प्रकरणाल्लभ्यते । तत्साहचर्या-मूर्च्छना अपि शुद्धा एवं विवक्षिताः श्रेयसेऽदृष्टफलाय। श्रुतिचोदिता इति। श्रुति शब्देन तदनुगृहीताः स्मृतयोऽप्युपलक्ष्यंते। ··कूटतानानां तु केवलं दृष्टफलत्वेनो पयोगमाह··गान इति। गान च लक्ष्यमानलक्षणं तस्मिन्। स्थानस्य तत्तन्मूर्च्छं नावशेन सारितानां स्वराणामाधार श्रुतेर्लाभेन परिज्ञानेन।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिंहभूपाल के अनुसार "मूर्च्छनास्तानाश्च गांधर्वे मार्गे गाने श्रुतिचोदिताः श्रुत्या विहितः। श्रेयसे ऽभ्युदयाय निः श्रेय सार्थम्। ततश्च शुद्धमूर्च्छना-नानादि प्रयोगस्य धर्मत्वमपि सूच्यते 'यतोऽभ्युदय निःश्रेय ससिद्धि स धर्मः' इत्यङ्गीकारात्। गान इति। गाने देशी गाने ते शुद्ध मूर्च्छनास्ताना कूटतानाश्च स्थानस्य लाभेन रंजकस्थाय विशेष लाभेन चोपयोगिनो भवति। अथवा मंद्र मध्यता राख्य स्थान प्रप्तस्य उपयोगिणो भवति।"

उपर्युक्त व्याख्या से कई तथ्यों का संकेत मिलता है—

(i) 'तान' का अर्थ शार्ङ्गदेव ने भी शुद्ध तान माना है। मूर्च्छनाओं जैसे नियमबद्ध 54 षाडव-औडुव भेद को भरत ने 'तान' कहा। इनमें केवल एक या दो स्वरों का वर्णन-मात्र अन्वित था। स्वरों के क्रम में कोई परिवर्तन अभीष्ट न था। एक से सात स्वरों तक के क्रमों (Combinations) में व्युत्क्रम (Permutations) से बने भेदों को कूटतान कहा जाने लगा तो मूर्च्छना तान के लिए किसी व्यावर्तक (भेदक) विशेषण की आवश्यकता खड़ी हुई क्योंकि 'मूर्च्छना' तो कूटतान का भी आधार थी। अतः भरतकालीन मूर्च्छना-तान 'शुद्ध तान' कहलाने लगी।

(ii) मूर्च्छना के साथ शुद्धतान का उल्लेख होने से कल्लिनाथ ने मूर्च्छना को भी शुद्ध होने का संकेत दिया है। इसका आधार भरत के द्वारा 'अंतरादि' स्वरों का केवल आरोह में अत्यल्प प्रयोग मानना था। परन्तु यह तथ्य स्पष्ट है कि शुद्ध के अतिरिक्त मूर्च्छना के सांतरादि भेद भी होते थे।

(iii) गान या देशी पद्धति में मूर्च्छनाओं के सारित (मिलाने) से स्वरों को आधार श्रुति का लाभ हो जाता है। मंद्र-मध्य-तार स्थानों की प्राप्ति भी आधार-श्रुति के मिलने पर हो जाती है। इनके अतिरिक्त कूटतानों के प्रयोग से दृष्टफल या रंजकता भी मिल जाती है।

निष्कर्ष—अभिनवगुप्त ने जैसे गान में कूटतानों का प्रयोग बतलाया, इन्हीं शब्दों की पुनरावृत्ति शार्ङ्गदेव व उनके टीकाकारों ने की है। शुद्धतानों का प्रयोग केवल गान्धर्व में माना गया है, यद्यपि इन षाडवादि तानों का प्रयोजन भरत के समय तक केवल स्थान प्राप्ति करना मात्र था। राग-सौन्दर्य (melody) की विस्तार प्रक्रिया में वर्णन-विधि से प्राप्त षाडव-औडुव स्वर-समूह भरतोक्त 'तान' है। जब व्युत्क्रम से स्वर के प्रयोग की गाणितिक व्यवस्था एक से सात स्वरों तक के समूह के आधार पर दी गई, तब इस व्युत्क्रम को 'कूटतान' नाम दिया गया और भरतोक्त मूर्च्छना-तान को 'शुद्धतान' कहा जाने लगा। शुद्धतान जाति-राग-भाषादि के लिए उपयोगी और कूटतान संचार-विधि का गणित-सिद्ध रूप है। संचार तो भरतोक्त जाति आदि में भी होते थे, किन्तु उनका गणित-सिद्ध रूप, हो सकता है, तब तक निश्चित नहीं किया गया हो अथवा किया भी गया हो तो उसने अधिक महत्व नहीं पाया, क्योंकि जाति या ग्राम-राग नपे-तुले और पूर्व-निर्दिष्ट विधि से ही प्रयोग किया जाता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

था। प्रयोक्ता को मनमानी करने की छूट नहीं थी, क्योंकि यह ब्रह्मोक्त था इसीलिए मूर्च्छना और तान के नाना प्रकार के होने पर भरत ने केवल संकेतमात्र दिया है। यह पहले चर्चित हो चुके हैं। शुद्धतान (मार्ग) गांधर्व में उपयोगी है, तथा कूटतान गान (देशी) में, इस तात्पर्य का अर्थ यही निकाला जा सकता है। अन्त में निष्कर्ष यही निकला कि—

(i) भरत के पश्चात् स्थान-प्राप्ति का साधन केवल संपूर्ण मूर्च्छना को ही माना जाने लगा।

(ii) शुद्ध तान रागों की जातियों के स्वर-प्राप्ति हेतु व्यवहृत न होकर केवल विशेष साधन (Practice) करने वाला विषय रह गया था, जिससे उचित साधन से यज्ञफल की प्राप्ति होना माना गया एवं प्रत्येक स्वर से प्राप्त तानों के यज्ञनाम भी दिए गए जो भरतोत्तर काल का विकास है।

(iii) गांधर्व (मार्ग) के नियम की कठोरता अधिक होने से परवर्ती काल में उसका व्यवहार लोक में कम होता गया और देशी में नियमों की स्वाधीनता रखने से संचार भी प्रत्येक स्वरों के विभिन्न प्रकार से हुए, जिसे 'कूटतान' कहा गया और इसी कारण कूटतानों को देशी के लिए उपयोगी माना गया है।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. नारदीय शिक्षा—भट्ट शुभंकर की टीका सहित।
2. नाट्यशास्त्र—28, 29 अध्याय अभिनवभारती सहित।
3. दत्तिलम्।
4. बृहद्देशी—तान प्रकरण।
5. संगीत रत्नाकर—अध्याय 1, सिंहभूपाल व कल्लिनाथ की टीका सहित।
6. भरतकोष।
7. भरत का संगीत सिद्धान्त।
8. *Journal of Music Academy*, Madras, Gandharva & Deshi
9 स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

7

श्रुति, सारणा तथा मूच्छना का विभिन्नार्थक प्रयोग

संगीत के विद्यार्थी तथा सामान्य जिज्ञासु भी श्रुति, सारणा तथा मूर्च्छना से परिचित हैं। उपर्युक्त तीन संज्ञाओं का शास्त्रीय अर्थ के अतिरिक्त भी सांगीतिक तथा सामान्य विषय के लिए उपयोग किया गया है। क्रमशः इन तीनों संज्ञाओं को हम पहले संगीत के तकनीकी और फिर अन्य अर्थों में देखेंगे।

श्रुति

(i) **सांगीतिक अर्थ**—'श्रुयते इति श्रुतिः।' अथवा 'श्रवणाच्तयो माताः' इस प्रकार श्रवण गोचर ध्वनिमात्र सामान्य अर्थ में 'श्रुति' है किन्तु संगीत शास्त्र में श्रुति शब्द का दो विशिष्ट अर्थों में प्रयोग हुआ है जो एक दूसरे के साथ जुड़े हैं। स्वर जिस स्थान पर प्रकट होता है, वह भी 'श्रुति' है और किसी भी नादात्मक ध्वनि के प्रकटीकरण के क्रम में जो प्रथम अभिघातज ध्वनि है, वह भी श्रुति है तथा उस अभिघातज ध्वनि से परवर्ती अनुरणात्मक ध्वनि 'स्वर' है। इस प्रकार श्रुति स्वर की अभिव्यक्ति का स्थान भी है, और स्वर की अभिव्यक्ति के क्रम में प्रथम अभिघातज ध्वनि भी। स्वर से अलग श्रुतियां तो अव्यक्त ध्वनिस्थानों के रूप में ही रहती हैं। 'श्रुति' के ये दोनों अर्थ परस्पर सम्बद्ध इसीलिए हैं कि नियत स्थान पर अभिघात ही श्रुति कहला सकता है, अनियत स्थान पर अभिघात शास्त्रीय अर्थ में श्रुति नहीं है। इसीलिए किसी भी ध्वनि को प्रकट करने से वह स्वर हो जाती है, श्रुतिमात्र नहीं रह पाती। अतः श्रुति को धारणा (concept) भी समझ सकते हैं। अर्थात् स्वरों में श्रुति हैं, इसकी बौद्धिक उपलब्धि होती है, किन्तु सारणा के अतिरिक्त प्रयोग में कहीं कहीं श्रुति को प्रत्यक्ष दिखाना सम्भव नहीं।

(ii) **अन्य अर्थ**—स्वरों के सूक्ष्म अन्तरालों के अतिरिक्त 'श्रुति' शब्द का प्रयोग अन्य अर्थों में मध्ययुग में किया जाता था। जहाँ तक प्राप्त हो सका है, उनका विवेचन किया जा रहा है—

पार्श्वतन्त्रियों को 'श्रुति' कहने की परम्परा वादकों में कब से प्रारम्भ हुई यह कहा नहीं जा सकता, परन्तु लिखित प्रमाण के रूप में ऐसा उल्लेख सर्वप्रथम रामामात्य के 'स्वरमेल कलानिधि' में मिलता है जो रामामात्य का लिखा हुआ है। ऐसा अर्थ रामामात्य को अवश्य ही वैतिक परम्परा से प्राप्त हुआ था। रामामात्य के समय तक 'श्रुति' का प्रयोग आधार स्वर (drone या tonic) के रूप में होने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लगा था। 'संगीत राज' में भी किन्नरी की दो 'पार्श्वतन्त्रियों' का वर्णन है जो षड़जग्राम में षड़ज पंचम में और मध्यमग्राम में षड़ज-मध्यम में मिली होती थी। कुम्भ ने मतंग के आधार पर ही किन्नरियों की तन्त्रियों को मिलाने का वर्णन किया है। कुम्भ ने इसे 'श्रुति तन्त्री' नहीं कहा, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि उनका प्रयोग आधार या स्थायी स्वर (drone) को स्थायित्व प्रदान करने के लिए किया जाता रहा।

'श्रुति' का एक और 'अर्थ आधार स्वर' को या 'drone' देने के रूप में लगाया जाता है। कर्णाटकी संगीत में तम्बूरा को मिलाते समय 'श्रुति मिलाना' या 'श्रुति छोड़ना' ही कहते हैं। हिन्दुस्तानी संगीत में इसे 'स्वर छेड़ना' कहते हैं। रामामात्य, सोमनाथ आदि ने इसका उल्लेख नहीं किया, किन्तु तुलजाजी ने किया है। तुलजाजी के शब्दों में—

गानादौ गृह्यते येन स्वरेण तुलितो ध्वनिः।
स षड़जः श्रुतिशब्देन लोक उद्घुष्यते जनैः॥
स्वरो धर्तव्य इत्युक्ते निखिलोत्तरगायनैः।
क्रियते यः स्वरः स स्यात्षड्ज एव न चापरः॥

इसी तुलित ध्वनि को जो स्वरों को धारण कर रखता है, दक्षिण में 'श्रुति मिलाना' और उत्तर में 'स्वर मिलाना' कहते हैं।

सारणा

(i) सांगीतिक अर्थ—श्रुति के प्रकृत स्थान तथा उनकी संख्या के ज्ञान का उपाय 'सारणा चतुष्टयी' है। यानी श्रुति को परखने एवं नापने की एकमात्र विधि सारणा है। इस क्रिया से प्रमाणित होता है कि एक स्वर से दूसरे स्वर के बीच कितनी श्रुतियां सम्भव हैं, श्रुतियों के नाप कैसे सिद्ध किए जा सकते हैं, श्रुतियों के अनुपात (ratio) क्या हैं इत्यादि। यह निश्चित हो चुका है कि श्रुति को नापने की मुख्य विधि सारणा है जो केवल वीणा पर ही सम्भव है। प्रश्न उठ सकता है कि कण्ठ और वेणु (वंशी) पर सारणा विधि क्यों नहीं बताई गई ? उत्तर स्पष्ट है –क्रमानुसार श्रुतियों का प्रदर्शन कण्ठ में करना असम्भव है। और वेणु में यह विधि कदापि सम्भव नहीं, क्योंकि बार-बार स्वर उतारने-चढ़ाने का कार्य केवल तन्त्रीयुक्त वाद्य ही कर सकता है। स्वर रूप में श्रुतियों का प्रयोग तो वेणु कर सकता है किन्तु जहां उसे स्थिर रूप देने का प्रश्न या समस्या खड़ी होती है, वहां वीणा ही सफल काम है।

(ii) अन्य अर्थ—श्रुति के प्रकृत स्थान तथा उनकी संख्या के ज्ञान का उपाय 'सारणा चतुष्टयी' है, जो ऊपर स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त 'सारणा' शब्द का प्रयोग अन्य अर्थों में किया गया है जो वीणा से सीधे सम्बन्ध रखता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मूर्च्छना का एक अर्थ (वीणा के तार को) 'मिलाना' भी होता है, और इसी अर्थ में 'सारता' शब्द का भी व्यवहार होता है। दत्तिल एवं कालिदास ने स्पष्टतः उल्लेख किया है। अगर दत्तिल को भरत का समकालीन माना जाये (क्योंकि भरत ने अपने पुत्रों में दत्तिल का नाम गिनाया है), तो ये कालिदास-पूर्ववर्ती निश्चित है। दत्तिल के अनुसार मूर्च्छना को वैणिक द्वारा 'सारणा' भी कहा जाता है। जिससे (वीणा पर) मूर्च्छनादि की स्थापना की जाती है। यहां पर मूर्च्छना का दो बार प्रयोग हुआ है—वीणा को मिलाने यानी 'सारणा' करने और उस मिली हुई वीणा पर मूर्च्छना को स्थापित करने के अर्थ में, दत्तिल के शब्दों में—

इत्येता मूर्च्छनाः प्रोक्ताः सारणाश्चैव वैशिकैः (वैणिकैः ?)
संस्थाप्य मूर्च्छनामेवंचान्या वक्ष्यानुगः (?) क्रमः ॥

इसी अर्थ में कालिदास ने 'मेघदूत' में विरहणी यक्षिणी के द्वारा वीणा पर 'सारणा' करने का उल्लेख किया है—

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणा
भद्गोत्रांक विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमांद्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥

यहां 'मूर्च्छना' एवं 'सारणा' दोनों शब्दों का उल्लेख भिन्न अर्थों में किया गया है। अश्रु से आर्द्र (भीगी) तन्त्री का सारण करके यानी उसे मिलाकर यक्षिणी स्वयं की बनाई हुई मूर्च्छना (जाति या राग को प्राप्त करने के लिए मिलाये गये स्थान या विशिष्ट सप्तक) को भूल जाती है। कवि के द्वारा 'सारणा' का प्रयोग मिलाये जाने के अर्थ में किये जाने का तात्पर्य यह है कि 'सारणा' का सामान्य अर्थ वीणा को मिलाना रहा और लोकजीवन में भी यही अर्थ प्रचलित रहा होगा।

सारणा का इसी अर्थ में प्रयोग कुम्भ ने भी किया है—

येन येन स्वरेणैव योगस्तन्त्र्याः प्रतन्यते ।
सारणाभेदमाश्रित्य सा स्यात्तत्तत्स्वराह्य या ॥
तां तां वा मूर्च्छनामस्यामभ्यसेत्तद्विदग्रणी ।

'सारणा भेद' का अर्थ यहां तन्त्री के मेल व भेद से करना चाहिए जिससे विभिन्न प्रकार की मूर्च्छनाएं बनती हैं।

इसके अतिरिक्त 'सारणा' को 'क्रमिका' का पर्याय माना गया है। वामहस्त से धारण कर बजाये जाने वाला दण्ड चाहे वह लकड़ी का हो, चाहे किसी धातु का हो, क्रमिका या सारणा है। साथ ही क्रमिका की क्रिया (बजाने की क्रिया) को भी 'सारणा' ही कहा गया है।"

कम्त्रिका तत्क्रिया चोक्ता सारणा ·········।

सिंहभूपाल का कथन है—

'वादनवेणुदण्डरूपं क्रमिका तस्याः क्रिया च सारणेत्युच्यते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार श्रुति-मान करने वाली विधि को 'सारणा' की संज्ञा दी गई; किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी सारणा का प्रयोग होता रहा जो संगीत के साथ ही काव्य में भी अपना स्थान रखता है।

मूर्च्छना

(i) सांगीतिक अर्थ—ग्रामों में क्रमिक सप्त स्वर-युक्त व्यवस्था को 'मूर्च्छना' कहा गया है; मूर्च्छना का ऐसा सामान्य अर्थ प्रायः संगीत जिज्ञासुओं को ज्ञात है। सप्त स्वर के साथ तीन ग्राम और इक्कीस मूर्च्छना की परम्परा तो ध्रुव पद के पदों के साथ मध्ययुग के प्रायः सभी उत्तर के गायकों से सम्बन्धित दिखते हैं, भले ही मूर्च्छना का वह सही रूप प्रचलित परम्परा में व्यवस्थित न हो। नारदीय शिक्षा, मतंग की वृहद्देशी और परवर्ती ग्रन्थों में षड़ज-मध्यम-गांधार ऐसे तीन ग्राम और हर ग्राम की सात-सात मूर्च्छनाएँ होने से इक्कीस मूर्च्छनाओं का उल्लेख मिलता है। इन्होंने अन्तिम ग्राम को देवलोक में स्थित यानी मर्त्य में प्रयोग न होने वाला माना है। भरत ने लोक प्रचलित नाट्य शास्त्र की रचना करनी थी, अतः उन्होंने उन्हीं ग्रामों तथा तज्जोनित मूर्च्छनाओं का विवेचन किया है जो मर्त्य लोक से सम्बन्धित था। यही कारण है कि उन्होंने षड़ज और मध्यम इन दोनों ग्रामों का वर्णन किया है और साथ ही उनके अन्तर्गत चौदह मूर्च्छनाओं का भी।

(ii) अन्य अर्थ—मूर्च्छना का प्रयोजन 'स्वरों को मिलाना' ही है। अर्थात् एक मूर्च्छना से प्राप्त स्वरों के पश्चात् दूसरे राग के स्वरों की प्राप्ति करनी है तो उसके अंश स्वर से मूर्च्छना तथा उसके विभिन्न स्थानों की सीमा (range) को प्राप्त कर सकते हैं। भरत के समय आधार स्वर षड़ज नहीं था। विभिन्न मूर्च्छना से भिन्न-भिन्न जातियों ग्राम राग के स्वरों की प्राप्ति की जाती थी उस समय वही स्वर उस जाति विशेष का 'ग्रह' व 'अंश' स्वर बन जाता था। जैसे आज भी लोक संगीत में किसी एक स्वर को स्थिर रखकर नहीं गाया जाता वरन् अपने कण्ठ की सीमा का अनुसरण कर किसी स्वर को मूल स्वर मान लिया जाता है। लोकगीत के गायकों में यह प्रक्रिया भी पाई जाती है कि स्वाभाविक स्वर में न गाकर सबसे ऊंची ध्वनि से गान आरम्भ करते हैं और वहीं समाप्त करते हैं। इसका थोड़ा आभासमात्र आज भी पाश्चात्य संगीत के बदलते मूल स्वर (Keynote या Tonic) पर गायन वादन की प्रथा भी मिलती है। भरत का नाट्य भी लोक विनोद की वस्तु थी, केवल कहीं-कहीं उसका प्रयोग लोक विनोद के साथ-साथ अदृष्ट-सिद्धि का उद्देश्य लेकर भी होता था। अतः यह मानना अहेतुक न होगा कि आज के लोक गीत में जिस शैली का आभासमात्र मिलता है, उसका परिष्कृत रूप ही उनके नाट्य के अन्तर्भूत किया गया होगा। परवर्ती काल में परिवर्तन आते रहने के कारण भरत परम्परा का लोप होने लगा और लोक में आभास के रूप में यह प्रथा जीवित रही। साथ ही जैसे-जैसे नाट्य से बाहर के संगीत स्वतन्त्रता लिए समाज के सम्मुख

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आया और मानव-वुद्धि और परिचर्या से नया-नया विकास होता गया। भरत की परम्परा को 'मार्ग' और नूतन प्रकार को 'देशी' की संज्ञा मिली। फिर भी नवीनों ने भरत की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए ग्राम-मूर्च्छना के अन्तर्गत ही इस नई विधि को बांधने की चेष्टा की। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर देशी संगीत के सर्वप्रथम ग्रन्थ रचनाकार मतंग हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश आज उनके ग्रन्थ का कोई पूर्ण और शुद्ध पाठ उपलब्ध नहीं है।

दत्तिल ने स्पष्ट रूप से मूर्च्छना का अर्थ 'वीणादि को मिलाने' के रूप में किया है। तंत्री को तानने के अर्थ में 'मूर्च्छना' का प्रयोग किया गया है।

'क्रममुत्सृज्यं तन्त्र्यां तननैर्मूर्च्छनास्तु याः।'

इसके पश्चात् अभिनवभारती में इसी अर्थ में मूर्च्छना' का प्रयोग हुआ है। नाट्य शास्त्र के 28वें अध्याय में प्रथम श्लोक की वृत्ति करते हुए अभिनवगुप्त ने वीणा के महत्व की व्याख्या की है। उनके शब्दों में – "तत्र मूर्छितायां वीणायामशिक्षितेनाप्यभिहननेन स्वरत्वोपलम्भः। नत्वेव वंश इति ततातोद्यस्यैव प्राधान्यम्। अर्थात् "मूर्च्छित यानी मिली हुई वीणा पर अशिक्षित द्वारा आघात करने पर भी स्वर की प्राप्ति होती है। वंश में ऐसा नहीं है (क्योंकि फूंक ही उसका प्राण है।) अतः वीणा की प्रधानता दिखती है।"

मध्ययुग में मूर्च्छना का प्रयोग गांधर्व के समान न था, यह पहले कहा जा चुका है। परन्तु वीणा पर 'मूर्च्छना' का अभ्यास किया जाता था, जिसका प्रमाण स्वर्गीय उस्ताद अलाउद्दीन खां साहब की शिष्य परम्परा में मिलता है। प्राथमिक शिक्षा देते समय ये विलावल के स्वरों में (जिसे आधुनिक काल में शुद्ध स्वर सप्तक माना जाता है। क्रमशः स से सं, नि से नि, ध से ध, प से प, म से म, ग से ग, रे से रे और पुनः स से स तक का अभ्यास 'मूर्च्छना-अभ्यास' के नाम से कराते हैं। उपर्युक्त स्वरों में षड़ज के अतिरिक्त निषादादि स्वरों को 'षड़ज' नहीं बल्कि निषाद, धैवत आदि स्वनाम से ही अभ्यास कराने की शिक्षा दी जाती है। यह विधि भरत-कालीन मूर्च्छना-सिद्धान्त का स्मरण कराती है। उस्ताद अलाउद्दीन खां साहब को परम्परानुसार (रामपुर से) शिक्षा मिली थी; अतः भरतकालीन विधि का क्षीण स्रोत वीणा तक स्थिर रह गया था; भले ही समस्त रागों का प्रारम्भिक अथवा आधार स्वर षड़ज ही था। मूर्च्छना की ऐसी शिक्षा लेखिका को भी मिली है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक युग में श्री क्षेत्रमोहन गोस्वामी ने 'वीणादि यन्त्र के वादन में एक स्वर से अन्य स्वर अविछिन्न रूप से प्रकाशित करने को मूर्च्छना' कहा है। यह रूप आज का मीड़ है जो शार्ङ्गदेवोक्त गमकों में एक प्रकार विशेष है। वीणा में अंगुलि द्वारा तन्त्री का कर्षण कर 'मूर्च्छना' की प्राप्ति की जाती है। कण्ठ में यह 'कर्षण' स्वभावतः होता है, जहाँ किसी बाहरी तत्व की आवश्यकता नहीं।

लेखक ने दो प्रकार की मूर्च्छना बताई है – अनुलोम तथा विलोम। 'अनुलोम'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में एक दो या उससे अधिक आघात के पश्चात् कर्षण किया जाता है; 'विलोम' में पहले कर्षण होता है फिर आघात। आज की भाषा में इसे क्रमशः 'सीधी मीड तथा उल्टी मीड' कहते हैं।

इस प्रकार कालान्तर में परम्परावादी अशिक्षित (?) वैणिकों में मूर्च्छना का विभिन्नार्थ प्रयोग होता रहा और आज भी होता आ रहा है।

श्रुति, सारणा और मूर्च्छना के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि इनका सांगीतिक और भिन्नार्थक दोनों प्रयोग वीणा के परिप्रेक्ष्य में हुआ। कुछ ही लोग इन अर्थों और प्रयोग के विषय में ज्ञान रखते हैं। अतः 'बहुजनहिताय' इन्हें स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक था।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. नारदीय शिक्षा।
2. नाट्यशास्त्र—28, 29 अभिनवभारती सहित।
3. बृहद्देशी।
4. संगीत रत्नाकर—136 अध्याय, टीकाओं सहित।
5. स्वर मेल कलानिधि।
6. संगीत राज—1 म भाग।
7. संगीत सारामृत।
8. दत्तिलम्।
9. मेघदूत।
10. संगीत सार।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

8

वीणा-वादन की प्रविधि-धातु तथा करण

प्राचीन काल से वर्तमान तक संगीत में वीणा का महत्व सर्वाधिक वताया गया है। इसीलिए वैदिक ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में कहा है :—

वीणावादनतत्वज्ञः श्रुति जातिविशारदः।
तालज्ञश्चा प्रयासेन मोक्षमार्ग निगच्छति ।।

वीणा का अर्थ दो प्रकार से लिया जा सकता है—पहला वीणा वाद्य विशेष है; जैसे मत्तकोकिला विपंची, चित्रा, एकतंत्री इत्यादि अलग-अलग वीणाएँ हैं। दूसरा, तत वाद्य ही वीणा है, अर्थात् चतुर्विध वाद्यों का एक प्रकार है तत वाद्य, जिसका अर्थ है 'तंत्री-वाद्य' और 'तत' को ही 'वीणा' कहा गया है। वीणा का एक और अर्थ अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' की टीका करते हुए कहा है। भरत ने जहाँ केवल वीणा या वैणिक का उल्लेख किया, अभिनवगुप्त ने वहाँ मत्त-कोकिला वीणा से सम्बन्ध जोड़ा है। उदाहरणतः 'वैपंचिको वैणिकश्च वंशवादस्तथैव च'। अठ्ठाईसवें अध्याय के चतुर्थ श्लोक की टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा—'विपंची अपूर्णतंत्रीका कोण वादनीया वीणात्वेकविंशतितंत्रीका, अर्थात्— विपंची अपूर्ण तंत्रीयुक्त वाद्य है, जो कोण से बजाई जाती है तथा 'वीणा' एकविंशति या इक्कीस तंत्री वाला वाद्य है (मत्तकोकिला)। पुनः अभिनवगुप्त ने उन्नतीस अध्याय में 'करण' (अंगांगी वीणाओं के संबंधयुक्तवादन) की टीका करते हुए मत्तकोकिला की प्रधानता का उल्लेख किया है—'तत्र मत्तकोकिला प्रधानभूता। एकविंशतितंत्रीकत्वेनान्यूनाधिकं त्रिस्थान स्वरसारणा जाति गीति वीणा शरीर मुच्यते।' जैसे किसी जाति में एक विशेष व्यक्ति के नाम से ही पूरी जाति का नाम हो जाता है, उसी प्रकार भरतोक्त 'वीणा' (मत्तकोकिला) से संपूर्ण तत वाद्य को वीणा के नाम से जाना गया है।

भारतीय संगीत में वीणा का महत्व अत्यधिक है। दो प्रकार की वीणाएं मानी गई हैं—'शारीरी' तथा 'दारवी'। कंठ, जो ईश्वर-प्रदत्त है, उसे 'शारीरी वीणा' और दारू या कण्ठ से निर्मित वाद्य को 'दारवी वीणा' कहा गया है। अभिनवगुप्त दारवी वीणा की प्रशंसा शतमुख से करते हुए कहते हैं, 'स्वरांश' में तत व सुषि रही हैं। ये दोनों स्वर की परमार्थता—रक्ति व रंजकता—का वितरण करते हैं। शरीर में वाणी की परुषता अर्थात्, कर्कशता होती है। इस दोष को तंत्री तथा वेणु अपनी स्वभाव-मधुर ध्वनि से आच्छादित करती हैं। "···मूर्छित अर्थात् मिली हुई वीणा में न्यूनता या अधिकता की शंका नहीं है, अतः अगर अशिक्षित भी उस पर आघात करे, तो स्वरत्व की प्राप्ति होगी। कंठ में स्वरत्व न होने पर स्वर नहीं ध्वनित होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। वंश में तो स्वर मिलाने की आवश्यकता नहीं है। परंतु अशिक्षित द्वारा उसे फूंकने पर विस्वर ही निकलता है, क्योंकि फूंक ही उसका प्राण है। अतः परम् स्वर में तता तोद्य की प्रधानता जाननी चाहिए।" इन शब्दों से ही हम हृदय से अनुभव करते हैं कि वीणा का प्राचीन काल में क्या महत्व रहा है। आज भी हिन्दुस्तानी संगीत में तंबूरा, वेला की सहायता के बिना गायन संभव नहीं है। कर्णाटकीय संगीत में भी तंजौर-वीणा या वेला के अभाव में कंठ, रस परिवेशन में असमर्थ है।

शरीर का प्रतिविम्ब दाखी-वीणा में मानने पर दोनों वीणाओं के केवल उत्तर-अधर भेद को शरीर के उत्तर-दक्षिण के विपरीत मान सकते हैं; अथवा शरीरगत स्वर के अनुसार ही वीणा के स्वरों के भी उत्कर्ष-अपकर्ष देखे जाते हैं। परन्तु न दर्पण के समान शरीर का विपर्यय वीणा में है, न शरीर का प्रतिच्छंदक (Portrait) वीणा है, न शरीर की प्रतिध्वनि से स्वर वीणा द्वारा निकलते हैं; अतः वैण स्वर को शारीर स्वर का प्रतिविम्ब मानना अनुचित है। फिर भी विपर्यय मानें, तो प्रथमोक्त वाद्यों तक ही सीमित रखना होगा।

वीणा स्वरात्मिका है, अर्थात् स्वर के व्यस्त (बिखरे) व समस्त (एक साथ) रूप का समवाय इसमें है। स्वर व्यस्त रूप है, ग्राम समस्त रूप। दाखी वीणा के अन्तर्गत स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, वृति, शुष्क, साधारण, जाति, वर्ण, अलंकार, धातु आदि आ जाते हैं जिन्हें देखा, सुना व परखा जा सकता है। कंठ में ये न देखे जा सकते हैं, न परीक्षण योग्य हैं। शरीर वाग्रूप होने के कारण उसे सरस्वती-प्राकट्य का माध्यम कहा है और काष्ठ से भी स्वर निकलने के कारण दाखी वीणा वाग्रूपा बन जाती है। शरीर के हर अंग-प्रत्यंग में देवों का अधिष्ठान कहा गया है, उसी प्रकार दाखी वीणा के प्रत्येक अंग का अधिष्ठाता एक-एक देव माना गया है। अतः काष्ठ से किसी भी अंश में कम तो नहीं, अधिक ही वीणा का महत्व शास्त्रविदों ने माना है, जो यथार्थ है।

तत वाद्य के इतिहास की ओर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि सारिकाहीन वीणाओं का उन्मेष सर्वप्रथम हुआ। एक डंडी पर एक तार बांध देने पर अवश्य ही वह ध्वनित होगा और अधिक प्रयत्न के फलस्वरूप शततंत्री वीणा तक मनुष्य अग्रसर हो सका है। शततंत्री वीणा वैदिक गान के लिए प्रयुक्त होती थी।

चूंकि भरत का 'नाट्यशास्त्र' संगीत शास्त्र पर भी आदिम-प्रामाणिक ग्रंथ है, अतः वही इस लेख का मुख्य आधार है। साथ ही नान्यदेव के 'भरतभाष्य' व 'नाट्यशास्त्र' पर अभिनवगुप्त की टीका की सहायता ली गई है। भरत परंपरा के अंतिम शास्त्रकार शार्ङ्गदेव ने जहां तक उनका अनुसरण किया है, उनका अध्ययन प्रस्तुत प्रबंध में किया गया है। प्रसंगवश आधुनिक दो ग्रंथ श्री के० वासुदेव शास्त्री का 'संगीत शास्त्र' तथा डा० लालमणि मिश्र के शोध ग्रंथ 'भारतीय संगीत वाद्य' की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयोजनानुसार सहायता ली गई है।

इस प्रसंग में निम्नलिखित विषय उक्त ग्रंथों में मिलते हैं—धातु, करण, हस्तव्यापार (एकतंत्री व किन्नरी पर)। इनके निरूपण में विविध ग्रंथों में क्रम-भेद मिलता है। भरत ने धातुओं के पश्चात् करणों की व्याख्या की है। हस्तव्यापारों का कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया। भरत के समय तक एकतंत्री वीणा का कोई प्रमाण नहीं मिलता है और शार्ङ्गदेव ने एकतंत्री वीणा पर ही हस्तव्यापारों का विवेचन किया है। भरत की वीणा 'मत्तकोकिला' थी, ऐसा हम अभिनवगुप्त के आधार पर जानते हैं। यह दोनों हस्तों की अंगुलियों द्वारा बजाई जाती थी। धातु विवेचन इसी पर हुआ है।

भरत की विषयवस्तु केवल नाटय में प्रयुक्त गीत वाद्य होने से हम ऐसी आशा भी नहीं कर सकते हैं कि शार्ङ्गदेव की तरह, उन्हें भी प्रत्येक प्रकार के वाद्य के नाम व लक्षण गिनाने की आवश्यकता थी। 'नाट्यशास्त्र' के 29वें अध्याय को टीका के गंभीर अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि विपंची वीणा को विशेष परिस्थितियों में 'कोण' द्वारा बजाने को भी कहा गया है। इस 'कोण' का अर्थ 'क्रमिका' या 'सारणा' होना चाहिए, जिसे वाम हस्त से धारण कर 'स्थान-प्राप्ति' के लिए प्रयोग किया जाता था। यानी एक ही तंत्री पर लंबाई घटा-बढ़ा कर विभिन्न स्वर निकाले जाते थे। अभिनवगुप्त ने इस 'स्थान-प्राप्ति' के लिए एकतंत्री वीणा के अनुरूप 'नियम' को विपंची वीणा में भी माना है। अतः यदि भरत ने एकतंत्री वीणा नहीं कही है, तो भी उसके सदृश वादन-विधि का संकेत मात्र तो 'विपंची' के प्रसंग में दे ही दिया है।

करण में अंगागी वीणाओं के संबंध को कहा गया है। मुख्य वीणा (मत्त-कोकिला) की वादन-क्रिया का अंग वीणा (विपंची-चित्रादि) कैसे अनुसरण करती है, इसी विशेष प्रक्रिया को -'जो नाट्य' के पूर्वरंग में प्रयुक्त होती थी—करण माना जाता है। चूंकि वादन की प्रक्रिया भरत के समय तक धातुओं पर ही निहित थी, अतः 'करण' भी धातुओं पर आश्रित रहे। इसी दृष्टिकोण से भरत का क्रम 'धातु के पश्चात् 'करण' उचित प्रतीत होता है तथा ऐसा यहाँ भी प्रस्तुत किया गया है। शार्ङ्गदेव ने 'करण' के पश्चात् 'धातु' को किस उद्देश्य से बताया है, यह स्पष्ट न होने से वह क्रम नहीं लिया गया है।

इस प्रकार विभिन्न स्वरों के लिए विभिन्न तंत्री, एक ही तंत्री पर सारिकाओं के बिना विभिन्न स्वर तथा सारिकाओं पर विभिन्न स्वर—ततवाद्य की ये तीन कोटियाँ हमारे सम्मुख हैं, जिनके प्रसंग में 'प्रविधि' और 'वस्तु' का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जाएगा।

धातु—'धातु' शब्द सभी शास्त्रों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। व्याकरण में 'धातु' का अर्थ है, 'जिससे शब्द निष्पन्न होता है'। वैयाकरण पाणिनि ने प्रायः दो हजार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धातु कहे हैं। भाषा के मूल बीज (Root) 'धातु' हैं। आयुर्वेद में वात-पित-कफ को 'धातु' कहा गया है, जिससे समस्त जीव-शरीर का निर्माण हुआ है। इन्हें देखा नहीं जा सकता, परन्तु इनमें से किसी एक का भी विकार होते ही उसे हम अनुभव करते हैं। मनुष्य-शरीर में 'ओज' को 'धातु' की संज्ञा दी गई है। यह शरीर के मूल बीज का घटक है, जिसे हम सत्व-रज-तम भी कहते हैं। इसे भी देखा नहीं जा सकता, परन्तु आचरणादि से किसी एक गुण का परिस्फुटन होता है। इसी प्रकार वीणा की वादनक्रिया में प्रयुक्त समस्त विकसित वस्तुओं का सार 'धातु' में है। इसके विना वीणा-वादन सम्भव नहीं है। अतः बीज रूप होने के कारण वादन की प्रविधि को 'धातु' संज्ञा दी गई, क्योंकि यह 'वीणा वाद्य के स्वरूप' को 'धारण' करते हुए वादन में रक्ति प्रदान करता है। धातु का लक्षण ग्रंथों में इस प्रकार मिलता है :—

पुष्णंति वीणावाद्यं ये रक्ति
दधति चातुलाम् । 124 ।
कुर्वंत्यदुष्टपुष्टिं च तांधातूनधुना ब्रुवे ।
ये प्रहारविशेषोत्याः स्वरास्ते धातवो मताः । 125 ।

अर्थात्—वीणा के 'वाद्य' (बाज, जो आगे कहे जाएंगे) की जो पुष्टि करते हैं, अत्यन्त रक्ति अर्थात् रंजकत्व देते हैं, तथा अदुष्ट (दोप रहित) स्वरों (नाद) की पुष्टि करते हैं, उन 'धातुओं' को अब कहा जाता है। प्रहार विशेष से उत्थित या उदित स्वर 'धातु' है।

अभिनवगुप्त के अनुसार—

दधत्य दृष्टं विशिष्टं दृष्टं रक्तिं च वितरंति धारयति च वीणावाद्य-स्वरूपमिति। प्रहार विशेषजन्याः स्वराः। तत्समुदायोऽपि जन्यंश कल्पमानो धातुः।··· अंशेन सामान्यलक्षणं धातुनामुक्तम्।'

नान्यदेव ने 'सरस्वतीहृदयालंकारहार' नामक भरत भाष्य में अभिनवगुप्त के शब्दों को, श्लोकबद्ध किया है—

'दधत्यदृष्टं रक्तिं च विशिष्टं वितरंति यत्।
धारयंति यतो वीणावादो तस्माच्च धात्तवः ॥
कोणांगुली-प्रहारोऽथ स्वरजात्युपलक्षितः।
समुदायस्तयैतेषां धातुरित्यभिधीयते ॥

राणा कुंभकर्ण ने शार्ङ्गदेव का ही अनुसरण किया है।

'धातु' वीणा-वादन की प्रविधि है। जैसे आज हमारी सम्पूर्ण वादन-क्रिया 'दा, रा, दिर, दा, रदा—र दा,' इस प्रकार के बोलों पर आश्रित है, तद्वत् प्राचीन वैणिकों की वादन-क्रिया धातुओं पर आश्रित थी। उन्हीं की सहायता से वीणा के हस्तव्यापार, वाद्य (बाज), करण, निर्गीत वाद्य आदि की रचना हुई थी।

भरत की मुख्य वीणा 'मत्त कोकिला' तथा 'अंग विपंची-चित्रा' थीं, जो क्रमशः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केवल नख या अंगुली से अथवा कोण (प्रयोजनानुसार) और नख (या अंगुली) से बजाई जाती थीं। आज भी हिन्दुस्तानी संगीत में कोई-कोई वीणाओं पर झाला नखाग्र द्वारा बजाना श्रेयस्कर मानते हैं। वर्तमान कर्णाटक-संगीत में तंजौर वीणा के परम्परावादी वैणिक नख द्वारा यंत्र बजाना ही श्रेयस्कर मानते हैं। भरत ने वादन के लिए दक्षिण हस्त की अन्य अंगुलियों के साथ अंगुष्ठ का भी अत्यधिक प्रयोग बताया है। आज यूरोपियन वाद्य 'हवाइयन या स्पेनिश गिटार' और जापान के 'कोटा' के अतिरिक्त शायद ही और कहीं अंगुष्ठ का प्रयोग होता हो।

धातु चतुर्विध है, जो क्रमशः तारता (Pitch), मुख्य रूप से लघु-गुरु, गुरु-लघु या लघु-योजना तथा आघात (Volume) के वैशिष्ट्य का प्रदर्शन करता है। प्राचीन वैणिक, वादन के लिए अक्षरों के ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत को काल-निर्णय का आधार मानते थे। ह्रस्व अर्थात् लघु अक्षर के उच्चारण की अवधि एक मात्रा-काल, गुरु अक्षर की अवधि द्विगुण अर्थात् दो मात्रा-काल तथा प्लुत अक्षर की अवधि तीन मात्रा-काल समझी गई। वर्तमान संगीत में मात्रा या अक्षर का विभाजन केवल लघु के अनुसार ही होता है, तारता या आघात के प्रयोग बहुतायत से किये जाते हैं। धातु व उनके भेद यथाक्रम इस प्रकार हैं—

1. विस्तार धातु—जहाँ नाद (ध्वनि) विस्तीर्ण अर्थात् फैला हो, वहाँ विस्तार धातु है। 'विस्तीर्ण' से अलंकार का अर्थ न लेकर ध्वनि का विस्तार समझना चाहिए। विस्तार चतुर्विध है—विस्तारज, संघातज, समवायज तथा अनुबंध। सभी धातुओं के प्रकार में 'अनुबंध' एक प्रकार होता है, जिसका अर्थ 'मिश्रण' है। जब धातु-प्रकार परस्पर एक-दूसरे से मिश्रित होकर एक नवीन रूप धारण कर लेता है, तो उसे 'अनुबंध-प्रकार' माना जाता है।

(अ) विस्तारज—लघु तथा शीघ्र प्रहार से स्वर जहाँ एकाकार हो जाए, वहाँ विस्तारज धातु है। स्वर का सुदीर्घ प्रयोग यहाँ अभिप्रेत है। वास्तव में वह धनुष द्वारा ही पूरी तौर पर सम्भव है। आघात द्वारा बजने वाले हस्त-वाद्यों में स्वर की सुदीर्घता के लिये एक से अधिक आघात आवश्यक है, क्योंकि एक आघात का नाद अधिक देर तक टिक नहीं सकता, इसलिये शार्ङ्गदेव ने कहा है—

प्रहारलाघवात्कृत्वा स्वरानेकीकृतानिव।

दूसरे के मत से कहीं वैचित्र्य के लिये स्वर की कुछ समय तक विश्रान्ति हो, तो वहाँ 'विस्तारज' है। रूक-रूककर स्वर लेने की विधि शार्ङ्गदेव ने अलंकार-प्रकरण में 'विस्तीर्ण आरोही अलंकार' के लिये भी कही थी। अतः कल्लिनाथ के अनुसार विस्तारज में मात्र स्वररूपत्व ही नहीं, बल्कि 'विशिष्ट वर्ण सन्दर्भस्वरूपत्व रूप' भी है।

(ब) संघातज—दो आघातों से 'संघातज' का निर्माण हुआ है। संघातज व समवायज के आघातों को उत्तर-अधर की संज्ञा दी गई, जिसे क्रमशः मंद्र-तार भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहा गया है। अलंकार-प्रकरण में मंद्र-तार की संज्ञा सापेक्ष है। अगर मंद्र-स्थान में 'मंद्र' है, तो मध्य-स्थान में 'तार' होगा। अगर मध्य-स्थान में 'मंद्र' है, तो तार-स्थान में 'तार' होगा। 'मंद्र' का चिन्ह स्वर के नीचे विंदु से तथा 'तार' का चिन्ह स्वर के ऊपर बिन्दु से माना गया है। यह काम किसी भी सप्तक में सापेक्षता से किया जा सकता है। अगर कोई इसे मंद्र व तार-सप्तक की क्रिया मानें, यह भ्रान्ति है। उत्तर को 'मंद्र' व अधर को 'तार' की संज्ञा वीणा के दृश्य रूप के कारण दी गई है। साधारणतः वीणा के ऊपर-नीचे के अंग को ही उत्तर-अधर-रूप माना जाता है। संघातज व समवायज के प्रत्येक प्रकार के बोल 'दा' और 'रा' मान सकते हैं। गुरु-लघु का इस प्रसंग में कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु स्वर की स्पष्टता के लिये यहाँ हमने प्रत्येक आघात को गुरु मान लिया है। संघातज के चार भेद हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. द्विरुत्तर—'द्विरुत्तर' का अर्थ है 'दो बार उत्तर हो जहाँ,' तथा 'उत्तर' का अर्थ है 'मंद्र', अतः मंद्र स्वर का दो बार प्रयोग 'द्विरुत्तर' है।

उदाहरणार्थ—सा सा
दा रा

2. द्विरधर—'द्विरधर' का अर्थ है 'दो बार अधर को लेना'। 'अधर' का अर्थ है 'तार'। अतः तार में दो बार आघात करना चाहिये।

उदाहरणार्थ—सा सा
दा रा

3. अधराद्युत्तरांतक—भरत ने इसे 'अधरादि उत्तरावसान' कहा है। दोनों समानार्थक हैं। यहाँ आदि में तार व अंत में मंद्र का प्रयोग होता है।

उदाहरणार्थ—सा सा
दा रां

4. उत्तराद्यधरां तक—आरम्भ में मंद्र व अंत में तार स्वर से इसका निर्माण हुआ है। भरत ने इसे 'उत्तरादि अधरावसान' कहा है।

उदाहरणार्थ—सा सां
दां रा

(स) समवायज—त्रिक प्रहार का समवाय 'समवायज' कहलाता है। ये अष्टविध है, जो क्रम-वर्णित है—

1. त्रिरुत्तर—मंद्र स्वर में तीन बार आघात 'त्रिरूत्तर' है।

उदाहरणार्थ—सा सा सा
दां रां दां

2. त्रिरधर—तार-स्वर में तीन बार आघात 'त्रिरधर' है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदाहरणार्थ—सां सां सां
दा रा दा

3. द्विरुन्तराधरात—जहाँ आरम्भ में दो मंद्र व अन्त में एक तार हो, यह 'द्विरुत्तराधरात' है।

उदाहरणार्थ—सा सा सां
दा रा दा

4. द्विरधरोत्तरांत—आरम्भ दो तार तथा अंत एक मंद्र से हो, वह 'द्विरधरोत्तरांत' है।

उदाहरणार्थ—सां सां सा
दा रा दां

5. उत्तरादिद्विरधर—आदि एक मंद्र से तथा अन्त दो तार से हो, तो इस धातु का निर्माण होता है, जिसे भरत ने 'उत्तरमुखोद्विरधर' कहा है।

उदाहरणार्थ—सा सां सां
दां रा दा

6. अधरादिद्विरुन्त्तर—प्रारम्भ एक तार से तथा समाप्त दो मन्द्र से हो यह बनता है। इसे भरत ने 'अधरमुखोद्विरूत्तरावसान' के नाम से संज्ञित किया है।

उदाहरणार्थ—साँ सा सा
दा रां दां

7. मध्योत्तरद्विरधर—आरम्भ व अन्त तार से हो तथा बीच में मन्द्र-स्वर हो तो 'मध्योत्तरद्विरधर' है।

उदाहरणार्थ—सां सा सां
दा रां दां

8. अधरमध्यादिद्विरुत्तर—आदि तथा अन्त में 'मन्द्र' हो, मध्य में 'तार' स्वर हो, तो वह 'अधरमध्यादिद्विरुत्तर' है।

उदाहरणार्थ—सा सां सा
दां रा दा

(द) अनुबन्ध—सजातीय व विजातीय भेदों के मिश्रण से 'अनुवन्ध धातु' उत्पन्न हुआ है। सजातीय व विजातीय का अर्थ विस्तारज, संघातज एवं समवायज के परस्पर भेदों का मिश्रण तथा एक भेद का अन्य प्रकार के मिश्रण से बना नवीन रूप, प्रत्येक प्रकार 'अनुबन्ध' है। मिश्रण के द्वारा ये वहुविध हो सकते हैं, अतः इसे एक ही प्रकार माना है, क्योंकि इसमें शुद्धता नहीं रहती।

इस प्रकार विस्तार धातु के 1+4+8+1=14 भेद सम्भव हैं, जिनका प्रयोग आधुनिक वाद्यों में वादन-क्रिया में भी होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2. करण—धातु के अंतर्गत ये 'करण' हैं। इनके साथ मुख्य तथा अंग वीणा-वादन की प्रक्रिया का कोई सम्वन्ध नहीं। हां, करण विधि के प्रकारों में कहीं-कहीं करण धातु का प्रयोग भी होता है। करण धातु के बोल लघु-गुरु अर्थात् ह्रस्व-दीर्घ मिश्रित होते हैं। लघु यहां भूरि-भूरि मिलते हैं। लघु की एक मात्रा मानने से गुरु द्विमात्रिक अथवा गुरु को एक मात्रिक मानने से लघु अर्द्ध मात्रिक हो जाता है। भरत से कुंभ तक 'करण' का स्पष्टीकरण केवल लघु-गुरु के रूप में मिलता है, बोल नहीं वताए गए हैं—

त्रिक पंच सप्तनवकैर्यथाक्रमं संयुतो भवेद्धाद्ये।
सर्वं रनुबंधकृतैर्गुर्वंतः स्यात् करण धातुः ॥

अर्थात् करण धातु में तीन-पांच सात-नौ ऐसे अक्षर यथाक्रम होंगे तथा प्रत्येक का अंत गुरु से करना होगा। अनुवंध' सवका मिश्रण है।

वर्तमान हिन्दुस्तानी संगीत के आधार पर लध्वक्षर के लिए ह्रस्व वोल 'दि' या 'र' तथा गुर्वक्षर के लिए 'दा' या 'रा' मान लिया गया है। साथ ही दि' या 'र' को एक मात्रिक व 'दा' रा 'रा' को द्विमात्रिक माना है। यद्यपि आधुनिक संगीत में केवल लघु मात्रिक प्रयोग ही अवशेष रह गया है। लघु-गुरु के बोलों का नियम करण व आविद्ध, दोनों में एक सा माना जाएगा। करण धातु पंचविध है, जो इस प्रकार है—

(अ) रिमित—इसमें दो लघु व एक गुरू अक्षर है। आघात तीन व मात्राएं चार हैं। छंद की दृष्टि से इसे 'स ग ण' रूप का कह सकते हैं।

उदाहरणार्थ—	1	2	3
	दि	र	दा

(ब) उच्चय—चार लघु व एक गुरू के मिश्रण से 'उच्चय' बनता है। इसमें आघात पांच व मात्राएं छह हैं।

उदाहरणार्थ—	1	2	3	4	5
	दि	र	दि	र	दा

(स) नीरटित—'नाटयशास्त्र' में 'नीरमित' पाठ भी है। छह लघु व अन्त में एक गुरु से यह निर्मित हैं। इसमें आघात सात व मात्राएं आठ हैं।

उदाहरणार्थ—	1	2	3	4	5	6	7
	दि	र	दि	र	दि	र	दा

(द) ह्राद - अष्ट लघु व एक गुरु 'ह्राद' के निर्माण के कारण हैं। इसमें आघात नौ और मात्राएं दस हैं।

उदाहरणार्थ—	1	2	3	4	5	6	7	8	9
	दि	र	दि	र	दि	र	दि	र	दा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(य) अनुबन्ध—चतुर्विध भेदों के विविध मिश्रण से अनेक प्रकारों का निर्माण हो सकता है, वे सभी अनुवन्ध के अन्तर्गत आ जाते हैं। शार्ङ्गदेव ने कहा है—'विस्तार धातु के अनुवन्ध के अनुरूप करण धातु का अनुवन्ध भी अनेक भेदों से युक्त हैं।'

3. आविद्ध—करण धातु के समान ही आविद्ध धातु में गुरु-लघु की योजना है। अन्तर इतना है कि करण धातु में लघु-क्रिया अत्यधिक है, आविद्ध धातु में या तो गुरु क्रिया भूरि भूरि हो, अथवा संपूर्ण गुरु हीन हो और केवल लघु आघात का प्रयोग हो। प्लुताक्षर का उल्लेख भरत से कुम्भ तक किसी ने नहीं किया है उदाहरण के लिए—

भूरिगुर्गुरूहीनो वाविद्धोऽस्य विधृतेर्भिदाः।

आविद्ध धातु में प्लुत आघात को भी जो मानते हैं, उन्हें संभवतः आविद्ध का एक प्रकार 'प्लुत' को देखकर प्लुत की धारणा बनी है। प्लुत भेद में केवल लघु-गुरु की ही योजना है, अथवा भरत के अनुसार केवल लघु आघात है। आविद्ध के लिए भरत का कहना है :

द्विस्त्रिश्चतुष्कनवकैः प्रहारैः क्रमशः कृतैः।
आविद्धधातुर्विज्ञेयः सानुबंध विभूषितः॥

अर्थात्,—क्रमशः दो-तीन-चार-नौ प्रहार करने पर आविद्ध धातु जाना जाता है, जो अनुवंध से भूषित है। भरत केवल लघु आघात ही मानते हैं। गुरू आघात का उन्होंने व उनके टीकाकारों ने उल्लेख तक नहीं किया है। शार्ङ्गदेव लघु-गुरु दोनों आघातों को मानते हैं तथा भरत के मत को 'अपरेडब्रवुन्' कहकर उल्लिखित किया है। कुम्भकर्ण ने भरत व शार्ङ्गसूरि के उल्लेख के साथ अन्य मतों को भी उद्धृत किया है। भरत के लघु आघातों के स्थान पर शायद गुरु-लघु क्रिया शार्ङ्गसूरि के समय अधिक प्रचलित हो गई थी। पंचविध आविध धातु का स्पष्टीकरण भरत, शार्ङ्गदेव तथा राणा कुम्भ के उल्लेखों से यहां किया जाता है—

(अ) क्षेप—भरत के अनुसार दो लघु; शार्ङ्गदेव के अनुसार एक लघु, दो गुरू तथा कुंभ के अनुसार एक गुरु दो लघु प्रहारों से 'क्षेप' का निर्माण होता है। ये क्रमशः ऐसे हैं—

भरत		शार्ङ्गदेव			कुंभकर्ण		
1	2	1	2	3	1	2	3
दि	र	र	दा	दा	दा	दि	र

छंद की दृष्टि से शार्ङ्गदेव तथा कुम्भ का उदाहरण क्रमशः 'य ग ण' व 'भ ग ण' से है।

(ब) प्लुत—भरत ने तीन लघु, शार्ङ्गदेव ने एक लघु, एक गुरु तथा सिंहभूपाल ने लघु-गुरु-लघु रूप 'प्लुत' के लिए माना है। कुम्भ ने तीनों के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदाहरणों का उल्लेख किया है। प्लुत शब्द में प्लुताक्षर कहीं नहीं है। प्लुत का अर्थ है 'तीन' (आघात या अक्षर)। ऐसा अर्थ सम्मुख रखने पर भरत व सिंह-भूपाल का उदाहरण उचित प्रतीत होता है। शार्ङ्गदेव के उदाहरण में केवल दो ही अक्षर हैं। ये क्रमशः दर्शित हैं—

भरत			शार्ङ्गदेव		सिंहभूपाल		
1	2	3	1	2	1	2	3
दि	र	र	रि	दा	र	दा	र

उपर्युक्त उदाहरणों में छंद की दृष्टि से भरत का उदाहरण 'न ग ण' व सिंहभूपाल का 'जगणात्मक' है।

(स) अतिपात—'अतिपात' के लिए भरत ने चार लघु, शार्ङ्गदेव ने दो वार लघु-गुरु अर्थात् लघु-गुरु-लघु-गुरु का क्रम रखा है। कुंभ ने इन दोनों का उल्लेख किया है। ये ऐसे हैं—

भरत				शार्ङ्गदेव			
1	2	3	4	1	2	3	4
दि	र	दि	र	र	दा	र	दा

(द) अतिकीर्ण—भरत ने नौ लघु प्रहारों से 'अतिकीर्ण' की व्याख्या की है। शार्ङ्गदेव ने लघु-गुरु-लघु-गुरु-लघु-गुरु-लघु-गुरु-लघु इस प्रकार नौ आघातों का क्रम रखा है। ये मलिखित है—

भरत—	1	2	3	4	5	6	7	8	9
	दि	र	दि	र	दि	र	दि	र	र
शार्ङ्गदेव—	1	2	3	4	5	6	7	8	9
	र	दा	र	दा	र	दा	र	दा	र

प्लुत के आघात को तीन गुण करने पर 'अतिकीर्ण' बन जाता है, परन्तु इसे प्लुत से अलग करने के लिए बोल को भी अलग किया गया है, जिससे दोनों में एक-रूपता न आए।

(ई) अनुबन्ध —पूर्व-कथित अन्य धातुओं के अनुबंधवत् करण धातु के अनुबंध को भी जानना चाहिए। सजातीय-विजातीय मिश्रण से अनेक प्रकार संभव होने के कारण यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया।

करण और आबिद्ध धातु में अल्प अंतर ही है। करण धातु में तो यह आवश्यकीय है कि अधिक लघु हो तथा अंत गुरू से किया जाए। आबिद्ध के लिए केवल लघु आघात मानने से करण धातु से यह संपूर्णतया अलग हो जाता है। शार्ङ्गदेव ने 'भूरि-गुरु' माना है, जबकि लघु-गुरु-क्रम उनके उदाहरणों में समान रूप से प्रयुज्य दर्शित होते हैं। छंद की दृष्टि से 'करण' व 'आबिद्ध' एक-दूसरे से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संपूर्णतया अलग दिखते हैं और यही इनके अंतर को बतलाने का एकमात्र उपाय है।

उपर्युक्त करण व आविद्ध धातु के भेदों को देखने से यह ज्ञात होता है कि तंत्रीवाद्य में बोल के विविध प्रकारों की रचना का आधार यही है, यद्यपि यह स्पष्ट है कि मात्राओं के लघु-गुरू-क्रम में गुरू अक्षर का प्रयोग आज नहीं होता, न अर्द्ध-मात्रिक आघात का प्रयोग होता है। 'दि' और 'र' को जोड़कर अर्द्ध मात्रा के स्थान पर एक मात्रा बना ली जाती है और 'दा' या 'रा' स्वयं एकमात्रिक है। फिर भी वीणाओं में मिजराब, जवा या गज (धनुष) से जिन बोल प्रकारों का निर्माण किया जाता है, उनका मूल रूप ये धातुएं हैं।

व्यंजन धातु—अंगुली भेद मात्रेण व्यंजनस्तद्धिदांब्रुवे। अर्थात्—अंगुली के भेद मात्र ही व्यंजन धातु है। कल्लिनाथ ने इनकी स्पष्ट व्याख्या की है—'व्यंजन धातु में प्रहार-संख्या का नियम है, लघु-गुरु या मंद्र-तार का नियम नहीं है।' कुंभ के मत से भिन्न-भिन्न अंगुलियों की प्रहार क्रिया व्यंजन धातु है। दोनों हस्तों की दस अंगुलियों के विविध प्रयोग, जो वीणा वादन में विचित्रता ला दें, वे व्यंजन धातु है। इनका प्रयोग अवश्य ही मत्तकोकिला, विपंची और चित्रा जैसे वाद्यों पर होता था। सारिकायुक्त वीणाओं पर अथवा एकतंत्री जैसी क्रमिकायुक्त सारिका हीन वीणाओं के लिए भी यह वादन-क्रिया शार्ङ्गदेव ने नहीं बताई है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के वादन के लिए शार्ङ्गदेव तथा कुंभ ने 'हस्तव्यापार' कहा है। व्यंजन धातु के प्रयोग-क्रम को मत्तकोकिला (स्वर मंडल) जैसी वीणा पर आज भी एक सीमा तक दिखाया जा सकता है। वर्तमान में सारिकाहीन वीणा-वादन का प्रयोग बहुत कम है तथा अंगुली द्वारा वादन क्रिया, जैसी कि भरत ने कही है, प्रायः नहीं के बराबर है; साथ ही अंगुष्ठ का कार्य भारतीय वीणा पर नहीं होता जो स्वर-मंडल के स्वतंत्र वादन की इच्छा रखते हैं, उन्हें व्यंजन धातु से बहुत सहायता मिल सकती है। व्यंजन धातु दशविध हैं, जो क्रमशः ऐसे हैं।

(अ) पुष्प—एक ही तंत्री पर दोनों हाथों के अंगुष्ठ व कनिष्ठा से आघात करना 'पुष्प' है। यह आघात युगवत् एवं समकाल में होना चाहिए। कुंभ के अनुसार, तंत्री को एक काल (युगपत्) में कनिष्ठा व दो अंगुष्ठों से आघात करें, तो वह 'पुष्प' है। इन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि एक ही तंत्री पर आघात होगा या अलग-अलग तंत्रियों पर, जैसा कि अभिनवगुप्त व शार्ङ्गदेव ने किया है।

(आ) कल—दो अंगुष्ठों से विभिन्न स्थानों (मंद्र-मध्य-तार) के एक ही स्वर को दो तंत्रियों पर एक साथ छेड़ना कल है। जैसे मंद्र-मध्य या तार-स्थान में निषाद को छेड़ना है, तो किन्हीं भी दो स्थानों को लिया जाए और उन दो तंत्रियों पर दोनों अंगुष्ठों से हनन किया जाए।

(इ) तल—दक्षिण हस्त के अंगुष्ठ से तंत्री पर हनन करें तथा वाम अंगुष्ठ से तंत्री का निपीड़न (दबाव) हो, तो 'तल' है। वाम-दक्षिण हस्त-क्रिया का दो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रूपों में शास्त्रकारों ने वर्णन किया है। वाम हस्त-क्रिया को निपीड़न, पीड़न या संपीड़न कहा है, जिसका अर्थ है तंत्री को मारना या छेड़ना। वाम हस्त से दक्षिण हस्त-क्रिया भी संभव है, विशेषतः जहाँ ककुभ या सारिका नहीं है और जहां केवल तंत्री पर ही वादन-क्रिया करनी है। परन्तु दक्षिण हस्त से वाम हस्त-क्रिया करने की विधि किसी ने नहीं बताई है।

उपर्युक्त तल धातु-क्रिया से दबी हुई ध्वनि निकलने की संभावना है।

(ई) बिंदु —भरत ने 'गुर्वक्षरकृता तंत्री बिंदुरित्यभिसंज्ञितः' कहा है। टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है 'गुर्वक्षर का अर्थ है विलंबित काल में एक ही तंत्री पर प्रहार।' यहां आघात के लिए अंगुली विशेष का कोई उल्लेख नहीं है, केवल गुरु अक्षर की बात है, जो विलंबित काल में करना उचित है। शार्ङ्गदेव ने एक ही तंत्री पर गुरु-नाद-युक्त प्रहार 'बिंदु' कहा है। यहां 'गुरु-नाद' का अर्थ गंभीर ध्वनि से है, गुरु अक्षर-युक्त प्रयोग से नहीं। ऐसा समझा जा सकता है कि शार्ङ्गदेव के समय तक 'बिंदु' के प्रयोग में अन्तर आ गया होगा।

(उ) रेफ—एक ही स्वर पर क्रम से सभी अंगुलियों द्वारा आघात हो तो वहां 'रेफ' धातु है। अभिनवगुप्त ने इसमें 'विचित्र रूप' तथा 'एकत्र विश्रान्ति' करने के लिए कहा है।

(ऊ) अनुस्वनित—'तल स्थानेऽधस्तंत्रीणा मनुस्वनितमुच्यते।' 'तल' धातु को ही अवरोही-क्रम से कार्यान्वित किया जाए तो 'अनुस्वनित' है। जैसे तल में वामांगुष्ठ से तार का पीड़न तथा दक्षिणांगुष्ठ से तंत्री पर हनन होता है, वही क्रिया स्वर में मध्यम पर करने के पश्चात् गांधार पर भी करें तो प्रथम क्रिया 'तल' तथा द्वितीय क्रिया 'अनुस्वनित' कहलाएगी।

(ए) निष्कोटित—सव्यांगुष्ठ प्रहारस्तु निष्कोटितमिहोच्यते अर्थात्—वाम अंगुष्ठ का प्रहार 'निष्कोटित' कहा गया है। अभिनवगुप्त के उपाध्याय के निर्वाचन के अनुसार यह आघात ऊर्ध्व और अधः को होगा तथा कुटिल हनन होगा। तार की लम्बाई में आगे पीछे आघात ही ऊर्ध्वार्ध हनन समझना चाहिए। शार्ङ्गदेव ने वाम अंगुष्ठ द्वारा ऊर्ध्व-अद्धः घात को निष्कोटित कहा है। ऊर्ध्वार्ध घात किसी तन्त्री विशेष पर न कहने से यह अनुमान लगा सकते हैं कि किसी भी तन्त्री पर वामांगुष्ठ से ऊपर व नीचे की ओर आघात निष्कोटित है।

(ऐ) उन्मुष्ट—'नाट्यशास्त्र' में 'उद्धृष्ट' पाठ भी है। भरत ने प्रहारों वामतर्जन्या उद्धृ (न्मृ) ष्टमिति 'संज्ञितम्' कहा। अर्थात् वाम तर्जनी द्वारा प्रहार 'उन्मृष्ट' है। अभिनवगुप्त को 'उन्मृष्ट' पाठ भी अभिप्रेत है। वाम तर्जनी से ऐसा मधुरतर स्वर निकालना है, जो अनाहतप्राय (मारा या नहीं मारा, यह समझ में ही न आए) हो तथा मार्जनावत् हो। यहाँ मार्जना का अर्थ तन्त्री पर हाथ को केवल स्पर्श करने से ही लेना चाहिए, मृदंग के मिलाने की विधि से नहीं। शार्ङ्गदेव के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुसार तर्जनी द्वारा आघात हो, जो अति मधुर ध्वनि उत्पन्न करे। यहाँ किस हस्त की तर्जनी द्वारा आघात होगा, इसका शार्ङ्गदेव तथा कुम्भ किसी ने उल्लेख नहीं किया। स्पष्ट है कि निःशंक ने अभिनवगुप्त की व्याख्या का अनुसरण किया है, अर्थात् वाम तर्जनी का प्रयोग ही अभिप्रेत है।

(ओ) अवमृष्ट—दक्षिण हस्त की कनिष्ठा व दोनों हस्तों की अंगुष्ठाओं द्वारा त्रिस्थान के एक ही स्वर को तीन तन्त्रियों पर पृथक-पृथक आघात किया जाए तो 'अवमृष्ट' है। जैसे त्रिस्थान के ऋषभ को बजाना है, तो दक्षिण कनिष्ठा व दोनों अंगुष्ठों से मंद्र-मध्य तार स्थानों में तीन तन्त्रियों पर स्थित ऋषभों को अलग-अलग बजाना चाहिए। स्पष्ट है कि भरत को मत्तकोकिला वीणा पर ही धातु बताना अभिप्रेत था, जिस पर तीनों स्थान सरलता से प्राप्त किए जाते थे। इसी प्रकार अन्य किसी भी धातु में जहाँ तीनों स्थानों तक क्रियाएँ हैं, उन सभी को देखने से यह दृढ़ विश्वास कर सकते हैं कि भरत ने अपूर्णतन्त्रीक वींणा (विपंची चित्रादि) को अपने सम्मुख रखकर धातुओं का वर्णन नहीं किया है। हाँ, उन वीणाओं पर भी अंग वीणा के रूप में धातुओं का उपयोग अवश्य होता था।

(औ) अनुबन्ध—अन्य अनुबन्धों के समान ही व्यंजन धातु के 'अनुबन्ध' का लक्षण है। भरत के अनुसार 'व्यासससमास देषामनुबंधः सर्वधातुकोज्ञेयः' अर्थात्—व्यास (विच्छेद-त्याग) तथा समास (मिलन-ग्रहण) के द्वारा अनुबन्ध बनता है, जो सार्वधातुक है। धातुओं के परस्पर मिश्रण और वर्जन से अनुबन्ध के अनेक रूप बन सकते हैं। सार्वधातुक को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम यह शंका उठाई है कि प्रत्येक धातु के निरूपण के अन्त में अनुबन्ध कहा गया है, तो अन्तिम धातु व्यंजन के अनुबन्ध को 'सार्वधातुक' क्यों कहा? पुनः इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि अन्य सभी धातुओं के भेद का भी व्यंजन से मिश्रण होगा, इसलिए भरत ने इसे 'सार्वधातुक' कहा है। चूंकि व्यंजन धातु प्रहार भेद पर आधारित है तथा मंद्र-तार व गुरु लघु-व्यवस्था इन अंगुली क्रियाओं से ही प्रयोगगत बनती है, अतः भले ही व्यंजन धातु के अन्य भेदों की व्याख्या 'अंगुली-क्रिया-विशेष' बताना अभिप्रेत रहा हो, पर व्यंजन धातु के अनुबन्ध (जो कि एक धातु का अन्य से मिश्रण को बताता है) में चार धातुओं के सभी प्रकारों का मिश्रण सम्भव है। तार-मंद्र या गुरु-लघु क्रिया अंगुली से ही होगी और वह व्यंजन धातु के अन्तर्गत है, अतएव भरत ने व्यंजनाधातुक अनुबन्ध को 'सर्वधातुक' कहा है जो सर्वथा उपयुक्त है।

शार्ङ्गदेव ने भी यह शंका उठाई है कि अनुबन्ध का अर्थ अगर मिश्रण से बने विविधि भेद से ही माना जाता है तो प्रत्येक धातु के अन्त में अलग से उसे बताने की क्या आवश्यकता है। समाधान वे स्वयं ऐसे करते हैं कि जिन धातुओं के भेद जहाँ बहुलता से दृष्ट होंगे, वहीं पर उन धातुओं का अनुबन्ध माना जायेगा। कुंभ भी यही कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ये धातु सभी वाद्यों के लिए उपयोगी है। उपर्युक्त चतुर्विध धातु प्राचीन वीणा-वादन प्रविधि (Technique) का ज्ञान कराती है। व्यंजन धातु के कुछ रूप परवर्ती वीणा-वादन के हस्तव्यापारों के साथ कहीं-कहीं मिलते हैं। भरत ने हस्त-व्यापारों का कहीं उल्लेख नहीं किया है। उनकी वीणाओं का वादन तार की लबाई को घटा-वढ़ाकर कभी-कभी प्रयोजनानुसार होता था, अन्यथा नहीं। अतः हस्त-व्यापारों का पूर्ण विकास उस समय तक नहीं हुआ था, ऐसा सम्भव है। वाद्यों की नई-नई खोज के साथ वादन विधि का भी विकास हुआ। हस्तव्यापारों का मूल स्रोत व्यंजन धातु में खोजने जाएं तो पूर्णतः अयथार्थ नहीं होगा। हां, संगीतज्ञ की कल्पना से उन व्यापारों में परिवर्तन, परिवर्धन व परिमार्जन अवश्य ही हुआ होगा, जो आज तक होता आ रहा है। यही प्राणधर्मी जीव का वैशिष्ट्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. याज्ञवल्क्य स्मृति।
2. नाट्यशास्त्र—अध्याय 28, 29 अभिनवभारती सहित।
3. भरतभाष्यम्।
4. संगीत रत्नाकर—अध्याय 1, 6 टीका सहित।
5. संगीत राज।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

9

वीणाओं पर हस्तव्यापार तथा वाद्य

भरत से शार्ङ्गदेव तक सभी ने मुख्य वीणा मत्तकोकिला मानी है। भरत ने अवश्य ही मत्तकोकिला का नाम नहीं लिया, परन्तु उनके द्वारा विशेष रूप से उल्लिखित वीणा या 'वैणिक' की नाट्य शास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने एक विंशतितन्त्रिक (21 तन्त्री) 'मत्तकोकिला' या मत्तकोकिला वादक के रूप में व्याख्या की है। अंग वीणा के रूप में भरत ने विपंची, चित्रा का नाम ही लिया है। भरत का प्रतिपाद्य विषय नाट्य है, उसमें नाट्य से सम्बन्धित गीतवाद्य का भी प्रतिपादन होने से ऐसी आशा नहीं की जा सकती है कि शार्ङ्गदेव की तरह उन्हें भी प्रत्येक वाद्यों के नाम एवं लक्षण गिनाने की आवश्यकता थी। अतः मुख्यतः वीणा विपन्ची एवं चित्रा पर ही उनकी समस्त वादन-प्रविधि (techniques) आधारित हैं।

वाद्यों की निर्माण-विधि व उनके वादन की प्रविधि, दोनों का विकास परस्पर सम्बद्ध है और एक का प्रभाव दूसरे पर पड़े विना नहीं रहता। इन दोनों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ तत्व है—वस्तु (content)। बजाने का माध्यम क्या है, उसकी प्रविधि क्या है और क्या बजाया जाता है—ये तीनों एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते और इन दोनों के अध्ययन में वाद्य का या वादन के माध्यम का भी स्वरूप समझे विना आगे नहीं बढ़ सकते। अतः वीणा के स्वरूप को देखना, हस्तव्यापार के रूप में इस विधि का विस्तृत वर्णन अवश्य ही भरत ने नहीं किया है जिसका परवर्ती ग्रन्थकारों ने विभिन्न वीणाओं पर स्व-स्वविशेषता सहित प्रस्तुत किया है। इसका विवेचन भी हम करेंगे। साथ ही यह स्मरण रहे कि किन्नरी वीणा सारिकायुक्त है और एकतन्त्री वीणा सारिकाहीन।

शार्ङ्गदेव ने एकतन्त्री वीणा के वर्णनोपरांत 'हस्तव्यापार' कहा। यह धातु नहीं, अर्थात् स्वरों की लघु-गुरु या मंद्र-तार व्यवस्था का कौशल नहीं, वरन् हाथ का व्यापार है। वीणादि बजाते समय हाथ किस प्रकार वाद्य पर रखे जाएंगे और कैसे उनकी क्रिया होगी, इन्हीं विषयों का इसमें विवेचन है। आज वाद्य पर जिसे हम 'हाथ रखना' कहते हैं, प्रायः उसी प्रकार का यह व्यापार है। भरत ने धातुओं का नाम लिया है, परन्तु हस्तव्यापार नहीं कहा। शायद व्यंजन धातु, जहां हाथ रखने की व्यवस्था पर अधिक जोर दिया गया है, बजाय लघु गुरु आदि मात्राओं के प्रयोग के, इन्हीं हस्तव्यापारों का मूल स्रोत रहा हो।

भरत के अनुसार ही शार्ङ्गदेव ने व्यंजन धातु का वर्णन किया है, परन्तु हस्तव्यापार तथा वाद्य को भी साथ-साथ वर्णित किया है। व्यंजन धातु का विकास

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भरत-काल से बहुत पूर्व ही हुआ। उसमें अंगूठे का प्रयोग अत्यधिक बताया गया है। शार्ङ्गदेव के समय तक आते-आते यह प्रयोग नाम-मात्र को रह गया तथा उसके स्थान पर नया विकास हुआ, जो हस्तव्यापार के नाम से जाना गया।

शार्ङ्गदेव ने सारिकायुक्त वीणा किन्नरी के लिए कोई व्यापार नहीं कहा, किन्तु राणा कुम्भ ने अन्य प्रकार के हस्तव्यापार तथा वाद्य का उल्लेख देशी किन्नरी वीणा के लिए किया है। यहाँ हम शार्ङ्गदेव की व्याख्या और फिर कुम्भ की व्याख्या देखेंगे व अन्त में दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। क्रम में पहले 'हस्तव्यापार' और फिर वाद्य रहेंगे।

हस्त व्यापार

ये तीन प्रकार के हैं—वाम हस्त व्यापार, दक्षिण हस्त व्यापार तथा उभय हस्त व्यापार। ये तीनों अन्वर्यक हैं।

(1) दक्षिण हस्त व्यापार—ये नौ प्रकार के हैं; जो क्रम वर्णित है:—

(अ) घात -- मध्यमा अंगुली को तर्जनी से ज़ोड़कर तर्जनी द्वारा तन्त्री पर आघात करने की क्रिया 'घात' है। यह आघात भीतर या वाहर किसी भी ओर हो सकता है।

(आ) पात — केवल तर्जनी से (मध्यमा के बिना) तन्त्री पर आघात करने की क्रिया 'पात' है। यह आघात बाहर की ओर होगा।

(इ) संलेख — तर्जनी से भीतर की ओर तन्त्री पर आघात करना 'संलेख' है।

(ई) उल्लेख — मध्यमा के द्वारा-अन्दर की ओर तन्त्री पर आघात करना 'उल्लेख' है।

(उ) अवलेख मध्यमा के द्वारा तंत्री पर बाहर की ओर आघात करना 'अवलेख' है।

के० वासुदेव शास्त्री के अनुसार तंत्री को अंगुली के अन्दर रखकर बजाना 'उल्लेख' तथा मध्यमा को तंत्री के बाहर रखकर बजाना 'अवलेख' है। यहाँ उन्होंने 'अंतः' और 'बहिः' का अर्थ अंगुली के आघात के ढंग को न मानकर तंत्री को माना। परन्तु यदि अंगुलियों से तंत्री को समेट कर आघात किया जाए तो अनुरणनहीन ध्वनि उत्पन्न होगी।

शार्ङ्गसूरि कहते हैं—'अन्य मत से सभी अंगुलियों, अर्थात् तीन अंगुलियों से बजाने की क्रिया 'उल्लेख' व दो अंगुलियों से बजाने की क्रिया-'अवलेख' है।' कोई-कोई इस पाठ का अर्थ क्रमशः 4, 2, 2 अंगुलियों का आघात मानते हैं। परन्तु स्वयं शार्ङ्गदेव ने 'संलेख' को मतांतर में नहीं गिनाया है। कुंभ ने 'संलेख-अवलेख' को मतांतर में माना, 'उल्लेख' को नहीं। उनके अनुसार किसी-किसी के मत से 'संलेख' तथा 'अवलेख' को अन्य अंगुली से भी बजा सकते हैं, अर्थात् पहले जिन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंगुलियों से बजाने की विधि है, उनसे भिन्न अंगुलियों की प्रयोग-क्रिया हो सकती है। यह संभव है कि राणा कुंभ के समय तक भेद-क्रम तथा वादन-विधि का रूप-परिवर्तन हो गया था।

(ऊ) भ्रमर—चार अंगुलियों से क्रमशः भीतर की ओर वेगपूर्वक आघात करना 'भ्रमर' है।

(ए) संघित—मध्यमा और अनामिका से बाहर की ओर आघात करना 'संघित' है। 'मध्यमा नामिकाभ्या तु बहिर्धातोऽत्र संघितः।' अतः जो मध्यमा और अंगुष्ठ को बाहर रखकर बजाना 'संघित' मानते हैं, वे भ्रान्त हैं।

(ऐ) छिन्न—तंत्री के पार्श्व में लगी तंत्री का अनामिका के द्वारा बाहर की ओर आघात 'छिन्न' है। इसका अर्थ किसी-किसी ने ऐसा भी किया है कि तार के पास तर्जनी रखकर अनामिका से बाहर की ओर तार बजाना 'छिन्न' है। यह अर्थ अधिक स्पष्ट नहीं है।

(ओ) नखकर्तरी—चार अंगुलियों के नखों द्वारा क्रमशः शीघ्रतापूर्वक आघात करना 'नखकर्तरी' है। अतः यह स्पष्ट है कि जहाँ अंगुली व नख, दोनों से वादन क्रिया होती थी, उस स्थान पर आज हम केवल मिजराब या जवा का प्रयोग करते हैं।

(2) वाम हस्त व्यापार—ये दो प्रकार के हैं। वाम हस्त में गृहीत 'कम्रिका' या 'सारणा' को बजाने की क्रिया 'वाम हस्त व्यापार' है। यहाँ सारणा का अर्थ कम्रिका, शलाका या भरत वर्णित उपवादन दंड, कोण से भी है। कम्रिका-युक्त हाथ की क्रिया भी 'सारणा' कहलाती है। कोई-कोई तार को दबाने या ताड़न करने की क्रिया को 'कम्रिका' कहते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है। आज भी स्वर मंडल, विचित्र वीणा अथवा गिटार में वाम हस्त से जिस वस्तु को पकड़कर तार पर पीड़न करते हैं वह कम्रिका है। क्रमिका प्रयोजनानुसार लकड़ी, धातु अथवा कांच (विचित्र वीणा में प्रयुक्त), किसी भी वस्तु की निर्मित हो सकती है।

(अ) स्फुरित—सारणा (कम्रिका) तंत्री की पीठ से लगी हुई कंपन करते रहने की क्रिया 'स्फुरित' है। किसी के अनुसार कंपन समय तंत्री के पिछले भाग का स्पर्श कर सारणा करना 'स्फुरित' है। यह व्याख्या ठीक नहीं है। क्योंकि शार्ङ्गदेव ने स्वयं कहा है—'कम्रिका तत्क्रियाचोक्ता सारणा' सिंहभूपाल ने इसकी टीका की है—'वादन वेणु-दंड रूप कम्रिका तस्याः क्रिया च सारणेत्युच्यते।' अतः यहाँ भी सारणा का अर्थ क्रिया से न लेकर कम्रिका से लेना चाहिए। डा० मिश्र के अनुसार वर्तमान में इसे 'जमजमा' कहते हैं।

(आ) खसित—बार-बार सारणा से तंत्री पर घर्षण किया जाए तो 'खसित' है। किसी-किसी के अनुसार अंगुली को तार पर रखकर बार-बार घिसने को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'खसित' कहा जाता है। इन व्यापारों को अन्य वीणाओं के लिए भी प्रयुक्त मानने पर उपर्युक्त मत संभव पर है। लेखिका के मत से स्फुरित के स्थान पर खसित को 'जमजमा' जैसी क्रिया समझना चाहिए तथा स्फुरित को कम्पन या गमक (आधुनिक)।

(3) उभयहस्त व्यापार—दक्षिण व वाम, दोनों हस्तों की क्रिया जब एक साथ या क्रमशः होती रहे, तो वह 'उभयहस्त व्यापार' है। ये शार्ङ्गदेव ने तेरह कहे हैं जो निम्न प्रकार से वर्णित हैं :—

(अ) घोष—(दक्षिण हस्त की) अंगुष्ठ तंत्री के पार्श्व में लग्न है, अन्य अंगुलियों से कर्तरीवत् (चार अंगुलियों से क्रमशः आघात) हनन करे, एवं (वाम हस्त में लग्न) कनिष्ठा में स्थित सारणा (कम्रिका—'संगीत राज') से तंत्री पर आघात करे तो वह 'घोष' है।

(आ) रेफ—दक्षिण हस्त की अनामिका से जब तंत्री पर अन्दर की ओर आघात किया जाए तथा वाम हस्त की अंगुली से बहिर्घात किया जाए, वहाँ 'रेफ' है। डा० मिश्र के अनुसार दक्षिण हस्त की अनामिका का नख तार के नीचे व वाम हस्त की मध्यमा को तार के ऊपर रखकर बजाए, जिससे 'रकार' ध्वनि उत्पन्न हो। सितार में 'द्रा' का बोल इस प्रकार का माना जा सकता है (?)

(इ) बिन्दु—दक्षिण हस्त की अनामिका से बाहर की ओर आघात किया जाए, तथा उससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि को वाम हस्त की तर्जनी से धारण कर बन्द कर दें, तब 'बिन्दु' है। डा० मिश्र के अनुसार इससे 'गंकार' ध्वनि उत्पन्न होती है।

(ई) कर्तरी—दोनों हस्तों की चारों अंगुलियों से क्रमशः बाहर की ओर शीघ्र गति से आघात करने पर 'कर्तरी' है।

(उ) अर्द्धकर्तरी—दक्षिण हस्त से कर्तरीवत् आघात हो व वाम हस्त से सारणा (कम्रिका) द्वारा तंत्री पर हनन किया जाए तो अर्द्धकर्तरी है।

(ऊ) निष्कोटित—सारणा (कम्रा) को छोड़कर जब प्रदेशिनी द्वारा तंत्री पर आघात किया जाए, तब निष्कोटित है। यहाँ उभयहस्त का कहीं उल्लेख नहीं है, जबकि इसे उभयहस्त व्यापार में रखा गया है।

(ए) स्खलित—वाम हस्त में धृत सारणा-क्रिया 'उत्क्षिप्ता' के समान करनी चाहिए। चतुर्विध सारणा क्रिया में 'उत्क्षिप्ता' एक प्रकार है। कम्रा तंत्री के साथ जुड़ी है, इसे उठाकर अपने पूर्व-स्थान को त्यागकर उससे दूर के स्थान पर तंत्री को उछालकर पुनः उस पर सारणा को पात करने की क्रिया 'उत्क्षिप्त' है। 'स्खलित' में 'उत्क्षिप्त' सारणा क्रिया वाम हस्त द्वारा द्रुत वेग से करनी चाहिए तथा दक्षिण हस्त की चार अंगुलियों से कर्तरीवत् हनन करना चाहिए। डा० मिश्र के अनुसार यह प्रक्रिया वर्तमान में 'कण' अथवा 'कृतन' के बजाने की प्रक्रिया से मिलती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ऐ) शुकवक्रक—(दोनों हाथों के) अंगुष्ठ तथा तर्जनी के अग्र-भाग से तंत्री को खींचना 'शुकवक्रक' है।

(ओ) मूर्च्छना—तंत्री पर उद्वेष्ट तथा परिवर्त क्रिया के द्वारा दक्षिण हस्त को घुमाना व वाम हस्त से द्रुत गति से कम्रा द्वारा सारणा क्रिया करना 'मूर्च्छना' है। यहाँ 'उद्वेष्ट' और 'परिवर्त' का अर्थ सिंहभूप ने वाम-दक्षिण की ओर तंत्री को घुमाना बताया है, जिससे बोध हो कि तंत्री ही भ्रमण कर रही है। राणा कुंभकर्ण ने 'उद्वेष्ट-परिवर्त' के समान दक्षिण हस्त के भ्रमण तथा स्वर-स्थान में द्रुत गति से वाम हस्त से कम्रा द्वारा कंपन करने की क्रिया को 'मूर्च्छना-व्यापार' माना है। यहाँ शार्ङ्गदेव की कम्रा द्वारा सारणा-क्रिया को इन्होंने कुछ स्पष्ट किया है। के० वासुदेव शास्त्री के अनुसार तर्जनी को पहले उठाकर दाहिना हाथ घुमाने का नाम 'उद्वेष्ट' तथा अंगुली को पहले नीचे लाकर घुमाना 'परिवर्तन' है, परन्तु यह व्यवस्था अस्पष्ट है।

'वेष्टम्' का अर्थ है 'लपेटना' या 'मरोड़ना'। उत + वेष्ट = उद्वेष्ट का अर्थ है 'चारों ओर से' 'लपेटना या मरोड़ना'।

'वृत्' धातु में 'घन्न्' प्रत्यय तथा 'परि' उपसर्ग लगाकर 'परिवर्तन' का निर्माण हुआ है, जिसका अर्थ 'चारों ओर घूमना' है।

चूंकि शार्ङ्गदेव या कुंभ किसी ने 'उद्वेष्ट' और 'परिवर्त' की अलग से व्याख्या नहीं की है, अतः इन शब्दों का अर्थ लक्षणा से ही समझना पड़ेगा। सिंहभूप ने भी लक्षणा से ही इनका अर्थ किया है। अतः अर्थ ऐसा बैठता है—सम्पूर्ण हाथ को लपेट कर आघात करना 'उद्वेष्ट' है तथा दो अंगुलियों को अदल-बदल कर घुमाते हुए आघात करना 'परिवर्त' है। ऐसी क्रिया से जब दक्षिण हस्त भ्रमण करे एवं वाम हस्त से कम्रा द्वारा 'कंपिता सारणा' द्रुत वेग से करे तो 'मूर्च्छना' है। यहाँ 'कंपिता' एक सारणा-क्रिया है। चतुर्विध सारणा-क्रिया में जहाँ कम्रा द्वारा स्वर-स्थान पर कंपन हो, वहाँ 'कंपिता' सारणा है। कुंभ का भी यही आशय है।

(औ) तलहस्त—दक्षिण हस्त तल (हथेली) से तार पर आघात करना तथा वाम हस्त की प्रदेशिनी (तर्जनी) से तार को स्पर्श करना 'तलहस्त' है।

(क) अर्द्धचन्द्र—दोनों हाथों के अंगुष्ठ व कनिष्ठा को एक साथ तंत्री पर स्पर्श करने की क्रिया 'अर्द्धचन्द्र' है। अन्य विद्वानों के अनुसार दोनों हाथों की अंगुष्ठ व कनिष्ठा का प्रयोग न करके केवल दक्षिण हस्त से आघात तथा वाम हस्त की उपर्युक्त अंगुलियों द्वारा तंत्री को पकड़ लेना 'अर्द्धचन्द्र' है। यहाँ दक्षिण-वाम का अलग-अलग कोई भी उल्लेख शार्ङ्गदेव या कुंभकर्ण ने नहीं किया है, अतः इस प्रक्रिया को दोनों अंगुलियों से करना उचित होगा।

(ख) प्रसारक—दक्षिण हस्त तल में अंगुष्ठ 'कुंचित' हो व चार अंगुलियों से संघात हो तथा वाम हस्त की कनिष्ठा व तर्जनी के पार्श्व भाग से तंत्री का स्पर्श हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो प्रसारक है। सिंहभूपाल के अनुसार हस्ततल को 'अर्द्धचन्द्र' जैसा बनाकर अंगुष्ठ को 'कुंचित' कर चारों अंगुलियों को संयुक्त कर कनिष्ठा और तर्जनी के पार्श्व से तंत्री को आघात करना 'प्रसारक' है।

(ग) कुहर—दक्षिण हस्त के अंगुष्ठ सहित अन्य समस्त अंगुलियों का कुंचन हो, वाम हस्त की कनिष्ठा व अंगुष्ठ से तंत्री का स्पर्श हो तो 'कुहर' है।

दशविध वाद्य

एतद्धस्त समायोगाद्धादनं वाद्यमुच्यते। अर्थात् 'उपर्युक्त हस्त व्यापारों' के समायोग या समावेश से जो वादन होता है, वह वाद्य कहलाता है। राणा कुंभ के अनुसार भी त्रिप्रकार हस्त व्यापार का वादन विन्यास ही 'वाद्य' कहलाता है। आज हम वादन-क्रिया में जिसे 'बाज' कहते हैं, प्रायः उससे मिलता-जुलता यह 'वाद्य' है (style with the reference to the techniques)। जो बजाया जा रहा है, वह वस्तु (content) अर्थात् हस्त व्यापार की क्रियाओं के योग का क्रम 'वाद्य' की संज्ञा से भूषित किया जाता है। ये दशविध हैं, जो क्रमोल्लिखित हैं :—

1. छन्द—'खसित' तथा 'स्फुरित' हस्त व्यापारों का जहाँ बारम्बार प्रयोग हो व तार (स्थान) का प्रयोग हो, वहाँ 'छन्द' वाद्य है। किसी के अनुसार 'खसित' तथा 'स्फुरित' व्यापारों के द्वारा जब मन्द्र, मध्य और तार सप्तकों में वादन किया जाए, वहाँ 'छन्द' वाद्य है। परन्तु शार्ङ्गदेव ने केवल तार-स्थान की ही पुष्टि की है। इस वाद्य-विधि में वाम हस्त यापार का प्राधान्य है।

2. धारा —'स्खलित' व 'मूर्च्छना' के साथ कर्तरी-रेफ, उल्लेख-रेफ के समूह का जहाँ विन्यास हो, वहाँ 'धारा' है। राणा कुंभ ने 'उत्क्षेप' तथा 'परिवर्तक' के साथ कर्तरी-रेफ, उल्लेख-रेफ को जोड़ा है। कुंभ यह भी कहते हैं कि अन्यों के मत से 'स्खलित' तथा 'मूर्च्छना' के पश्चात् भी उपर्युक्त विन्यास आता है। 'उत्क्षेप' तथा 'परिवर्त' को लक्षणा से समझना आवश्यक है। 'उत्क्षेप' का अर्थ है, 'उछाल कर' तथा 'परिवर्त' का अर्थ है 'दो अंगुलियों में परिवर्तन कर घुमाते हुए आघात करना।' अतः अर्थ ऐसा बैठता है—दोनों अंगुलियों में क्रम-परिवर्तन से घुमाकर तथा उछाल कर आघात करना। शार्ङ्गदेव का अनुसरण करने पर यह वाद्य उभय, उभय, उभय, उभय, दक्षिण, उभय हस्त व्यापारों का सम्मिश्रण है।

3. कैंकुटी—'शुकवक्रक', 'स्फुरित', 'घोष' तथा 'अर्द्धकर्तरी' व्यापारों का क्रमशः एक के बाद एक वादन करने से 'कैंकुटी' है। कुंभ का भी यही कथन है। इस वाद्य में क्रमशः उभय, वाम, उभय, उभय व्यापारों का मिश्रण है।

4. कंकाल—'स्फुरित', 'मूर्च्छना', 'नखकर्तरी', 'कर्तरी', 'अर्द्धकर्तरी' दोनों हाथों से क्रमशः एक के बाद दूसरा करें तो 'कंकाल' है। श्री शास्त्री ने 'कर्तरी का प्रयोग तीन बार बताया है, जबकि यहाँ 'त्रिक कर्तरी का प्रयोग' होना उचित है। वाम, उभय, दक्षिण, उभय, उभय हस्त व्यापारों से यह निर्मित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

5. वस्तु—स्पष्ट रूप से जहाँ तार-स्थान का प्रयोग हो व 'कर्तरी' 'खसित' तथा 'कुहर' का योग रहे, वहाँ वस्तु है। यह वाद्य उभय, वाम, उभय हस्त व्यापारों के मिश्रण से बना है।

6. द्रुत—क्रम से 'कर्तरी', 'खसित', 'कुहर', 'रेफ', 'भ्रमर', 'घोष' का प्रयोग होने पर बुधगण वहाँ 'द्रुत' मानते हैं। 'द्रुत' वाद्य का निर्माण उभय, वाम, उभय, उभय, दक्षिण, उभय हस्तव्यापारों के योग से हुआ है।

7. गजलील—'मूर्च्छना' हस्त व्यापार जहाँ अत्यधिक हों, तत्पश्चात् 'स्फुरित', 'कर्तरी', तथा 'खसित' प्रयुक्त हो, वहाँ 'गजलील' है। इसमें उभय वाम, उभय, वाम हस्तव्यापारों का मिश्रण है।

8. दण्डक—स्खलित, मूर्च्छना, कर्तरी, रेफ, खसित के संयोग से 'दंडक' वाद्य निर्मित है। कुम्भ के अनुसार अन्य मत से स्खलित, मूर्च्छना, विक्षेप, परिवर्तक के समवाय से दंडक बनता है। चूंकि हस्तव्यापारों में ऐसा कोई भेद नहीं बताया गया, अतः उत्क्षेप, परिवर्त के समान ही इसका अर्थ लक्षणा से लेना चाहिए। शार्ङ्गदेव के अनुसार 'दंडक' का हस्तव्यापार है—उभय, उभय, उभय, उभय, वाम।

9. उपरिवाद्यक—उपरिवाद्य में क्रम से हस्तव्यापार ऊर्ध्व-अधः की दृष्टि के अनुसार हो जाता है। उसके अनुसार सिंह भूप का अर्थ ठीक ही बैठता है। कुम्भ ने केवल 'ऊर्ध्वाधंगामिना यत्र' कहकर छोड़ दिया है। अधिक स्पष्ट करते हुए सिंह भूपाल ने कहा है—क्रम से दक्षिण हस्त से रेफ, वाम हस्त से कर्तरिका, दक्षिण से निष्कोटित एवं वाम से तलहस्त का प्रयोग हो, तो 'उपरिवाद्यक' है। इस वाद्य में चारों उभय हस्तव्यापार हैं। उपर्युक्त चारों व्यापार उभय हस्त होने से दक्षिण-वाम-क्रम निर्दिष्ट करना सम्भव नहीं।

10. पक्षिरूत · समस्त हस्तव्यापारों के मिश्रण का फल है 'पक्षिरूत वाद्य'। दक्षिण हस्त के नौ भेद, वाम हस्त के दो भेद एवं उभय हस्तव्यापार के तेरह भेद इस वाद्य-विशेष के अन्तर्गत हैं। स्पष्ट ज्ञात होता है कि वाद्यों में से यह श्रेष्ठ रूप रहा होगा, जिसमें सभी व्यापारों का समाहार है, तथा वादक बजाने में पूर्ण स्वाधीन रहता होगा। जैसे एक साथ ध्वनित होते हुए भी पक्षियों की काकली सुमधुर प्रतीत होती है, वैसे ही अन्तिम वाद्य-प्रकार एकतंत्री आदि वीणा की वादन क्रिया में अवश्य ही सुखश्राव्य था।

उपर्युक्त सभी वाद्यों की ओर एक नजर डालने पर यह स्पष्ट होता है कि यह वाद्य हस्त व्यापारों के सम्मिश्रण से निर्मित्त है। किसी हस्तव्यापार में वाम हस्त व्यापारों का बाहुल्य है, तो किसी में दक्षिण का और किसी में उभय का, किन्तु अधिकांश वाद्य इन तीनों व्यापारों के मिश्रण के फलस्वरूप है। जैसे प्रथम वाद्य 'छंद' में केवल वाम हस्त की प्रधानता है। उससे यह न समझें कि वहां केवल वाम हस्त का ही प्रयोग किया जाता था, वरन् इन व्यापारों को बाहुल्य भेद के रूप में मानना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उचित है। दक्षिण हस्त के ग्राधार के बिना कोई वादन क्रिया सम्भव ही नहीं, अतः दक्षिण हस्त तो साधारण रूप से प्रयुक्त होगा ही, वाम हस्त क्रिया की भी बहुलता रहेगी। ग्राज भी ग्रनेक वैणिकों के वादन में वाम हस्त क्रिया ग्रधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है तथा कईयों में दक्षिण हस्त क्रिया का प्राबल्य।

एक ग्रन्य विषय लक्षणीय है कि इन वाद्यों में उभय एवं वाम हस्तव्यापार का प्रयोग ग्रधिक है। इससे यह सुस्पष्ट है कि दक्षिण हस्त से ग्रत्यधिक प्रयोग (हिन्दुस्तानी संगीत में जिसकी ग्रोर झुकाव ग्राज से चालीस साल पहले तक भी किसी किसी बाज में था तथा ग्राज भी कहीं-कहीं है) नहीं किया जाता था। ग्रवश्य ही विद्वानों ने दक्षिण हस्त नैपुण्य को ग्रधिक परिश्रम सापेक्ष्य कहा है। परन्तु यह सहज ही ग्रनुमित है कि प्राचीन संगीत में स्वर का काम बहुत ग्रधिक होता होगा, दक्षिण हस्त क्रिया से 'वाद्य-प्रकार' बनाने की कोई विशेष वृत्ति न रही होगी। ग्राज भी कुछेक वैणिक तो ऐसे दिखाई देते हैं, जिनका स्वर का काम तो ग्रधिक होता नहीं, परन्तु ताल तथा बोलबांटों का प्रयोग निपुणता से करते हैं, पर वीणा में स्वर का ग्राधिक्य न होने से 'स्वराधिष्ठात्री वीणा' की महत्ता कम हो जाती है। वैणिकों के वादन में यह क्रिया भी एक प्रकार-विशेष बन सकती है, लेकिन वहाँ केवल ताल-लय का चमत्कार दिखाई देता है, स्वर के आनन्द से श्रोता वंचित हो जाता है। साथ ही जिन वैणिकों के वादन में वाम-दक्षिण-उभय तीनों हस्तव्यापारों का समावेश होता था (जैसे कंकाल द्रुत ग्रादि), निस्संदेह वह वाद्य श्रुति मधुर एवं प्रभावशाली होती थी। ग्राज भी ऐसी वादन क्रिया को सुखश्राव्य एवं विद्वतापूर्ण माना जाता है।

किन्नरी-लक्षण—शार्ङ्गदेव ने किन्नरी-लक्षण में वाद्य-विधि का कोई उल्लेख नहीं किया, परन्तु महाराणा कुम्भकर्ण ने किन्नरी-प्रकरण में उनके लक्षण के साथ-साथ वाद्यविधि की व्याख्या की है, जो विकास-क्रम का द्योतक है। इन वाद्य विधियों ग्रर्थात् हस्तव्यापारों का नाम भी अनेक स्थानों पर देशी यानी लोकभाषापरक है। दोनों ग्रन्थकारों ने रागों के लिए किन्नरी के वादन-क्रम का ग्रावश्यक उल्लेख तथा व्याख्या की है। कुम्भकर्ण ने वादन-क्रम में ग्रधिकांशतः शार्ङ्गदेव का ही ग्रनुसरण किया है किन्तु किन्नरी पर हस्तव्यापारों को देशी किन्नरी में 'बृहती किन्नरी के लक्षण' के ग्रन्तर्गत रखा है। उनका कहना है कि यह उनके स्वकीय ग्रनुभवों का फल है, किसी ग्रन्य स्थान से ग्रनुकृत किया हुग्रा नहीं। साथ ही मार्ग-किन्नरी का उल्लेख कुम्भकर्ण ने गतानुगतिक रीति से किया है, न कि रक्तिलाभ हेतु। क्योंकि 50 ग्रंगुल से ऊर्ध्व एवं 30 अंगुल से न्यून परिमाण की किन्नरी रंजकत्वहीन होती है, एवं मार्ग किन्नरी में बृहती 53 अंगुल तथा लध्वी 41 अंगुल दीर्घ है। ग्रतः इसमें रक्ति लाभ होना सम्भव नहीं। कुम्भ ग्रौर भी कहते हैं कि शार्ङ्गदेवादि पंडितमानियों ने मार्ग किन्नरी में रागालापन करने को कहा है, परन्तु उनको यह मान्य नहीं है, क्योंकि जो वाद्य रक्तिहीन है, उस पर रागालापन कैसा। यहाँ यह सन्देह होता है कि मार्ग-किन्नरी रक्तिहीन कैसे है ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मोटे तौर पर इसके एक कारण का अनुमान लगाया जा सकता है। शार्ङ्गदेव के पूर्व ही किन्नरियों के दण्ड का माप स्थिर हो गया था। मार्ग-किन्नरी उससे बड़ी है। उस समय क्रमशः देशी किन्नरियों का प्रयोग अधिक होता रहा और मार्ग-किन्नरी गतानुगतिक रूप से शास्त्रों तक सीमित रह गई थी। यद्यपि शार्ङ्गदेव ने इसकी रक्ति-हीनता का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु कुम्भ के समय तक तो इसका प्रचार बिल्कुल नहीं रह गया था, जिसकी चर्चा उन्होंने स्वयं की है। जैसे आज सुरबहार और सितार में अन्तिम को वादन-विधि में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। यद्यपि सुरबहार आलाप के लिए अत्यन्त रक्तिदायक है, परन्तु वाद्य या 'बाज' के लिए रक्तिहीन है। साथ ही विशाल आकार एवं भारीपन के कारण सर्वसाधारण में सितार के समान बहु बहुप्रचलित नहीं है। लगभग वैसा ही रूप मार्ग किन्नरी में मार्ग रागों के तथा देशी किन्नरी में देशी रागों के वादन के लिये अनुमित किया जा सकता है। शार्ङ्गदेव ने भी मार्ग-किन्नरी में रागालापन करने की विधि बताई है।

अस्तु, अब कुंभकर्ण-वर्णित किन्नरी वीणा के हस्तव्यापारों का उल्लेख तथा उन पर विचार किया जाता है। यह भी देखेंगे कि ये वाद्यव्यापार अन्य वीणाव्यापार एवं पश्चाद्वर्ती वीणा-वाद्य व्यापारों के साथ तुलनीय हैं या नहीं।

किन्नरी की हस्तज क्रिया दो प्रकार की है—वाम हस्तव्यापार एवं दक्षिण हस्तव्यापार। उभय हस्तव्यापार का उल्लेख कुंभ ने नहीं किया है। इसके पश्चात् इन्होंने वीणा वाद्य (वादन-विन्यास) के भी लक्षण दिए हैं। किन्नरी वाम तथा दक्षिण हस्त की अंगुली से बजाई जाती है। इसमें तीन तंत्रियां हैं, जिनमें प्रथम मुख्य तंत्री व अन्य दो पार्श्व तंत्रियाँ हैं। पार्श्व तंत्रियां षड्ज-पंचम में मिले होने से षड्ज-ग्राम तथा षड्ज-मध्यम में मिले होने से मध्यम ग्राम जानना चाहिए। स्थायी स्वर (मुख्य स्वर) में मुख्य तंत्री को मिलाने की व्यवस्था शार्ङ्गसूरि तथा कुंभकर्ण, दोनों ने दी है। मुख्य तंत्री पर वाम हस्त की मध्यमा व तर्जनी से सारिकाओं को दबाकर बजाना है। दक्षिण हस्त की प्रदेशिनी और मध्यमा से मुख्य तंत्री पर तथा अनामिका से पार्श्व-तंत्री पर बजाते हैं। वर्तमान में इन्हें कनिष्ठा से बजाते हैं। ये हस्तज क्रियाएँ अब क्रम-वर्णित हैं—

1. **वाम हस्तव्यापार**—ये सात हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(अ) आसारण—जब मध्यमा से तंत्री को दबाकर 'ऊर्ध्व' को जाया जाए, तो, 'आसारण' है। यहां 'ऊर्ध्व' का अर्थ एक स्वर से ऊपर की ओर जाना नहीं है मींड़ करते समय जब हम तंत्री को दबाकर उससे ऊपर या आगे के स्वर लेते हैं, उसी क्रिया से तात्पर्य है। आज भी तर्जनी को अन्य स्वर पर टिकाकर मध्यमा से तंत्री को दबाकर अलग स्वर से मीड़ लेते हैं; जैसे सा सा रे, रे रे ग इत्यादि।

(आ) आकर्ष—उपर्युक्त क्रिया का विपर्यय (उलटा) है—'आकर्ष'। अर्थात् तंत्री को दबाकर ऊपर से नीचे यानी आगे के स्वर से पीछे को लौटकर आना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'आकर्ष' है। इस क्रिया को आज हम 'उलटी मीड़' कहते हैं; जैसे—

रे ग रे, ग म ग इत्यादि।

(इ) कंपन—तर्जनी और मध्यमा द्वारा (किसी) एक स्वर को तंत्री पर दबाकर (उस) स्वर का कंपन करना 'कंपन' है। इसे आधुनिक 'कंपन' का पर्याय मान सकते हैं।

(ई) खंडन—मध्यमा अंगुली द्वारा एक ही स्थान (स्वर) पर बार-बार आघात करना 'खंडन' है; जैसे सा सा सा सा, रे रे रे रे आदि।

(उ आवर्तित—मध्यमा से तंत्री को एक स्वर स्थान पर आघात दें, फिर उससे ऊर्ध्व स्वर को अनुनाद-सहित जाकर उछालते हुए तर्जनी द्वारा प्रथम स्वर के नीचे के स्वर तक पहुंच जाएं, तो उसे आवर्तित कहते हैं, जैसे—सा, रे नि इत्यादि। अवरोही घसीट के रूप में यह क्रिया आज भी प्रयुक्त है।

(ऊ) विपर्यस्त—इसके शब्दार्थ से ही ज्ञात होता है कि इसमें विपर्यय की क्रिया है। मध्यमा का कार्य तर्जनी को तथा तर्जनी का मध्यमा को दे दिया जाए, तो वहाँ 'विपर्यस्त' होता है। जैसे, कोई कार्य इधर-उधर होने पर उसे 'विपर्यस्त' कहते हैं; उसी प्रकार वादन क्रिया में अंगुली का उलट-फेर होना भी 'विपर्यस्त' है पर यह व्याख्या वादन विधि की दृष्टि से दोष ही है, अनुकरणीय नहीं।

2. दक्षिण हस्तव्यापार : ये पंचविध हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

(अ) घट्टन—तर्जनी द्वारा तंत्रिका पर अंदर की ओर आघात करें, तो 'घट्टन' है। आधुनिक 'दा' बोल को ऐसा-ही समझें, तो उचित होगा। यह क्रिया त्रिप्रकार है—'पर्वघट्टन' 'पार्श्वघट्टन' और 'नखाग्रघट्टन'। तर्जनी के पर्व (पोर) द्वारा अंतर्घात हो, तो 'पर्वघट्टन' हैं; जैसे कि किन्नरी के वादन के लिए नखी या मिजराव—जैसी वस्तु की आवश्यकता शार्ङ्गदेव या कुंभ, किसी ने नहीं कही। कुंभ वर्णित दक्षिण हस्तव्यापार की वादन विधि को देखने से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है, अतः किन्नरी वीणा को अंगुली या नख द्वारा ही बजाया जाता था। आज तो ऐसी परंपरा कहीं-कहीं रह गई है; अन्यथा अधिकांश वीणाएं किसी बाहरी वस्तु की सहायता से बजती हैं। कर्णाटकीय संगीत के परंपरावादी वैणिकों के अनुसार मिजराव से बजाने पर धातु की ध्वनि (metalic sound) अधिक हो जाती है, जिससे वीणा का स्वाभाविक सौन्दर्य लुप्त सा हो जाता है।

तर्जनी के पार्श्व-भाग से अन्तर्घात करने की क्रिया को 'पार्श्वघट्टन' कहते हैं। तर्जनी के नखाग्र द्वारा अन्दर की ओर हनन करने की क्रिया 'नखाग्रघट्टन' है।

(आ) अवघट्टन : (तर्जनी के) पृष्ठ भाग द्वारा तन्त्री पर आघात किया जाए, तो 'अवघट्टन' है। इसे वर्तमान में 'रा' या 'ड़ा' समझ सकते हैं। उपर्युक्त चार प्रकार की क्रियाएँ तर्जनी या मध्यमा, दोनों से ही की जा सकती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(इ) निरंतराल : तन्त्री पर इस तरह आघात किया जाए, जिससे आघातों का पृथक्-पृथक् बोध न हो; अर्थात् इतनी जल्दी आघात लगे, जिससे एक ही अविच्छिन्न ध्वनि सुनी जा सके। ऐसी क्रिया श्रोतृचित के लिए परम सुखावह है। इसे हम इस तरह समझ सकते हैं—दो बोलों को इतनी गति से बजाया जाए, जिससे दो आघातों के बीच कोई अन्तर न हो और ध्वनि निरन्तर प्रतीत हो। वैसे जितने गजवाद्य हैं, उनमें तो धनुष (b·w) के कारण स्वर में अखण्डता रहती है, परन्तु जहाँ केवल अंगुली, नखी या मिजराव द्वारा वादन होता है, वहाँ 'दिर दिर, दिर, दिर' बोल अत्यधिक द्रुत बजाकर ध्वनि में एकरूपता लाई जा सकती है।

(ई) विच्छर्दक : तर्जनी के द्वारा तन्त्री के बाहर को आघात हो एवं मध्यमा से अन्तर्घात हो, प्रदेशिनी जहां अनुवर्तिनी हो, तथा यह क्रिया बारंबार की जाए, तो वहाँ 'विच्छर्दक' होगा। प्रदेशिनी का अनुवर्तन करने का अर्थ यही है कि वह मध्यमा के अन्तर्घात का अनुकरण करे। अर्थात् तर्जनी द्वारा बहिर्हनन, मध्यमा द्वारा अन्तर्घात एवं प्रदेशिनी (तर्जनी) द्वारा पुनः अन्तर्घात हो; जैसे—'रा, दा, दा'।

(उ) कर्तरी : विच्छर्दवत् स्थिति में ही तर्जनी एवं मध्यमा द्वारा बाहर की ओर आघात करें, तो 'कर्तरी' होगा। यहां प्रदेशिनी का अन्त में कोई उल्लेख नहीं है। उसको दो प्रकार से बैठाया जा सकता है। विच्छर्ददत् स्थिति पहले ही कही है, अतः ऐसा हो सकता है कि जैसे तर्जनी और मध्यमा द्वारा बहिर्हनन हो रहा है, वैसे ही प्रदेशिनी द्वारा पुनः बहिर्घात हो, अथवा प्रदेशिनी का अनुवर्तन बिल्कुल न होता हो, केवल तर्जनी और मध्यमा द्वारा बाहर की ओर आघात करें; जैसे—'रा रा'।

वाद्य : अब कुम्भकर्ण उभय हस्तव्यापार न कहकर सीधे 'वाद्य' (वादन-विन्यास) पर आ जाते हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपर्युक्त दोनों व्यापार एक साथ ही होते होंगे, अत. पृथक रूप से उभय हस्तव्यापार नहीं रहा। 'वादकों का सुखावह एवं सुदुष्कर वाद्य राजा कुम्भ के द्वारा दिखाया गया है, जिसमें शिक्षा तथा अभ्यास के द्वारा ही परिपक्वता प्राप्त की जा सकती है। कुम्भ ने ग्यारह वाद्य कहे हैं, किन्तु उदाहरण केवल दस के ही हैं। प्रथम संख्या के पश्चात् तीसरी संख्या का उल्लेख है, जिससे यह निश्चित है कि द्वितीय प्रकार अप्राप्य है। जो प्राप्त हैं, उनका वर्णन निम्नलिखित है :—

1. घुटित : द्रुत हस्त में परिवर्त का वादन 'घुटित' है। अर्थात् दोनों अंगुलियों में क्रम परिवर्तन कर घुमाते हुए तन्त्री पर हनन हो एवं लय द्रुत हो। एक विशेष क्रिया के रूप में यहाँ परिवर्त का प्रयोग हुआ है।

2. स्फुट : पद्मपत्र पर वर्षा की बूंदें गिरने से जो (टप् टप् की) ध्वनि सुनाई देती है, वैसी ही ध्वनि वाला वाद्य 'स्फुट' है, जो श्रोतृचित्त मनोहर है।

3. गम्भीर : बादल की ध्वनि के समान जल्द एवं गम्भीर ध्वनियुक्त वादन 'गंभीर' है। यहाँ जल्द का अर्थ अत्यन्त सरस क्रिया से समझ सकते हैं। ऐसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुभूति आज भी हमें मान्य कलाकारों के वादन से प्राप्त होती है।

4. कल : कपोत अर्थात् कबूतर के कूजन के समान ध्वनि का वादन जहां हो, वहाँ 'कल' है। यहाँ वादन में अनुरणन कम होता है, क्योंकि कबूतर की 'गुटरगूँ' में ध्वनि की वैचित्र्यविहीन एकरूपता का ही आधिक्य है।

5. स्वस्थ – स्वर-निष्पति जहां यथावत् हो, अर्थात् स्वर-प्रयोग में कठोरता या मृदुता का अभाव हो, किसी भी ओर स्वरों का झुकाव न हो, जहां जैसे हस्त-व्यापार की आवश्यकता है, ठीक वैसा ही प्रयुक्त हो, तो वहां 'स्वस्थ' है। यह प्रकार आज भी सुवादकों में प्राप्य है।

6. झिल्लिका—कर्णस्फोटक वाद्य 'झिल्लिका' है। जैसे रात्रि के निश्छिद्र अंधकार में एक भाव से झिल्लिका ध्वनि कर्ण के लिए पीड़ा-दायक है, उसी प्रकार जहां वादन में झनझनाहट अधिक हो, जो श्रवण के लिए सुखदायक न हो, वहां 'झिल्लिका' है। आज भी इस प्रकार के कोलाहलपूर्ण वादन को 'झिल्लिका' नाम से अभिहित कर सकते हैं। इससे झल्लाहट ही मन में उत्पन्न होती है।

7. ढोलिका—जहां स्वरों की अधिकता हो, वहां 'ढोलिका' वाद्य है। अर्थात् जहां वादन में अपरापार हस्तव्यापारों का प्रयोग कम करके स्वर का काम ही अधिक किया जाए, प्रचार में उसे 'ढोलिका' कहा है। आलापांश में मुख्यत ऐसी क्रिया दृष्ट होती है।

8. अनालंबन - स्वर जहां अनुपस्थित हो, वह वादन-क्रिया 'अनालंबन' है। स्वर में स्थिरता कम रहे, केवल चंचलता से इधर-उधर घूमता रहे, वहाँ 'अनालंबन' है। एक सीमा तक कर्णाटकीय संगीत-पद्धति में ऐसा ही वादन-विन्यास श्रवण-गोचर होता है।

9. किट्टम्—जिस वादन-पद्धति में स्वरों पर आघात अत्यधिक प्रबल हो, वहां किट्टम् वाद्य है। यथास्थान जोरदार आघात न देकर स्थान-स्थान पर बल से हनन करने पर 'किट्टम्' वाद्य है।

10. निकुति - स्वर जहां बाहर को घूमें, अर्थात् वादन से बाहर को चले जाएं, वहां 'निकुति' वाद्य है। स्वरों का बाहर चले जाने का अर्थ 'विस्वर' (बेसुरा-पन) से होगा।

वाद्य के दशविध लक्षणों को देखने पर हमें यह भली-भांति ज्ञात होता है कि यहां वाद्य में हस्तव्यापारों के प्रकारों का उल्लेख करना कुंभ को अभिप्रेत नहीं है, जैसे कि एकतंत्री के वाद्य-भेदों के लक्षण देते हुए शार्ङ्गदेव ने त्रिविध हस्तव्यापारों का विन्यास किया है। अर्थात् हस्तव्यापारों के विशेष प्रयोगों से बना प्रकार 'वाद्य' का रूप परिग्रह करता है। कुंभकर्ण ने भी वहां उनका अनुसरण किया है। 'किन्नरी-प्रकरण' में कुंभ ने जहां द्विप्रकार हस्तव्यापारों के साथ वाद्य का भी वर्णन किया है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वहां हस्तव्यापारों के समवायों का विन्यास वाद्य में नहीं है, वरन् प्रयोक्ता की प्रयोग-क्रिया से निसृतः ध्वनि-विशेष ही 'वाद्य' है। हस्तव्यापारों का प्रयोग तो इसमें होगा ही, अतः वह यहां ऊहनीय है। उन व्यापारों की क्रियात्मकता से जो विशेष 'बाज' वादक की मनोवृत्ति के अनुसार दृष्ट, सृष्ट एवं श्रव्य हो, उस विशेष ध्वनिभेदात्मक शैली या कौशल को कुंभ ने 'वाद्य' कहा है। आधुनिक 'बाज' की व्याख्या हम उप-र्युक्त दोनों तरह से कर सकते हैं। शार्ङ्गदेव-वर्णित 'वाद्य' के रूप में जिस वैणिक की वादन-क्रिया में जैसे वाद्य-प्रकार का प्रयोग होगा, उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि अमुक व्यक्ति वाम हस्त का या अमुक दक्षिण हस्त का प्रयोग अधिक करता है, अथवा अमुक व्यक्ति के वाम-दक्षिण हस्त का प्रयोग तो अत्यधिक बुद्धि और परिश्रम का फल है, अथवा अमुक वादक की वादन-क्रिया इतनी गंभीर है कि उसे सुनकर मेघ-गर्जन की उपमा मन में आती है, अथवा अमुक वादक कान फोड़ने वाला वादन करता है (उदाहरणतः 'झिल्लिका' में कर्णस्फोटक वादन)।

भरत-वर्णित धातु, शार्ङ्गदेव द्वारा एक तंत्री-प्रकरण में उल्लिखित हस्त-व्यापार एवं वाद्य तथा राणा कुंभ द्वारा वर्णित हस्तव्यापार एवं वाद्य संगीत के क्षेत्र में क्रमिक विकास का परिचय देते हैं। वादन की प्रविधि को 'धातु' की संज्ञा देकर अपने समय तक के संपूर्ण विकास को भरत ने इसमें समेट लिया। भरत के पश्चात् वादन-विधि में और भी विकास हुआ। एक तंत्री को 'सर्ववीणाओं की जननी' माना गया तथा हस्तव्यापार एवं वाद्य का जो प्रकार अन्य वीणाओं में भी संभव था, उन सबको एकत्रित कर शार्ङ्गदेव ने एक साथ वर्णन किया। उभय हस्त व्यापार में रेफ, बिंदु, कर्तरी, निष्कोतित, शुकवक्त्र, अर्द्धचंद्र, प्रसारक एवं कुहर की, वाम हस्तक्रिया के लिए कम्रिका को त्यागकर अंगुली-प्रयोग-विधि दी गई है, जो उपर्युक्त शब्दों के लिए प्रमाण-स्वरूप है। इसी लिए शार्ङ्गदेव ने पृथक् रूप से किन्नरी आदि वीणाओं के लिए हस्त व्यापार एवं वाद्य का उल्लेख नहीं किया है। कुंभ के समय तक इनमें नवीन विकास और उसका परिवर्धन हुआ। फलतः किन्नरी के लिए हस्तव्यापारों की व्याख्या हमारे सम्मुख नूतन रूप में दर्शित होती है।

इन वादन-विन्यासों को समझने या समझाने का उद्देश्य यह नहीं कि हम गड़े मुर्दे उखाड़ रहे हैं। मनुष्य विका शील प्राणी है, अतः वह संगीत के क्षेत्र में भी अपने उर्वर मस्तिष्क से विकास करता आया है। यदि हम प्राचीन या मध्यकालीन ग्रंथों का अध्ययन करते हैं, तो यह ध्यान में रखकर नहीं कि आधुनिक संगीत में प्राचीन संगीत की परंपरा कुछ भी नहीं रह गई है अथवा प्राचीन से वर्तमान संगीत अनेक क्षेत्रों में विकसित है। हमें संगीत में हीनता या श्रेयता के इतिहास का अन्वेषण नहीं करना है, वरन् यह देखना है कि प्राचीन काल से वर्तमान तक संगीत की परंपरा में परिवर्तन और परिमार्जन का क्या इतिहास रहा है।

इस प्रकार इस सीमित परिधि का अध्ययन करने के पश्चात् निष्कर्ष यही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निकलता है कि संगीत के क्षेत्र में चाहे जो भी विकास होता रहा हो, भरत या शार्ङ्गदेव के धातु एवं वादन-विन्यास में सभी मूलभूत तत्वों का ग्रहण हुआ है। लघु-गुरु अक्षर या विभिन्न प्रकार के सन्निवेशों का जो भी रूप इन्होंने बताया है, उससे मौलिक रूप से भिन्न या नए किसी अन्य रूप की प्रायः संभावना नहीं है। विभिन्न रूपों का एक-दूसरे से विनियोग कर हमने उनके मिश्रित रूप अवश्य ही बनाए हैं। इन मिश्रित रूपों का चाहे जितना विस्तार-प्रस्तार हो सकता है। लघु-गुरु विन्यास में काल तत्व (duration) एवं अन्य प्रकारों में स्वर की तारता (Pitch), तीव्रता (intensity or dynamics) और विशेष गुण (timbre) का समावेश है। इस प्रकार नाद के चारों मूलभूत गुणों का ग्रहण शास्त्रों में मिलता है। इसीलिए संगीत के इतिहास पर दृष्टिपात करना अत्यंत आवश्यक है। अशिक्षा और अज्ञानता के कारण कभी-कभी हम अपनी परंपरा के प्रति अश्रद्धा प्रदर्शित कर बैठते हैं। उस परंपरा को जानने से निश्चय ही हमारा अज्ञान दूर हो जाएगा। ऐसी बात नहीं कि इन प्राचीन संज्ञाओं को जानने से कोई अच्छा वादक बन जाएगा, परंतु जो भी बजाया जाता है, उसे बुद्धि-वृत्ति से बजाना एवं सुंदर रूप से समझाना भी एक कला है, जिससे संगीत का हर एक पहलू छात्र के लिए रहस्य न होकर परिष्कृत व स्वच्छ हो जाए। यही शास्त्राध्ययन का फल है।

वर्तमान संगीत में धातु या हस्तव्यापारों के नाम लुप्त हो गए हैं, उसका एकमात्र कारण शिक्षा का अभाव है। अगर शिक्षित वर्ग (जो शास्त्रज्ञ व संगीतज्ञ, दोनों है) इन संज्ञाओं का पुनः प्रवर्तन करें तो संगीत के विकास का पथ अवरुद्ध न होकर अधिक सुगम और सुदृढ़ होगा तथा इससे अपनी प्राचीन संस्कृति का पुनरुन्मेष होने के साथ-साथ पूर्वाचार्यों के प्रति श्रद्धा ही प्रकट होगी।

संदर्भ ग्रन्थ

1. याज्ञ्यवल्क्य स्मृति।
2. नाट्यशास्त्र—अध्याय 28, 29 अभिनवभारती सहित।
3. भरत भाष्यम्।
4. संगीत रत्नाकर—अध्याय 1, 6, टीकाओं सहित।
5 संगीत राज—वाद्याध्याय (अप्रकाशित)।
6. संगीत शास्त्र।
7. भारतीय संगीत वाद्य।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

10

वीणाओं में आधार-स्वर के क्रमिक परिवर्तन

भरत के समय मुख्य वीणा मत्तकोकिला थी तथा चित्रा, विवंची एवं घोषाकच्छवी क्रमशः अंग-प्रत्यंग वीणाएं थीं। जहां 'वीणा' या 'वैणिक' शब्द का उल्लेख प्रसंगवशात् 'नाट्यशास्त्र' में किया गया, अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः उसे मत्तकोकिला के साथ जोड़ा है। अंग-प्रत्यंग वाद्यों पर भी इन्होंने व्याख्या की है। मत्तकोकिला को कल्लिनाथ ने 'स्वरमंडल' माना है—'मत्तकोकिला एवं लोके स्वरमंडलम् इति उच्यते।' श्री चैतन्य देसाई के अनुसार अभिनवगुप्त ने जिस मत्तकोकिला का वर्णन किया, कल्लिनाथ के समय में वह 'स्वरमंडल' के नाम से प्रसिद्ध थी, जो आज 'कानून' या 'संतूर' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त नान्यदेव ने इक्कीस तंत्रीयुक्त वीणा को 'महावीणा' कहा है—एकविंशतितंत्रीभिर्महावीणा प्रकीर्तिता।'

परंतु मत्तकोकिला को 'कानून' मानने का कोई आधार नहीं है। कल्लिनाथोक्त मत्तकोकिला की अन्य संज्ञा स्वरमंडल को तुलजा जी ने भी इसी नाम से उद्धृत किया है और आज भी वही रूप वर्तमान है। हां, तारों की संख्या में कुछ आधिक्य हो गया; और वह बजाने की सुविधा के लिए ही हुआ।

जैसे मत्तकोकिला अथवा स्वरमंडल एकल (सोलो) बजाने वाला वाद्य था और धातु आदि का वादन भी उस पर सुयोग्यता से होता था, उसी प्रकार आज के स्वरमंडल पर भी ततवाद्य के विभिन्न धातुओं (techniques) का वादन हो सकता है, यद्यपि यह परिश्रम सापेक्ष है। वर्तमान संगीत में स्वरमंडल को गान के साथ संगति करने का प्रचलन उस्ताद बड़े गुलाम अली खां ने किया और तभी से इसका प्रचार भी हुआ अन्यथा स्वरमंडल एक स्वतंत्र वाद्य के रूप में था और आज भी मुख्यतः श्री डी० आर० पार्वतीकर इसके वादन में निष्णात हैं। वैसे, मौखिक आलोचना करते हुए डॉ० कैलासचन्द्रदेव बृहस्पति ने लेखिका को यह स्पष्ट रूप से समझाया था कि स्वरमंडल का वादन चौदहवीं शताब्दी के पश्चात् तक भी होता रहा और उसका स्वरूप आज के स्वरमंडल जैसा न होकर कुछ और बड़ा तथा तारों का अन्तर एक-दूसरे से अधिक दूरी पर था। विजयनगर के राजा देवराय प्रथम के राज्यकाल में (मुस्लिम) संगीतज्ञों के द्वारा गान के साथ स्वरमंडल द्वारा संगति किए जाने का उदाहरण इन्होंने दिया और यह प्रमाणित करने कीं चेष्टा की कि शार्ङ्गदेव के पश्चात् भी इस वाद्य का प्रचार था। किन्तु इसके स्वरूप एवं तारों की दूरी के प्रमाण के संबंध में कोई उदाहरण नहीं मिलता है। उपर्युक्त उल्लेख क्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह प्रमाण नहीं देता कि मुसलमानों द्वारा जिसका वादन होता था, वह स्वर मंडल नहीं, कानून है ? फ़ारसी संगीतज्ञ गान के साथ कानून बजाते थे और आज भी ग्रीस (यूनान), फारस आदि स्थानों में इस वाद्य का व्यवहार होता है। चूंकि स्वरमंडल और कानून, दोनों ही केवल तारप्रधान हार्प (Psaltery) श्रेणी के वाद्य हैं, अतः दोनों को आधुनिक विद्वान एक मानने में प्रयासरत हैं।

भरत ने घोषा का उल्लेख प्रत्यंग वाद्य के रूप में किया है, किन्तु उनके परवर्ती काल में यह सर्व वीणाओं में मुख्य तथा उनकी जननी मानी गई। यह ऐसी वीणा है, जिसमें तार की लंबाई को घटा-बढ़ाकर स्वर प्राप्त किए जाते थे एवं इसके लिए कम्रा [लकड़ी का दंड] का व्यवहार किया जाता था। एक ही तार पर स्वर-स्थान प्राप्त करने वाला वाद्य अवश्य ही भरत के समय उतना विकसित नहीं हुआ, जितना परवर्ती काल में एकतंत्री वीणा के रूप में हुआ। एकतंत्री का जो उल्लेख 'नाट्यशास्त्र' के काशी-संस्करण के 29वें अध्याय में है, अन्य पाठों को देखते हुए उसे प्रक्षिप्त मानना चाहिए, क्योंकि यहां अन्य श्लोकों के साथ संबद्धता कम है और क्रम भेद भी है। शार्ङ्गदेव ने इस वीणा का नाम घोषा, घोषवती, एकतंत्री बताया है।

एकतंत्री में भी जब प्रयोग की असुविधा की प्रतीति हुई तो सारिकायुक्त वाद्यों का आविष्कार हुआ जो वादन-सौन्दर्य और वैचित्र्य-वैभव के कारण आज तक के समस्त स्वर-वाद्यों में श्रेष्ठ सिद्ध हो चुके हैं। इन तीन वीणाओं के क्रमशः बढ़ते हुए महत्त्व को स्वर-प्रयोग में परिवर्तन का परिणाम मानना चाहिए। इसके कुछ कारण हैं :—

1. स्वर-प्रयोग की व्यवस्था दो प्रकार की विधि से संभव है। प्रथम विधि में षड्जग्रामिक गांधार का उत्कर्ष कर उसे अन्तरगांधार में परिवर्तित किया जाता है तथा इसी षड्ज-ग्रामिक स्वरों की संज्ञाओं में परिवर्तन कर मध्यम ग्रामिक स्वरों की प्राप्ति की जाती है। तथा षड्जग्रामिक षड्ज को ही मध्यमग्रामिक मध्यम नाम देकर अग्रिम स्वरों को प्राप्त किया जाता है। अतः विशेष परिवर्तन किए बिना वीणा की तंत्रियों में एक ग्राम से दूसरे ग्राम में भ्रमण किया जा सकता था। यह विधि उन वीणाओं के लिए सुगम है, जिनमें प्रत्येक स्वर के लिए भिन्न-भिन्न तंत्रियां होती थीं। क्योंकि किसी एक ग्राम में मिले हुए तारों को अन्य ग्रामगत करने के लिए समस्त तारों को परिवर्तित किए बिना ही यह विधि सुगमता से अभीष्ट को प्राप्त कराती है। इसी प्रकार मध्यमग्रामिक धैवत, जो चतुःश्रुतिक है, उसका द्विश्रुति अपकर्ष करने (उतारने) पर पुनः षड्जगामिक गांधार की प्राप्ति हो जाती है और मध्यम-ग्रामिक स्वरों पर ही संज्ञा-भेद से षड्जग्रामिक स्वर पुनः मिल जाते हैं। पुनः किसी ग्राम की मूर्च्छनाओं को प्राप्त करने के लिए आरंभक (ग्रह-अंश) स्वरावली तंत्री से आरंभ करने पर संज्ञा-भेद के बिना ही मूर्च्छनाओं में परिवर्तन किया जा सकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, जिससे तार में किसी प्रकार का उतार-चढ़ाव नहीं करना पड़ता। शार्ङ्गदेवोक्त प्रथम विधि यही है। नाट्य में विशेषकर यह शैली सरल एवं आवश्यक है, जहां प्रतिक्षण भाव बदलने से मूर्च्छनाओं में भी परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। शार्ङ्गदेवोक्त द्वितीय विधि के अनुसार षड्ज स्वर पर ही अन्य ग्रह स्वर की स्थापना करनी होती है, तथा अभिप्रेत स्वर तंत्री या स्वर-स्थान के उतार-चढ़ाव द्वारा प्राप्त किए जाते हैं। भरत के समय घोषा (या एक तंत्री) वीणा अधिक महत्त्वपूर्ण वाद्य न होने के कारण द्वितीय नियम का पालन प्रचार में न था। इस (घोषा) के व्यवहार या वादन-क्रिया पर परवर्ती काल में प्रकाश मिलता है। भरत इस विषय में मौन हैं।

2. भरत के काल में जिस नियम की अस्पष्ट सूचना घोषा के नामोउल्लेख के द्वारा हो रही थी, परवर्ती काल में वही प्रधान नियम बन गया। यह था किसी विशिष्ट स्थान को प्रथम स्वर मानने का नियम। अर्थात् आज की भाषा में जिसे हम आधार या मूल (Tonic) स्वर कहते हैं, उस स्वर की आधार-शिला इसी नियम पर रखी गई। घोषा प्रत्यंग वीणा होने के कारण यह मुख्य एवं अंग, दोनों वीणाओं का अनुगमन करती थीं अतः यह मानना अस्वाभाविक नहीं कि भरत के समय अगर यह कम्रा से वजाई जाती थीं, तो स्थान-प्राप्ति भी तार की लम्बाई के अनुसार ही की जाती होगी तथा अन्य वीणाओं की सहायिका होने के कारण और एक ही तंत्री द्वारा इसका वादन होने के कारण षड्ज के स्थान पर ही ग्रह स्वर के परिवर्तन द्वारा मूर्च्छनांतर किया जाता था। वहां घोषा वीणा को कुछ स्पष्ट करना उचित होगा।

शार्ङ्गदेव के कथन से ही हम जानते हैं कि एकतंत्री वीणा तार की लंबाई को घटा-बढ़ा कर ही बजाई जाती थी और चूंकि घोषा का पर्याय एकतंत्री है अतः घोषा की वादन विधि एक तंत्री जैसी रही। अतः यह कहना कि 'भरत ने अपने स्वरों के स्थान तार की लम्बाई पर नहीं बताए' यह प्रमाणित नहीं करता कि भरत-काल में तार की लम्बाई घटा-बढ़ा कर स्वर प्रयोग नहीं किया जाता था। हां प्रत्यंग वीणा होने के कारण इसका वर्णन अवश्य ही नहीं किया गया। तार की लंबाई के आधार पर वीणा बजाने का अर्थ केवल सारिकायुक्त वाद्य के रूप में नहीं लेना चाहिए, वरन् उसमें विशेष आकार की वीणा अन्वित है, जो केवल अंगुलि या किसी बाह्य उपकरण के द्वारा (विशेष नियमों से) बजती हो। स्वरों की प्राप्ति भी इसके अन्तर्गत आती है (जैसे आज के सरोद, विचित्र वीणा अथवा भरत एवं भरतोत्तर कालीन चित्रा, विपंची आदि, जो प्रयोजनानुसार कभी-कभी कोण से भी बजती थी)। वैसे, यह तो ठीक ही है कि सारिका और तंत्री के बीच एक निश्चित स्थान होता है, जिससे तार को बीचोंबीच दबाने से कुछ ऊँचा स्वर सुनाई पड़ता है, जो एकतंत्री आदि वीणा पर नहीं दिखता। इसलिए सारिकाहीन वीणा पर स्वरस्थापन तार की लम्बाई पर हो सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

3. सारिकायुक्त वीणा मतंग के पूर्व से ही व्यवहारोपयोगी रही है तथा परवर्ती युग में और विकसित रूप में सम्मुख आती है। वैसे वीणाओं के लिए अंगुल, पर्व एवं यव के नाप का उल्लेख मध्यकालीन ग्रंथकारों तक सभी ने किया है। तार की लम्बाई का आधार 36 इंच आधुनिक विद्वान, जैसे पंडित भातखंडे तथा अन्य अनुसरणकर्त्ता मानते हैं, जो गणित की सरलता के लिए एक मोटा हिसाब है। चूंकि सारिकाएं स्वर में स्थापित होते समय कुछ अपना स्थान भी लेती हैं (अपनी-अपनी मोटाई और चौड़ाई के अनुसार), अतः यह स्वाभाविक है कि तत्री के ठीक मध्य-स्थल में तंत्रीगत स्वर के ठीक द्विगुण स्वर का निवेशन नहीं हो सकता, वरन् स्वर कुछ ऊँचा ही रहता है, फलतः सारिका को थोड़ा मेरू की ओर खिसकाकर वांधना पड़ता है। परंतु इससे सारिकायुक्त वीणा की स्वरस्थापन-विधि को अव्यावहारिक नहीं मानना चाहिए। पंड़ित श्रीनिवास या अहोवल ने अवश्य ही स्वरस्थापन की विधि तार पर कही है, परन्तु वह एक मोटा हिसाब है और आज के वीणा-शिल्पी भी इस तथ्य से भली-भांति परिचित हैं। वे स्वरस्थापन के लिए तार की लंबाई के घटाने-बढ़ाने पर ध्यान तो देते हैं, किंतु केवल वहीं उनका ध्यान केंद्रित नहीं रहता, न संवाद सिद्धांत के आधार पर ही वे स्वरों का स्थापन करते हैं। वीणा बजाने वालों से पूछने पर यही उत्तर मिला कि षड्ज स्वर को जोड़ी के तार में मिला लेने के पश्चात् क्रमशः अन्य स्वरों को षड्ज के आधार पर ही मिलाते हैं अर्थात् सारिकाओं की स्थापना षड्ज स्वर के आधार पर की जाती है। षड्ज-मध्यम अथवा षड्ज-पंचम के आधार पर भी सारिकाओं को निवेशित नहीं करते। वैसे सिद्धांत के लिए तथा स्वरों के श्रुव्यंतरादि को देखने-परखने के लिए संवाद-सिद्धांत का ही आश्रय लेना पड़ता है।

अगर किसी के मन में यह शंका उपस्थित हो कि आज षड़ज स्वर ही ग्रहादि होने के कारण स्वर-स्थापन भी अहोबलादि प्रोक्त विधि से होता है, तो उन्हें दत्तिल आदि का यह श्लोक स्मरण करा देना चाहिए, जिसका उद्धरण सिंहभूपाल ने दिया है—'दत्तिलो हि स्वेच्छया यस्यां कस्यामपि श्रुत्यां षड्जं स्थापयेत्त दवेक्षया च श्रुतिनियमेनान्यस्थापयेदित्युक्तवान्।

यदाह—

षड्जत्वेन गृहीतो यः षड्जग्रामे ध्वनिर्भवेत्।
तत ऊर्ध्वं तृतीयः स्यादृषभो नात्र संशयः।
ततो द्वितीयो गांधारश्चतुर्थो मध्यमस्ततः।
मध्यमात्पंचमस्तद्वत्तृतीयो धैवतस्ततः ॥
निषादोऽतो द्वितीय स्यात्ततः षड्जश्चतुर्थकः।

स्वेच्छापूर्वक स्वरों के ग्रहण के पश्चात् अन्य स्वरों के उपस्थापन के लिए 'अवधान' की आवश्यकता होती है—'स्वेच्छया षड्जवस्यापनमंगोकृत्यैव दतिलदक्षप्रजापत्यादयोऽवधानं गांधर्वागत्वेनङ्गयकापुः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन शब्दों के साथ सिंहभूपाल ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि गांधर्व में भी स्वरों की प्राप्ति षड्जादि-क्रम से, अर्थात् षड्ज के पश्चात् ऋषभ, तत्पश्चात् गांधार इत्यादि विधि द्वारा होती थी, न कि षड्ज-पंचम या षड्ज-मध्यम अथवा षड्ज-गांधार के अंतरालों के आधार पर। गांधर्व के स्वरों में स्वर-संवाद अवश्य ही वैसा था, जैसा भरतादि ने बताया है, किन्तु स्वरों की स्थापना षड्जादि के आधार पर ही होती थी, इसमें संदेह नहीं। और, इसी कारण 'अवधान' की आवश्यकता का उल्लेख दक्ष-प्रजापति आदि ने किया है। आज भी स्वरों को मिलाते समय 'अवधान' की अत्यंत आवश्यकता होती है। सामान्य छात्र निपुणता से स्वरों को मिला नहीं सकता, इस तथ्य से सभी अवगत हैं।

इसी षड्ज के आधार पर स्थापित स्वरावली में ही अन्य मूर्च्छनाओं को प्राप्त किया जाता था, अर्थात् षड्ज के स्थान पर ही निषादादि मूर्च्छनाओं की स्थापना की जाती थी।

यह विधि भरत के समय तक अधिक प्रकाश में नहीं आई, परंतु परवर्ती युग में इसका प्रचार व प्रसार हुआ। अभिनवगुप्त ने मूर्च्छना-स्थापन के प्रसंग में इसका उल्लेख किया है तथा शार्ङ्गदेव ने भी। इस समय सारिकायुक्त वीणा किन्नरी का भी विकास हो गया था, जिसने इस नियम में दृढ़ता प्रदान की। आज मतंग की 'बृहद्देशी' का वाद्याध्याय प्राप्त नहीं है, अतः अभिनवगुप्त द्वारा दिए गए संकेत तथा शार्ङ्गदेव और कुंभकर्ण के (अप्रकाशित) वाद्याध्याय पर ही हमें निर्भर रहना पड़ता है।

जिस विधि का बीजारोपण भरतकाल में हुआ, मतंग के समय वह विकसित हुई एवं फली-फूली, जिसका लिखित प्रमाण 'संगीत रत्नाकर' तथा 'संगीतराज' में विस्तार से एवं 'मानसोल्लास' और 'संगीत-समयसार' में संक्षेप में मिलता है। स्वर-संवाद प्रकरण में मतंग ने स्पष्ट रूप से कहा है कि त्रिश्रुतिक और चतुःश्रुतिक स्वरों में से किसी एक का प्रयोग हानिकर नहीं होता। यह संकेत हमें विश्वास करने को बाध्य करता है कि किन्नरी आदि वीणा की सारिकाएं स्थिर होने के कारण ही मतंग को इस नियम का प्रतिपादन करना पड़ा। भरत से लगभग 500-600 वर्ष के अनंतर बृहदेशी' की रचना हुई। इसी बीच कितना परिवर्तन तथा विकास स्वर और रागों के क्षेत्र में हुआ, वह बृहद्देशी को पढ़ने से ज्ञात होता है। अभिनवगुप्त का प्रधान उद्देश्य 'नाट्य शास्त्र' की व्याख्या करना था, फिर भी उन्होंने जहां तक हो सका, स्वरों के परिवर्तनों की ओर इंगित किया है। संगीत पर शार्ङ्गदेव का संपूर्ण ग्रन्थ हमें उपलब्ध है। इस कड़ी में शार्ङ्गदेव से पूर्व जितने भी ग्रन्थ हैं वे या तो अपूर्ण हैं अथवा उनके पाठ इतने भ्रष्ट हैं कि कहीं-कहीं मर्मोद्धार करना कठिन हो जाता है, अथवा ये ग्रन्थ नाट्य आदि अन्य विषयों के अन्तर्गत एक या दो प्रकरण में ही संगीत की आलोचना करते हैं। उनमें से वाद्य या तत्संबंधी स्वरों पर शायद ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ आलोकपात होना संभव है। फिर भी वीणा ही एकमात्र आधार है, जो हमें किसी विशेष काल के स्वर का ज्ञान कराने में समर्थ है, विशेषकर वह अगर सारिकायुक्त हो तो। शार्ङ्गदेव एवं कुंभ ने आलापिनी और किन्नरी का वर्णन किया है, जिसके आधार पर हमें स्वरों पर कुछ अनुमान और क्रियदंश में प्रमाण भी प्राप्त हो सकता है। किन्नरी के वर्णन के प्रसंग में कुंभ ने उसे मतंगोक्त माना है (अप्रकाशित संस्करण)। अतः जब तक अन्य कोई प्रमाण नहीं मिलता, देशी किन्नरी पर कुंभ-कृत वर्णन को मतंग-काल का मानना उचित होगा।

वीणाओं के क्रमिक विकास का क्रमिक परिवर्तन आधार-स्वर-स्थान के परिवर्तन की ओर संकेत करता है, यह हमने देखा। इस बदलती हुई विधि ने क्रमशः आधार-स्वर के रूप में षड्ज की ओर इंगित किया, यह भी हमने देखा। अतः एक निबंध के रूप में, जो अपनी गवेषणा का परिणाम है तथा गंभीर अध्ययन का फल है, विद्वत्जन के समक्ष रखा गया। प्रतिक्रिया सादर स्वीकार्य है।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. नाट्यशास्त्र—28, 29 अध्याय, अभिनवभारती सहित।
2. भरतभाष्यम्।
3. संगीत रत्नाकर—वाद्याध्याय (6), टीकाओं सहित।
4 *Journal of Madras Music Academy, Gandharva & Deshi.*
5. मानसोल्लास।
6. संगीत समयसार।
7. संगीत राज—वाद्याध्याय (अप्रकाशित)।
8. बृहद्देशी।

—o—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

11

स्वर तथा श्रुति के प्रतिपादन में परवर्ती ग्रंथकारों पर शार्ङ्गदेव का प्रभाव

शार्ङ्गदेव का 'संगीत-रत्नाकर' अपने समय का अनूठा ग्रंथ है। इन्होंने राजनीतिक अस्त-व्यस्तता के कारण बिखरे हुए ग्रंथों को एकत्र किया, उनका अध्ययन और मनन किया, फिर उनके सारतत्त्व को ग्रंथ का रूप दिया। आज के युग में, जबकि भरत से शार्ङ्गदेव तक के व्यापक काल में संगीत का एक भी संपूर्ण ग्रंथ प्राप्त होना संभव नहीं, गांधर्व तथा उसके परवर्ती विकास को समझाने में 'संगीत-रत्नाकर' एक स्वयं-संपूर्ण आधार-ग्रंथ है।

केवल अपने समय का ही क्यों कहा जाए, परवर्ती ग्रंथकारों (विशेषतः मध्ययुगीय) पर शार्ङ्गदेव का इतना प्रभाव पड़ा था कि उत्तर तथा (अधिकांशतः) दक्षिण, किसी भी देश का ग्रंथकार क्यों न हो, इन्हीं को प्रमाण मानने लग गया था। 'संगीत-रत्नाकर' के श्लोकों का उद्धरण दिए बिना कोई ग्रंथकार अपने विचारों की पुष्टि नहीं करता था। यहां तक कि अनेकों ने अपने विचार के रूप में शार्ङ्गदेव के ही श्लोकों को लिख दिया है। 'संगीत-रत्नाकर' विशाल और विस्तृत विषयों पर विवेचित ग्रंथ है। प्रस्तुत प्रवन्ध में श्रुति तथा स्वर के प्रतिपादन में परवर्ती ग्रंथकारों पर शार्ङ्गदेव का क्या प्रभाव रहा, इस पर विचार किया जाएगा।

वैसे, इस विषय पर अब तक काफी विवेचन हो चुके हैं कि क्यों शार्ङ्गदेव ने गान के आधारगत स्वरूप 'स्वर' का उल्लेख सर्वप्रथम न करके, ध्वनि और नाद की पहले और तत्पश्चात् श्रुति की चर्चा की है; तथा बाईस श्रुतियों का दर्शन चतुःसारणा की सहायता से करने के पश्चात् स्वरों की व्याख्या की है; जबकि भरत ने इसके विपरीत स्वरों के वर्णन के पश्चात् श्रुति और सारणा की व्यवस्था दी है। फिर भी यहां उल्लेखमात्र करना अप्रयोजनीय न होगा कि भरत ने 'लक्ष्य' को दृष्टि में रखकर विषय-प्रतिपादन किया है। परवर्ती ग्रंथकारों के सम्मुख लक्ष्य सुप्रतिपादित होने के कारण शार्ङ्गदेवादि ने 'लक्षण' का ग्रहण पहले किया। इसीलिए 'स्वर का कारण' होने से श्रुति का निरूपण भरतेतर ग्रंथकारों ने पहले किया है। इस हेतु भरत को 'लक्षैकचक्षुष्क' और शार्ङ्गदेवादि को 'लक्षणैकचक्षुष्क' की संज्ञा दी जाती है।

श्रुति

शार्ङ्गदेव ने मतंग की तरह श्रुतियों की अंतरालगत भिन्नता पर कोई प्रकाश नहीं डाला, वरन् सीधे श्रुतियों की संख्या बाईस मान ली है। श्रुतियों को उन्होंने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शरीर की नाड़ियों से उद्भूत बताया है, जो क्रमशः उच्च से उच्चतर उठते हुए वायु के स्पर्श से हृदय, कंठ एवं मस्तक इन तीनों स्थानों से निकलती हैं। इसके पश्चात् शार्ङ्गदेव ने सीधे सारणा-चतुष्टयी पर विवेचन किया है, क्योंकि शरीर की नाड़ियों से स्वर या श्रुति का उत्पत्ति-क्रम सामान्य रूप से देखा नहीं जा सकता। मध्ययुग में श्रुति पर जो भी विवेचन हुआ, वह भरत, मतंग या शार्ङ्गदेव का चर्तित-चर्वण है, कोई विशेष नवीन वात इन्होंने नहीं कही। केवल कहीं-कहीं जहां श्रुतियां वाईस हैं, वहां श्रुति-क्रम में चौवीस संख्या को प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है। श्रीनिवास ने ही सर्वप्रथम षड्ज-ग्राम के अनुसार सप्तक का विभाजन करने के पश्चात् ग्रंथ के अंत में पुनः प्रत्येक स्वर की स्व-स्वश्रुतियों का उल्लेख किया है, जिससे ये चौवीस हो जाती हैं। उनके अनुसार 'सा-प' चतुःश्रुतिक, 'ग-नि' द्विश्रुतिक, 'प-म-ध' चतुःश्रुतिक हैं। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न खड़ा होता है कि लोक में षड्ज-ग्राम का प्रचलन वताते हुए और स्वर-विभाजन वैसा देते हुए भी पुनः इस नवीन विभाजन की क्या आवश्यकता थी। यह कल्पना वीणा के परदों के एक-दूसरे से दृश्य-अन्तर की दूरी को देखकर हुई। वेंकटमखी ने भी बाईस श्रुतियों के प्रतिपादन के पश्चात् एक स्थान पर स्वर-स्थिति बताते समय चौवीस श्रुतियों का उल्लेख किया। गजपति नारायणदेव ने 'कोहलीय' नामक ग्रंथ का उल्लेख किया, जिसमें स्वरों के श्रुति-विभाजन के पश्चात् चौवीस श्रुतियां दिखती हैं। 'सा-प' पंचश्रुतिक, 'म' चतुःश्रुतिक, 'रि-ध' त्रिश्रुतिक तथा 'ग-नि' को द्विश्रुतिक बताया गया है। ये भरत-पुत्र कोहल होंगे, ऐसा नहीं कह सकते; अन्यथा ऐसा मतंग-शार्ङ्गदेव अवश्य करते। मध्य-युगीय ग्रंथकारों में ऐसी परंपरा मिलती है कि अपनी वातों की पुष्टि के लिए वे कभी-कभी अकारण ही प्राचीन शास्त्रकारों का नाम ले लेते थे। इन समस्त ग्रंथकारों पर यवन अथवा अंग्रेजों के प्रभाव की कल्पना करना भी सर्वथा अनुचित न होगा, क्योंकि चौवीस श्रुतियों की मतधारा कभी भारतीय नहीं रही। 11-12वीं शताब्दी से फारसी या तुर्क बादशाहों के कदम भारत पर पड़े थे और 17वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अंग्रेजों के। उपर्युक्त ग्रंथ 18-19वीं शताब्दी के हैं और शास्त्रकारों की इस विचारधारा का स्रोत अवश्य ही उनमें खोजा जा सकता है। इसी विचार का फल है कि आधुनिक विद्वान् श्री तैलंग आदि ने षड्जग्रामिक स्वरावली का उचित रूप चौबीस श्रुतियों में प्राप्त होना माना है। स्वर-श्रुतियों को लेकर शास्त्रकारों ने विवाद खड़ा किया है, संगीतज्ञों ने नहीं; अन्यथा आधुनिक भारतीय स्वर-व्यवस्था चौबीस श्रुतियों के आधार पर ही स्थिर हो जाती। 17-18वीं शताब्दी के अल्पसंख्यक शास्त्रकारों पर भले ही ऐसे व्यक्तियों का प्रभाव पड़ा हो, जो चौवीस श्रुतियों को मान्यता देते हों, किन्तु वास्तव में भारतीय संगीत में ऐसा प्रयोग कभी नहीं हुआ। इन शास्त्रकारों को यह भी ज्ञात था कि श्रुतियां बाईस होती हैं, अतः इन्होंने शार्ङ्गदेव के ग्रंथ का उद्धरण देते हुए वाईस श्रुतियों का विवेचन किया है, साथ ही विदेशी विचारों से प्रभावित होने के कारण चौवीस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रुतियों का उल्लेख भी किया, परन्तु चंद आधुनिक विद्वानों के अतिरिक्त इस पर विस्तृत व्याख्या कहीं नहीं मिलती।

सारणा

ध्यान देने की बात यह है कि श्रुति के विवेचन में जहां मध्ययुगीय ग्रंथकारों ने या तो शार्ङ्गदेव का अनुकरण कर शरीर की नाड़ियों से बाईस श्रुतियों का उद्भव बताया (अहोबल, रघुनाथ भूप, वेंकटमखी आदि), अथवा 'यदुक्त' या 'तदुक्त' कहकर शार्ङ्गदेव के श्लोकों का ही उद्धरण दिया (तुलजा जी, गजपति नारायणदेव आदि); वहां सारणा के वर्णन में सोमनाथ के अतिरिक्त अन्य सभी मौन हैं। रामामात्य से वेंकटमखी तक अधिकांश ग्रंथकारों ने या तो इस विषय को छुआ ही नहीं, अथवा भरत या शार्ङ्गदेव के वर्णन की ही पुनरुक्ति की है जैसे 'संगीत-सारामृत', 'संगीत-राज'।

जहां भरत की वीणा में प्रत्येक बार में केवल एक ही सारणा संभव है, शार्ङ्गदेव की 'श्रुतिवीणा' में बाईस तंत्रियां अलग-अलग होने से चारों सारणाएं की जा सकती हैं तथा उन्हें देखा और परखा जा सकता है। सोमनाथ ने रुद्रवीणा में बाईस सारिकाओं को श्रुति प्राप्ति का आधार माना। इन्होंने चार लौह तंत्रियों का उल्लेख किया, जो क्रमशः उच्च से उच्चतर ध्वनियों में मिलाई जाएं, परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि प्रथम तंत्री को शिथिल कर, किस मंद्रतम ध्वनि में मिलाया जाए। मिलाने की रीति शार्ङ्गदेव के वर्णन से मिलती है; अन्तर इतना है कि शार्ङ्गदेव ने बाईस तंत्रियों को क्रमशः उच्च से उच्चतर ध्वनि में मिलाने को कहा है, जिनमें प्रथम ऐसी मंद्रतम ध्वनि में मिलाई जाए, जहां तंत्री अनुरणन करती हो। सोमनाथ ने चतुर्थ तंत्री के नीचे कुछ उभरी हुई लकड़ी की पट्टी से बनी बाईस सारिकाओं की स्थापना की है और सरल विधि (simple method) से स्वर-निर्णय किया है। चौथी तंत्री की ध्वनि से थोड़ी ऊंची ध्वनि में प्रथम सारि और क्रमशः अन्य सारियों को अपने पूर्व से ऊंचे ध्वनि-स्थान पर स्थापित किया जाए। चौथी तंत्री जो षड्ज में मिली है, उसे आधार मानकर क्रमशः तीसरी सारि पर ऋषभ, पांचवीं सारि पर गांधार, नवीं पर मध्यम, तेरहवीं पर पंचम, सोलहवीं पर धैवत, अठारहवीं पर निषाद तथा बाईसवीं सारि पर मध्य-षड्ज की स्थापना होती है। स्पष्ट है कि चौथी तंत्री मंद्र-षड्ज में मिली है। विस्तार-भय से सोमनाथ ने इस विषय को यहीं पर समाप्त कर दिया है, यानी इससे आगे चतुःसारणा पर कोई वर्णन नहीं है।

चतुर्थ तंत्री के अतिरिक्त अन्य तंत्रियों की मेलन-विधि का कोई उल्लेख नहीं है, न ही उनका प्रयोजन स्पष्ट है। इन चार तंत्रियों पर सारणा-क्रिया स्पष्ट है या नहीं, अथवा केवल चतुर्थ तंत्री पर ही सारणा करनी होगी, इस पर भी प्रकाश नहीं डाला गया। केवल शास्त्रयुक्त विधि से स्वरों को सारियों पर बैठाने से ही बाईस श्रुतियां स्पष्ट नहीं होती। विस्तारभय से उन्होंने चतुःसारणा का प्रदर्शन नहीं किया;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परन्तु ऐसा लगता है कि ऐसा करने के लिए उन्हें स्वरांतराल की स्थिति का स्पष्टीकरण करना होता, और जो अंतराल प्राप्त होते, वे अंतराल और स्वर-संज्ञाएं उनके द्वारा वर्णित स्वर-संज्ञाओं और अंतरालों से पृथक् हो जाते। विस्तारभय के साथ-साथ संभवतः प्रयोगजन्य स्वर-भेद का भय भी उनको रहा (अगर ग्राम-व्यवस्था को समझ सके, तो), जिसे वे न अस्वीकार कर सकते थे, न लोक-प्रचलित और ग्रामिक स्वर-व्यवस्था के अन्तर को दिखाने का साहस करते थे। कल्लिनाथ को छोड़कर कोई भी मध्ययुगीय ग्रंथकार इस अन्तर का स्पष्ट उल्लेख नहीं कर सका है।

भरतेतर काल में स्वर-श्रुति आदि विषयों में दृश्य रूप को प्रधानता मिली। इसी कारण बाईस तंत्रियों से युक्त श्रुति-वीणा हमारे सामने आई। सोमनाथ ने एक कदम आगे बढ़कर दृश्यता को स्पष्ट करने के लिए बाईस सारियों की कल्पना की। यद्यपि उनकी यह व्यवस्था सफल नहीं हुई, किन्तु आधुनिक विद्वानों के अथक परिश्रम के पश्चात् हम आज सारणा क्रिया को न केवल समझते ही हैं, बल्कि उसे वास्तविक रूप से क्रियान्वित कर सकते हैं, श्रुतियों के पारस्परिक अंतराल को देख-परख सकते हैं (संगीत-महाविद्यालय, का०हि०वि०वि० में डा० लालमणि मिश्र द्वारा आविष्कृत 'श्रुति-वीणा' द्रष्टव्य)। मध्ययुगीय विद्वानों की तरह आधुनिक विद्वान् भी स्वर-श्रुति-सारणादि तत्त्वों पर विचार करने में उद्यत हुए। वैसे, आधुनिक काल में उपर्युक्त विषयों पर कोई विशेष नए मत का आविर्भाव नहीं हुआ। अधिकांश विद्वानों का उद्देश्य भरत-मतंग-शार्ङ्गदेव तथा मध्ययुगीन ग्रन्थकारों के विचारों को स्पष्ट करना रहा है। हर प्रसंग में दृश्य तत्त्व पर अधिकाधिक जोर दिया गया, फलस्वरूप सारणादि तत्त्वों को आधुनिक विचारकों ने श्रव्य के साथ-साथ दृश्य भी बनाया तथा विषय को जटिलता से मुक्त कर अधिक सरल बनाने की चेष्टा की।

यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक विद्वानों में सभी शार्ङ्गदेव को समझने में सफल हुए; किन्तु गलत हो या सही, उनका प्रभाव शास्त्रकारों के मस्तिष्क पर पड़ा था तथा उन्हें समझने और समझाने का प्रयास भी इन विद्वानों ने किया। इनमें मुख्य रूप से डा० सौरींद्र मोहन ठाकुर, पं० भातखंडे, पं० ओंकारनाथ ठाकुर, श्री ललितकिशोर सिंह, डा० परांजपे, डा० बृहस्पति, डा० लालमणि मिश्र आदि के विचारों पर संक्षेप में चर्चा की जा रही है।

श्रुति के विवेचन के प्रसंग में आधुनिक विद्वानों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। प्रथम वर्ग के शास्त्रकार श्रुति को समान मानते हैं। इसका स्रोत पाश्चात्य संगीत है। पाश्चात्य equal tempered scale के समान इन्होंने भी स्वर को प्रथम श्रुति पर और सभी श्रुतियों को बराबर माना। इन्हें 'समानतावादी' की संज्ञा दी जा सकती है। Strangway, Clements आदि का अनुकरण श्री सौरींद्र मोहन ठाकुर, पं० भातखंडे आदि ने किया। पं० भातखंडे ने 'संगीत-रत्नाकर' को स्पष्ट करने की चेष्टा की है, परन्तु उन्हें 'नाट्य-शास्त्र' और 'संगीत-रत्नाकर' को समझाने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाला नहीं मिला, अतः श्रुति-स्वर की कोई संगत-व्याख्या वे दे नहीं पाए। "मनाक् उच्च ध्वनि से समस्त तंत्रियों को मेलन (tuning) करने के पश्चात् क्रमशः नीचे से ऊपर मिलाई गई ध्वनि 'श्रुति' है"; शार्ङ्गदेव के इन दो वाक्यों पर ये उलझ गए, जैसे कि अन्य उलझते रहे। क्रमशः मिलाई गई उच्चतर ध्वनि को इन्होंने 'श्रुति' समझा और दो ध्वनियों के बीच के अन्तर को 'श्रुति-प्रमाण' यानी श्रुति का परस्पर सम्बन्ध; यही ध्वन्यंतर 'प्रमाण' (standard) माना है, अर्थात् 'प्रमाण-श्रुति' का अर्थ इन्होंने 'श्रुति-प्रमाण' के रूप में किया है। यही कारण है कि इन्होंने भरत और शार्ङ्गदेव-वर्णित बाईस श्रुतियों को 'समान' बांटा और बार-बार इसका उल्लेख किया है।

पं० भातखंडे ने सारणा-विधि को समझाते हुए भरत के 'तद्वत्' का अर्थ पुनः-पुनः पंचम का अपकर्ष (उतार) माना है। यह क्रिया संवादी स्वरों को प्राप्त कराने में व्यर्थ है। भरत-शार्ङ्गदेव की श्रुतियों को सम-परिमाण में मानते हुए इन्होंने अपने समय की श्रुतियों को भी नियत परिमाण का और एक सप्तक में बाईस समान श्रुतियों का निवास माना है। अपने इस विचार की मान्यता इन्होंने सोमनाथ के 'रागविबोध' के आधार पर दी है, जबकि उक्त ग्रंथ में कहीं बाईस श्रुतियों को समान मानने की चेष्टा तक नहीं की गई। सोमनाथ ने बाईस सारिकाओं को क्रमशः उच्चतर ध्वनियों में स्थापित कर षड्ज-ग्राम की स्थापना की है, यह हम पहले देख चुके हैं और सोमनाथ-कथित सारणा-क्रिया से यह भी ज्ञात होता है कि शार्ङ्गदेवोक्त सारणा-विधि या तो उनको स्पष्ट न थी अथवा सब कुछ जानते हुए भी वह यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि ग्राम-मूर्च्छना का नियम अपने समय में टूट चुका था। श्रुतियों के सम, असम स्वरूप पर विचार करने का प्रयास स्पष्टतः आधुनिक चिंतकों ने किया है। श्रुतियों को समान मानने के कारण अवश्य ही हारमोनियम, पियानो आदि equal tempered scale के आधार पर बने वाद्यों को 'स्वर-विवेचन' में 'आधार-वाद्य' माना था।

द्वितीय वर्ग में मुख्यतः प्रो० ललितकिशोरसिंह, डा० बी० सी० देव, पं० ओंकारनाथ ठाकुर, डा० परांजपे आदि विद्वानों को रखा जा सकता है, जिन्होंने श्रुति को असम मानकर विषय-प्रतिपादन की चेष्टा की है। प्रो० सिंह ने श्रुतियों पर विचार करते हुए दो पक्ष हमारे सामने रखे— 1. 'समानवादी' और 2. 'असमानवादी'। भरत तथा शार्ङ्गदेवोक्त सारणा-प्रक्रिया का इन्होंने तुलनात्मक ढंग से अध्ययन किया है और श्रुतिपरिमाण के लिए भरत को 'असमानवादी' और शार्ङ्गदेव को 'समानवादी' माना है। उनके अनुसार भरत ने पहले ग्राम के स्वरों की स्थापना की है और उससे 'प्रमाण-श्रुति' निकाली है, पर शार्ङ्गदेव ने पहले बाईस श्रुतियों की स्थापना की है और फिर उनसे स्वरों का मान निकाला है। जब बाईस श्रुतियाँ पहले ही निश्चित हो गईं, फिर उनकी सिद्धि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। भरत ने बाईस श्रुतियों की सिद्धि 'स्वर-वीणा' के द्वारा की है। दूसरी ओर शार्ङ्गदेव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ने 'श्रुति-वीणा' का प्रयोग किया है। 'ध्वनि और संगीत' के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भरत और शार्ङ्गदेव की कही सारणा-क्रिया इन्हें भी स्पष्ट न थी। शार्ङ्गदेव ने क्रमशः उच्चतर ध्वनि में वाईस तंत्रियों को मिलाने के पश्चात् उन्हें 'श्रुति' अवश्य कहा, परन्तु वह श्रवणात्मक ध्वनिमात्र है। वे सांगीतिक श्रुतियां नहीं हैं, अन्यथा पुनः षड्ज-ग्राम की स्थापना करने की आवश्यकता न होती और न चतुः-सारणा कर श्रुतियों के नाप का स्थिरीकरण ही किया जाता।

पं० ओंकारनाथ ठाकुर ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि शार्ङ्गदेव की सारणा-क्रिया वे समझ न सके और परवर्ती विचारकों पर यह कार्य सौंप दिया है। भरत की सारणा-विधि वताते समय भी 'तद्वत्' का अर्थ वार-वार पंचम का अपकर्ष मानने से सिद्ध होता है कि भरत भी उनको स्पष्ट न था, क्योंकि भरत को समझने के वाद शार्ङ्गदेव को समझने में अधिक असुविधा नहीं होती है।

तृतीय वर्ग में मुख्यतः डा० वृहस्पति, डा० लालमणि मिश्र आदि आते हैं। डा० वृहस्पति ने ही 'तद्वत्' शब्द का असली अर्थ खोज निकाला और 'भरत का संगीत सिद्धान्त' में इसे स्पष्ट किया है। आज प्रायः सभी सारणा-क्रिया करते समय 'तद्वत्' का अर्थ समझते हैं और उसे 'वार-वार पंचम का अपकर्ष करना नहीं मानते; अतः पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं है। 'संगीत चिन्तामणि' के कुछ लेखों में इन्होंने शार्ङ्गदेव के विवेचनों को स्पष्ट किया है, जो अव तक अन्धकार में था। डा० वृहस्पति तथा डा० मिश्र ने क्रमशः स्वनिर्मित 'श्रुति-दर्पण' और 'श्रुति-वीणा' के द्वारा सारणा-क्रिया को स्पष्ट किया है तथा श्रुति-संख्या, श्रुति-परिमाण आदि को श्रव्य और दृश्य वनाया है। शार्ङ्गदेव की श्रुतिवीणा संवंधित समस्त समस्यायें; जैसे वाईस तार वताने का प्रयोजन, मनाक्, उच्चध्वनि तथा इस ध्वनि को 'श्रुति' संज्ञा देने का उद्देश्य आदि वहुचर्चित विषय का समाधान इन्होंने किया है। 'नाट्य-शास्त्र' और 'संगीत-रत्नाकर' के स्पष्टीकरण में विशेषतः ग्राम-मूर्च्छना और सारणा-व्यवस्था पर नवीन आलोकपात डाक्टर वृहस्पति द्वारा ही हुआ है।

स्वर

स्वर पर आलोचना करते हुए स्वर की उत्पत्ति या स्वरूप आदि पर विशद टीका करने का कोई प्रयोजन नहीं है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि स्वर की शुद्ध-विकृत संज्ञा भरतोत्तर काल की देन है। मतंग के परवर्ती काल में स्वर के शुद्ध-विकृत रूप का मान निर्धारित हो चुका था, जिसका विस्तृत उल्लेख शार्ङ्गदेव ने किया है —

'प्राप्नोति विकृतौ भेदौद्वाविति द्वादशः स्मृताः।
ते शुद्धैः सप्तभिः सार्धं भवत्येकोनविंशति॥

स्वरों में जो श्रुति-व्यवस्था या संवाद-तत्त्व प्राप्त हैं, वे षड्ज-ग्राम के अनुरूप हैं और इस ग्रामिक स्वर-सप्तक के विकृत स्वरूपों से भी आज के सभी संगीत-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिन्तक परिचित हैं। अतः हम संवाद में स्वरांतराल, आधार स्वर के रूप में ग्रामिक स्वरावली आदि विषयों पर शार्ङ्गदेव का अपने परवर्ती शास्त्रकारों पर पड़े प्रभाव का अध्ययन करने का प्रयास करते हैं :—

अभिनवगुप्त को संवाद के रूप में नवत्रयोदश स्वरांतराल इष्ट था, यद्यपि उनके समय तक अष्ट-द्वादश अन्तराल भी प्रसिद्धि पा चुका था, किन्तु अभिनवगुप्त ने अन्तिम की खुलकर आलोचना की है और इसे अनुचित सिद्ध करने की चेष्टा की है। शार्ङ्गदेव ने—

श्रुतयो द्वादशाष्टौ वा ययोरंतगोचराः मिथ संवादिनौ स्त ॥

कहकर विषय की समाप्ति की और पुष्टि नहीं की। टीकाकारद्वय ने इसे आगे बल दिया है। कल्लिनाथ ने मण्डल-प्रस्तार तथा वीणा प्रस्तार द्वारा स्वर-संवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार स्वरों की आधार-श्रुति को छोड़ देने से मध्यवर्तिनी अष्ट-द्वादश श्रुतियां ही दिखती हैं, जो परस्पर संवादी हैं। सिंहभूपाल के अनुसार मतंगादि ने स्वर की अवस्थानुश्रुति (जिस श्रुति में स्वर स्थित है) को भी गिना तथा शार्ङ्गदेव ने स्वर की स्वश्रुति को छोड़कर गिना। वैसे, इन दोनों में केवल दृष्टिभंगि का ही अन्तर है। स्पष्ट है कि श्रुतियों के अतिरिक्त स्वरांतराल में भी क्रमशः दृश्य-तत्त्व की ओर शास्त्रकारों का झुकाव बढ़ता रहा। संभवतः सारिकायुक्त वीणा किन्नरी, आलापिनी आदि का प्रभाव रहा, जिसमें दो स्वरों के दो छोर दृश्यमान हैं; अतः स्वर की अपनी श्रुति को स्वरत्व देने के पश्चात् दो स्वरों के मध्य द्वादशाष्ट अंतराल रहने से उसे संवादी स्वर माना गया।

मध्य-युग में अधिकांश ग्रंथकारों ने शार्ङ्गदेव का अनुसरण कर संवाद का आधार द्वादशाष्ट श्रुत्यंतराल ही माना। अहोवल के अनुसरणकर्ता श्रीनिवास (उत्तर का ग्रंथकार) ने आठ और बारह श्रुत्यंतराल पर संवाद अपने पूर्व के ग्रथकारों के नाम लेते हुए माने हैं। द्वादशाष्ट अंतराल के अतिरिक्त कुछ स्वर-युग्म के अंतराल भी श्रीनिवास ने बताए हैं, जिनका उल्लेख करना अतिशयोक्ति न होगी :—

अष्ट	द्वादश
सा—म	सा—प, कोमल रि कोमल ध, शुद्ध ग शुद्ध नि
प—सा	तीव्र ग तीव्र नि, तीव्रतर म कोमल नि
	शुद्ध नि —म

एकादश	त्रयोदश
प—रि	तीव्र नि, तीव्रतर म
कोमल ध, शुद्ध म	
शुद्ध ध, तीव्र ग	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संवाद के इस विचित्र सिद्धांत का आधार श्रीनिवास द्वारा चौबीस श्रुतियों का प्रतिपादन करना रहा होगा। 'स - रि - म - प - ध' को चतुःश्रुतिक तथा 'ग - नि' को द्विश्रुतिक माना है। यद्यपि पहले बाईस श्रुतियों का उल्लेख और उसी के अनुरूप स्वर-व्यवस्था भी बताई गई है। परन्तु यह सर्वविदित है कि आज भी भारतीय संगीत में एक सप्तक में जितने स्वरों का प्रयोग होता है, परीक्षण से पता चलता है कि उसकी श्रुतियों का योग बाईस है।

उपर्युक्त श्रुत्यंतराल में 'प - रि' स्वर-युग्म यथार्थतः संवादी है, किन्तु श्रीनिवास द्वारा वीणा पर षड्जग्रामिक स्वरों का (जो इन पर शार्ङ्गदेव का प्रभाव दिखाता है) अवस्थान मानने से इसे संवादी स्वर नहीं माना गया। षड्जग्रामिक स्वरों का प्रयोग मानते हुए भी श्रीनिवास ने त्रिश्रुतिक 'रि - ध' का उल्लेख संवादी स्वर के रूप में नहीं किया, न ही चतुःश्रुतिक 'रि - ध' का ही उदाहरण दिया। एक ओर तो इन्होंने परंपरा का अनुकरण कर षड्ज-ग्राम को आधार-सप्तक माना, किन्तु संवाद का दर्शन तदनुरूप नहीं करवाया; दूसरी ओर ग्राम का श्रुत्याधार सर्वदा बाईस होते हुए भी चौबीस श्रुतियों का उल्लेख करना परस्पर विरोधी बुद्धि का परिचय देता है। एक और भूल यह थी कि 'प - रि', कोमल 'ध' - शुद्ध 'ग', तीव्र 'नि' - तीव्रतर 'म'— जैसे स्वरों में (प्राकृतिक संवाद है) जो वीणाओं में स्वतः ही मिलते हैं, उन्हें श्रीनिवासादि ने संवाद नहीं माना है। वीणा पर षड्जग्रामिक प्रथम मूर्च्छना को दिखाने के दुराग्रह ने स्वाभाविक संवाद पर ध्यानाकर्षण कम किया, ऐसा ही मानने को बाध्य होना पड़ता है।

लोक में आधार स्वर-सप्तक के रूप में षड्ग्रामिक स्वरावली जीवित न होने का ज्ञान कल्लिनाथ को था, जिसका उल्लेख उन्होंने यथास्थान किया है। किन्तु टीकाकार होने के कारण अपने काल के स्वरांतराल आदि पर कोई चर्चा नहीं की है। रामामात्य तथा उनके परवर्ती सभी मेलवादी ग्रंथकारों पर शार्ङ्गदेव का प्रभाव पड़ा था। शार्ङ्गदेव को उन्होंने यत्र-तत्र उद्धृत किया और कहीं-कहीं पर भरत के नाम पर शार्ङ्गदेव के श्लोकों को ही शब्दशः रख दिया है। इन सभी ग्रंथकारों ने अष्ट-द्वादश श्रुत्यंतराल को ही स्वर-संवाद का आधार माना और तदनुसार स्वरों के स्वयंभूत्व की चर्चा की। यानी सारे स्वर स्वयं ही उत्पन्न हुए, किसी की अपनी बुद्धि की यह उपज नहीं। इस पर कहां तक वे सफल हुए, यह 'स्वरमेलकलानिधि', 'रागविबोध' आदि ग्रंथों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

शार्ङ्गदेव के परवर्ती ग्रंथकारों को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के ग्रंथकार वे हैं, जिन्होंने प्रायशः लक्ष्य में प्रचलित स्वरों के विषय में मौन होकर गांधर्व स्वरों का पुनर्लक्षण-मात्र किया है, किन्तु देशी किन्नरी या आलापिनी में स्वर-व्यवस्था को स्पष्ट नहीं किया है। जिन्होंने किया है, वह अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकार यानी मतंग-शार्ङ्गदेव की प्रतिध्वनि है; जैसे कुंभकर्ण के ग्रंथ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'संगीतराज', 'संगीत-दर्पण' में चतुर दामोदर ने शार्ङ्गदेव का अनुकरण कर ग्रह, अंश तथा मूर्च्छना के आधार पर रागों का वर्णन किया है, परंतु वीणा पर स्वर-निरूपण नहीं किया। साथ ही यह भी स्पष्ट नहीं किया कि स्थायी अथवा ग्रह-स्वर 'षड्ज' है या नहीं। वैसे, शार्ङ्गदेव ने भी अपने समय के संगीत पर विशेष प्रकाश नहीं डाला। जो आज तक इसी भ्रम में है कि शार्ङ्गदेव के समय तक भरत-परंपरा का निर्वाह होता था, उन्हें यह बता देना उचित होगा कि भरत-परंपरा मतंग के समय अच्छी तरह टूट चुकी थी, जबकि देशी राग, देशी वाद्य का आविष्कार और सिद्धांत, दोनों ही भली भांति दृढ़ हो चुके थे। शार्ङ्गदेव ने अपने समय तक प्राप्त समस्त ग्रंथों का गहन अध्ययन कर उनका निचोड़ 'संगीत-रत्नाकर' में रखा है। देशी-किन्नरी, आलापिनी के स्वरों का विश्लेषणात्मक अध्ययन कर ही उपर्युक्त विचार प्रस्तुत किए गए हैं।

द्वितीय वर्ग (उत्तर) के ग्रंथकारों ने शार्ङ्गदेव के स्वर-लक्षण के अनुसार वीणा पर स्वर स्थापित करने की चेष्टा तक नहीं की और उन्हें वैसा खास आग्रह ही था। एक सप्तक में सात शुद्ध और पांच विकृत स्वरों को इन्होंने मान्यता दी और षड्ज-पंचम के अतिरिक्त अन्य पांच-विकृत स्वरों में विकार माना। उत्तर तथा तथा दक्षिण, दोनों स्थानों में यह मान्यता थी कि स्वरों में षड्ज-पंचम-भाव होने से व्यवहार में केवल षड्ज-ग्राम ही जीवित है। संभवतः इसी कारण उत्तर के ग्रंथकारों ने त्रिश्रुतिक पंचम को महत्त्व नहीं दिया, जो दक्षिण के ग्रंथकारों के लिए एक विवाद का विषय रहा।

वीणा पर ऋषभ तथा धैवत के बीच एक-एक अन्य स्वर की स्थिति ने ही उत्तर और दक्षिण के शास्त्रकारों में असामंजस्य पैदा कर दिया। दक्षिण के ग्रंथकार शार्ङ्गदेव की उन स्वर-संज्ञाओं को वीणा पर स्थापित करना चाहते थे, जिनका शार्ङ्गदेव ने गांधर्व के अंतर्गत वर्णन किया है (उदाहरणतः प्रबंधाध्याय में मार्ग पर कहे श्लोक)। ऋषभ-धैवत की विकृति गांधर्व स्वरों में न होने के कारण तथा शार्ङ्गदेव द्वारा इनका उल्लेख न होने से जितने छोटे अंतराल के स्वर थे, तृतीय वर्ग (दक्षिण) के ग्रंथकारों ने उन्हें षड्जग्रामिक स्वर माना। इन्होंने यह देखने की चेष्टा संभवतः नहीं की कि उन स्वरों में यथार्थतः ग्रामिक संवाद प्राप्त है भी या नहीं। ऋषभ के पश्चात् गांधार और गांधार तथा मध्यम के बीच दो स्वरों को साधारण-गांधार और दूसरा जो प्रकृत रूप से अंतरगांधार था (लक्ष्य में भी इसी नाम का प्रचलन था), उसे मध्यम का 'च्युत' रूप माना। क्योंकि ग्रंथ में कैशिक स्वर-साधारण के अंतर्गत 'साधारण ग' और 'च्युत म' की विकृति बताई गई है। यही मान्यता काकलीनिषाद और विकृत मध्यम के स्थान पर क्रमशः च्युत षड्ज और च्युत पंचम को मिली।

'संगीत-रत्नाकर' के दोनों टीकाकारों के समय तक मेल या ठाठ पद्धति का विकास हो चुका था, किन्तु 'संगीत रत्नाकर' की टीका करना मुख्य उद्देश्य होने से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उन्होंने अपने समय के प्रचलित संगीत पर विशेष आलोकपात नहीं किया, किन्तु सिंहभूपाल इस पर बिलकुल मौन हैं। 'संगीत-रत्नाकर' के रागाध्याय में देशी रागों की टीका करते हुए कल्लिनाथ ने अपने समय में प्रचलित स्वरों के प्रति इंगित किया है और परिवर्तित स्वर-रूप पर यही सर्वप्रथम लिखित प्रमाण प्राप्त होते हैं, क्योंकि विद्यारण्य का संगीत आज प्राप्त नहीं है।

कल्लिनाथ के पश्चात् रामामात्य का 'स्वरमेलकलानिधि' प्रथम संगीत-ग्रंथ है, जो मध्ययुगीय क्रियापक्ष की स्पष्ट जानकारी देता है। दक्षिण के लगभग सभी ग्रंथकारों ने शार्ङ्गदेव को प्रमाण मानकर द्विग्रामिक स्वरों को पूर्णतः अथवा अंशतः एक ही वीणा पर स्थापित करने का प्रयास किया। लक्ष्य में प्रचलित स्वरसंज्ञा की परवाह न कर इन्होंने 'संगीतरत्नाकर' में दिए स्वर-लक्षण को अधिक महत्त्व प्रदान किया, भले ही वे स्वर-संज्ञाएं वीणा के परदों पर 'फिट' न होती हों। दक्षिण के इन ग्रंथकारों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में रामामात्य, पुंडरीक विट्ठल, श्रीकंठ, सोमनाथ, तुलजाजी आदि तथा द्वितीय श्रेणी में वेंकटमखी तथा उनके परवर्ती सभी ग्रंथकार (आधुनिक तक) आते हैं। उपर्युक्त दोनों श्रेणियों में अंतर यह है कि प्रथम वर्ग ने लक्ष्य को संपूर्णतः अस्वीकार न करते हुए लक्ष्य का प्रतिपादन भी पूर्व-ग्रंथों (मुख्यतः 'संगीत-रत्नाकर') से सामंजस्य रखने के आग्रह से लक्ष्य-लक्षण इन दोनों रूपों का एकीकरण किया। रामामात्य को यह ज्ञात था कि लक्ष्य में अंतर-काकली गांधार-निषाद को उसी नाम से जाना जाता है और पंचम की जिस विकृति को वे स्वीकार करते हैं, लक्ष्य में वह मध्यम का विकारमात्र है, फिर भी उन्होंने लक्षण को ही स्वीकार किया। इसके पीछे शार्ङ्गदेव का अत्यधिक प्रभाव काम करता रहा। यानी अपने समय में प्रचलित स्वरों का आधार पूर्व-ग्रंथों में देखने और उन्हीं की सहायता से सिद्ध करने की चेष्टा ने ही ऐसा करने में इन ग्रंथकारों को बाध्य किया। जो आजकल यह कहते हैं कि गान्धर्व स्वरों को अपने संगीत में दिखाने की उनकी जबरन चेष्टा थी, वे उन ग्रंथकारों के श्लोकों को भूल जाते हैं, जहाँ उन्होंने ग्रंथ-रचना करते समय सबसे पहले यह स्वीकार किया है कि मार्ग (अथवा गांधर्व) का प्रयोग लोक में नहीं होता है और सर्वत्र देशी संगीत का ही प्रचार है। चूंकि देशी स्वरों का जन्म भी संवाद के आधार पर हुआ और मुख्य तार 'षड्ज' में मिलने से षड्ज-पंचम-भाव एक सप्तक में मिल ही जाता है, इसलिए उन्होंने लोक में षड्ज-ग्राम का प्रचार माना। साथ ही यह ध्यान रहे कि लक्ष्यज्ञों ने स्वरों के बदलते रूप को ग्रहण करते समय उनकी संज्ञा भी वैसी ही स्वीकार की, किंतु यह लक्षणकर्ताओं की भूल थी कि उन्होंने उचित स्वर-संज्ञा को भी भूलने की चेष्टा की, यद्यपि वे इसमें पूर्णतः सफल नहीं हुए। एक स्वर के दो रूपों की दो संज्ञाएं दक्षिण के लक्ष्यज्ञ भी प्रयोग में लाते थे, अतः रामामात्य ने जिसे शुद्ध 'ग' कहा है, वह उनका चतुःश्रुतिक 'रि' होते हुए भी मुखारी में उसे ही 'ग' कहा जाता था। सारी गड़बड़ मुखारी या कनकांगी को शुद्ध मेल मानने से शुरू हो गई। उत्तर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के लक्ष्यकारों के समान दक्षिण के लक्ष्यकार भी 'सा-प' को शुद्ध मानते थे और उन्होंने अन्य सभी स्वरों की अलग-अलग संज्ञाएं दी थीं। 'सा-प' के अतिरिक्त अन्य स्वरों को जैसे उतर के लक्ष्यज्ञ 'चढ़ी-उतरी' के नाम से जानते थे, दक्षिण के लक्ष्यज्ञ भी उसी तरह 'चिन्न-पेरिया' के नाम से पुकारते थे, जिसका अर्थ होता है, क्रमशः 'छोटा-वड़ा'। अशिक्षित लक्ष्यज्ञ के प्रति हावी होने का फल यही है कि मध्ययुग से आज तक स्वर के प्रकृत रूप और श्रुति को लेकर झगड़ा चल रहा है। मध्ययुगीय उत्तर के ग्रंथकार आज के काफी के स्वरों को शुद्ध मानते थे, क्योंकि वह षड्ज-ग्राम के आस-पास है, पर आधुनिक उत्तर के ग्रंथकारों ने जो पाश्चात्य संगीत से प्रभावित थे, विलावल को शुद्ध स्वर-सप्तक माना और फल यह हुआ कि संगीतज्ञ भी धीरे-धीरे इसे ही शुद्ध मानने लगे। दक्षिण के ग्रंथकारों ने भी लक्ष्यकारों पर ऐसा ही प्रभाव डाला और वे मुखारी या कनकांगी को शुद्ध सप्तक मानने लगे; हालांकि वे माया मालवगौल (भैरव) के स्वरों से शिष्यों का शिक्षण प्रारंभ करते हैं, जो वैज्ञानिक भी है। कोई भी प्रारंभिक शिक्षार्थी मुखारी के स्वर एक बार में नहीं गा सकता; जैसे उत्तर में बिलावल का शिक्षण प्रारंभ में देने की प्रथा भातखंडे आदि के प्रचार के फलस्वरूप प्रारंभ हुई, किंतु शिक्षा देनेवाले खुद जानते हैं कि बिलावल कोई सरल राग नहीं है और आजकल तो इसका गान-वादन भी कम ही होता दिखलाई देता है। परंपरावादी शिक्षक यमन अथवा भैरव से ही शिक्षण प्रारंभ करते हैं।

दक्षिण के ग्रंथकारों ने स्वर- संज्ञा भी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार ही दी है। रामामात्य ने लक्ष्य-लक्षण का सामंजस्य करने के लिए ही च्युतषड्जनिषाद, च्युतपंचममध्यम और च्युतमध्यमगांधार की संज्ञाओं को जन्म दिया। अंतरगांधार और काकलीनिषाद को उपर्युक्त स्वरों का विकल्प जानते हुए भी इन स्वरों के अलग ठाठ का निर्देश रामामात्य ने दिया है, क्योंकि 'संगीत-रत्नाकर' में उपर्युक्त दोनों स्वरों का स्वरूप अलग-अलग बताया गया है। बाद में वेंकटमखी ने इस पर खूब परिहास किया है। रामामात्य के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रंथकार ने इन स्वरों के पृथक् मेल नहीं बताए हैं, किंतु सोमनाथ ने अंतर-काकली स्वरों को कर्षण (मीड़) द्वारा निकालने का सुझाव दिया है, जिससे प्रमाणित होता है कि वे भी इन स्वरों में पृथकता मानते थे। इन्हीं अंतर-काकली स्वरों को पुंडरीक ने 'लघु', श्रीकंठ ने 'पूर्व' और 'पत' सोमनाथ ने 'मृदु' तथा रघुनाथ ने 'च्युत' कहा है।

वेंकटमखी ने सर्वप्रथम लक्ष्य का अनुसरण कर अंतरगांधार, काकलीनिषाद और वरालीमध्यम संज्ञाओं का प्रयोग किया है, किंतु 'संगीत-रत्नाकर' में च्युतमध्यम आदि स्वरों के जो श्रुति-स्थान दिखलाए गए हैं, इन्होंने भी वैसा ही श्रुति-स्थान बताया है।

रामामात्य, सोमनाथ आदि ने स्वरादि विषयों पर प्रतिपादित किए गए अपने मतों की पुष्टि शार्ङ्गदेव के श्लोकों द्वारा ही की है। रामामात्य यह दावा करता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि लक्ष्य को देखकर ही उसने लक्षण-ग्रंथ रचा है। शार्ङ्गदेव ने भी 'वाद्याध्याय' में यह कहकर लक्ष्य की प्रधानता मानी है कि शास्त्र में जो भी वर्णन है, अगर लक्ष्य में उसकी विरुद्धता दिखती है, तो लक्ष्य का प्रधानत्व होने के कारण शास्त्र को ही अन्यथा बना लेना चाहिए, यानी शास्त्र को बदल लेना चाहिए। सोमनाथ का भी यही कथन है। इसीलिए शार्ङ्गदेव का अनेक स्थलों पर अनुकरण करते हुए भी इन्होंने 'षड्ज' को ही आधार स्वर माना, जिसे शार्ङ्गदेव ने चतुरता से अनुल्लिखित रखा है। उपर्युक्त ग्रंथकारों के समय तक ग्रहांश-नियम, स्वरगुंफ व स्वरांतर का लक्ष्य-लक्षण में विरोध हो गया था और इसे भी वे स्वीकार करने लगे थे। किंतु षडजग्रामिक स्वरों का प्रचलन मानते हुए भी विकृत मध्यम को इन्होंने मध्यमग्रामिक यानी त्रिश्रुतिक पंचम का रूप माना, क्योंकि शार्ङ्गदेव ने कहीं मध्यम का विकार नहीं माना। इसीलिए चतुःश्रुतिक 'रि-ध' को 'ग-नि' माना गया। रामामात्य का हीं परवर्ती ग्रंथकारों ने अनुसरण किया है। परंतु कल्लिनाथ को मध्यम के इस विकृत रूप का ज्ञान भली-भांति था, साथ ही उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ग्रामद्वय का भेदक पंचम अलोपी होने से लक्ष्य में केवल चतुःश्रुतिक पंचम का ही प्रयोग होता है। दोनों ग्रामों के रागों का आरंभिक स्वर 'षड्ज' होने से ग्रहादि स्वर से आगे-आगे (उत्तरोत्तर) के स्वर-साधारण का अभाव होता है। प्रश्न यह है कि 'षड्ज' ग्रह स्वर होने से स्वर-साधारण का अभाव होने का अर्थ क्या द्वादश स्वर-स्थान की ओर संकेत नहीं करता? कल्लिनाथ की संपूर्ण टीका का गंभीर अध्ययन इसी प्रश्न का उत्तर भी देता है। टीकाकार होते हुए भी समसामयिक संगीत पर कल्लिनाथ ने जिन महत्त्वपूर्ण विषयों को स्पष्ट किया है, उनके उत्तरपूर्वी अन्य दक्षिण के ग्रंथकार संपूर्ण रूप से संस्कारमुक्त न हो पाए और पुनः भूलें कीं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शार्ङ्गदेव के परवर्ती ग्रंथकारों में शार्ङ्गदेव का प्रभाव काफी रहा, उत्तर-ग्रंथकारों पर यद्यपि उतना अधिक प्रभाव नहीं रहा, जितना दक्षिण के ग्रंथकारों पर था कारण स्पष्ट है कि वे स्वयं भी दक्षिण में बस गए थे तथा उत्तर में संगीत-ग्रंथ-रचना की पद्धति मध्ययुग में उतनी नहीं थी, जितनी दक्षिण में थी। उत्तर में संगीत का व्यवसाय करने वाले भी उच्च वर्ग में निंदनीय थे जबकि दक्षिण में संगीत आनंद का एक साधन रहा, फिर भी उत्तर में संगीत को राज्याश्रय मिलने से जितनी शैलियों और वाद्यों का जन्म हुआ, दक्षिण में वैसा नहीं हुआ। संगीत में ग्रंथ लिखने के स्थान पर गीत-रचना करना यहां अधिक महत्त्वपूर्ण और श्रेयस्कर माना जाता था। भरत-शार्ङ्गदेव को पढ़ने और समझने की रुचि उनमें न थी, हाँ, श्रद्धा अवश्य थी। उत्तर में भरत-शार्ङ्गदेव को पढ़ने-समझने और समझाने का प्रयास आधुनिक ग्रंथकारों ने किया और उस पर अनुसंधान कर काफी ग्रंथियाँ सुलझाई गई हैं। इसी का परिणाम है कि गांधर्व और देशी स्वरों तथा श्रुतियों के स्वरूप आदि विषयों पर खुलकर बात करना कठिन नहीं रह गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संदर्भ ग्रन्थ

1. नाट्यशास्त्र—अध्याय 28, 29 अभिनवभारती सहित।
2. संगीत-रत्नाकर—अध्याय 1, 4, 6 टीकाओं सहित।
3. स्वरमेल कलानिधि।
4. रागविबोध।
5. संगीत पारिजात।
6. रागतत्त्वविबोध।
7. संगीत सुधा।
8. चतुर्दण्डी प्रकाशिका।
9. संग्रह चूड़ामणि के सम्पादक ने भूमिका (पृ० 19-20) में ऐसी चर्चा बिना संदर्भ दिये की है कि वेंकटमखी ने 'राग शुण्ड क्रिया' के एक गीत में चौबीस श्रुतियों का उल्लेख किया है, परन्तु चतुर्दण्डी प्रकाशिका के प्राप्त संस्करण में ऐसा गीत नहीं मिलता।
10. संगीत सारामृत।
11. संगीत नारायण।
12. 22 Shrutis of Indian Music.
13. भातखंडे संगीत शास्त्र।
14. Universal History of Music.
15. Hindu Music.
16. प्रणव भारती, संगीताञ्जलि, नादारण्य।
17. भरत का संगीत सिद्धान्त, संगीत चिन्तामणि।
18 ध्वनि और संगीत।
19. भारतीय संगीत का इतिहास।
20. Psychoaccoustics of Music & Speech.
22. भारतीय संगीत वाद्य, श्रुति वीणा।
22. संगीत राज।
23. संगीत दर्पण।
24. सद्रागचन्द्रोदय, रागमाला, रागमंजरी।
25. रसकौमुदी।
26. स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

12

थाट सिद्धान्त

थाट अथवा ठाठ शब्द का अर्थ ठठरी या ढांचा है। उत्तर भारत में वीणा के स्वरों को विभिन्न प्रकार के रागों में मिलाने को ठाठ मिलाना कहा जाता है तथा इस शब्द का प्रयोग 'भाषा' या 'बोली' में होने का प्रमाण मिलता है। 'ठाठ' शब्द का उपयोग विशिष्ट रूप से तन्त्रीवादकों के लिए है। वादक 'ठाठ' को राग-विशिष्ट के स्वर-प्राप्ति का साधन मानते हैं, राग-उत्पत्ति का साधन नहीं। मध्ययुग में सामान्य रूप से शास्त्रकारों के द्वारा मेल शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। पर्याय शब्द के रूप में उत्तर भारत में संस्थान का भी इसी अर्थ में उपयोग किया गया है। सोमनाथ ने इन तीनों शब्दों का उल्लेख किया है—

मिलन्ति वर्गीभवन्ति रागा यत्रेति तदाश्रयः स्वरसंस्थानविशेषा मेलाः, थाट इति भाषायाम्।'

एक स्थान के अन्तर्गत जिन 12 स्वरों की प्राप्ति वीणा के पर्दों पर की जाती थी उसे 'अचल थाट की वीणा' तथा जिन वीणाओं के पर्दे या सारिकाओं को ऊपर-नीचे कर इच्छित स्वरों की प्राप्ति की जाती थी, उसे चल थाट की वीणा' कहा गया है। दक्षिण भारत में इसे क्रमशः 'सर्वराग मेल वीणा' या 'अखिल राग मेल वीणा' तथा 'एकरागमेलवीणा' कहा गया है। सोमनाथ के शब्दों में,

यत्र पूर्वमेव स्थापिताखिलसारी-कत्वात्सारी चालनं विना सर्वरागोत्पत्तिः साखिलरागमेलेत्यर्थः। वज्रथाट इति भाषायाम्।'

मूर्च्छना-मुकाम-थाट (मेल)

मूर्च्छना का प्रयोजन 'स्वर मिलाना' है। अर्थात् एक मूर्च्छना-प्राप्त स्वर से अगर दूसरी मूर्च्छना के स्वरों को प्राप्त करना है तो उसका अंश-स्वर ही मूर्च्छना का आदिम या आरम्भिक स्वर होगा। इस प्रकार नित्य नवीन स्थान की प्राप्ति की जा सकती है। हम जानते हैं कि ग्राम-मूर्च्छना पद्धति में 'षड़ज' ही सर्वदा आधार-स्वर नहीं होता था, जैसा देशी पद्धति में होता है। भिन्न-भिन्न जाति या ग्रामराग के स्वरों की प्राप्ति उन जाति या ग्रामराग के अंश-स्वर का 'आधार-स्वर' (Tonic note) मानकर ही की जाती थी। मूर्च्छना भी अंश-स्वर के आधार पर की जाती थी। जैसे—आज भी लोक-संगीत में किसी एक ही स्वर को आधार मानकर नहीं गाया जाता बल्कि अपने कण्ठ की सीमा को जानते हुये किसी भी स्वर को मूल स्वर या tonic मान लिया जाता है। इसका थोड़ा आभास मात्र पाश्चात्य संगीत के बदलते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मूल स्वर (Keynote or tonic) पर गायन-वादन की प्रथा में मिलता है। अतः यह मानना अहैतुक नहीं होगा कि आज के लोक-संगीत में जिस शैली का आभास मिलता है, उसका परिष्कृत रूप भरत-परम्परा की मूर्च्छना-पद्धति में रहा है। परवर्ती काल में यह परम्परा क्रमश क्षीणत्व को प्राप्त हुयी परन्तु लोक-जीवन में यह पद्धति आज भी सूत्र रूप में जीवित है।

मूलरूप से मूर्च्छना का उद्देश्य स्थान-प्राप्ति था, मेल या थाट का उद्देश्य भी यही रहा। इसके विपरीत मेल या थाट को मुकाम से सम्बन्धित करने वाले आधुनिक विद्वान् यह मानते हैं कि मेलराग-वर्गीकरण फारसी मुकाम पद्धति की देन है। परन्तु गहन अध्ययन के पश्चात् इसका विपरीत निष्कर्ष मिला है, जिसे स्पष्ट करना इस लेख का मुख्य उद्देश्य है।

सप्तक तथा अष्टक

भारतवर्ष की मौलिक विचारधारा चाक्रिक प्रक्रिया (Cyclic theory) जैसी है। अर्थात् यहां के विचार में सृष्टि का सम्पूर्ण विनाश नहीं होता; चक्र के समान सृजन व प्रलय होता रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि में कोई नवीनता नहीं है। इसके विपरीत यूनान या भारतेतर पश्चिम देश का सिद्धान्त एक सीधी सरल रेखा की गति (Line theory) के रूप में है अर्थात् सृष्टि एक रेखा के रूप में है। एक सिरे से आरम्भ होकर दूसरे सिरे में सम्पूर्ण सृष्टि का विलय हो जाता है। उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों का प्रभाव अपने-अपने देश के संगीत पर भी पड़ा। यही कारण है कि भारतीय संगीत में एक सप्तक के पश्चात् उन्हीं स्वरों की पुनरावृत्ति मात्र अन्य सप्तक में मानी गयी और इसके विपरीत यूरोपीय संगीत में एक सिरे में एक स्वर तथा उसी का द्विगुण स्वर अन्य सिरे में रखकर रेखा के रूप में अष्टक स्वरों के आधार पर सिद्धान्त की स्थापना की गयी, जिसके फलस्वरूप स रे ग म का उत्तर प ध नि स में खोजा गया। मेल या थाट-पद्धति के अनुसरणकर्त्ताओं में से 18-19वीं शताब्दी के दो ग्रंथकारों ने अष्टक तथा 24 श्रुति-सिद्धान्त का उल्लेख किया है। अन्य सभी भारतीय ग्रन्थकारों ने सप्तक-सिद्धान्त तथा 22 श्रुति-सिद्धान्त को ही प्रमाणित किया है।

प्राप्त प्रमाणानुसार नान्यदेव ने सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख किया है कि मूर्च्छना का जो आरम्भिक स्वर है, वही उसका अन्तिम स्वर है :—'तत्र येनैव स्वरेण तूच्छ्रायो गीतानामुद्ग्राहः प्रवर्त्तते, तेनैव स्वरेण यदाऽपोह समाप्तिरेपि भवति, तदा 'सरिगम पधनिस' इति स्वरसन्निवेशेसति। ·····एता षड़जग्रामिकाः सप्त मूर्च्छना जायते ॥ ·· यत्राप्युद्ग्राह-समाप्तौ-मध्यम-स्वर योगान्मपधनिसरिगमेति स्वर सन्निवेशे।

अभिनवगुप्त ने भी स्वर-निर्देश देते समय सप्तक की उपयोगिता का उल्लेख करते हुए प्रयोगात्मक स्वरूप को दिखाते समय 'सरिगमा' और 'पधनिसा' का उल्लेख किया है—'प्रकृतिभूतपूर्वरूपस्पर्शश्चत्वारः सरिगमाः, तथैव स्थाने ऊर्ध्वस्पर्शे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पधनिसा:, केवलं षड्जेन द्वितीयं स्थानं स्पृश्यन्ते एव।'

भरत ने मूर्च्छना-निर्देश देते समय सात स्वरों की व्याप्ति आधार-रूप में मानी है, किन्तु अलंकार प्रकरण में 'मन्द्रतार प्रसन्न आदि अलंकारों में आठ स्वरों का प्रस्तार होना चाहिये', ऐसा उल्लेख भी किया है। मतंग तथा शार्ङ्गदेव ने इन्हें सोदाहरण प्रस्तुत किया है।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि औपपत्तिक पुष्टि के लिए सप्तक सिद्धान्त उपयुक्त है किन्तु रागाभिव्यक्ति या क्रिया-पक्ष के लिए अष्टक सिद्धान्त, क्योंकि क्रिया-पक्ष में जब तक षड्ज या ग्रह-स्वर के दुगुने स्वर तक पहुंचा न जाये, तब तक क्रिया में सम्पूर्णता नहीं आती। सिद्धान्त के मध्यम को तुलादण्ड मानकर दो त्रिकों की स्थापना की गई जो परस्पर संवादी हैं, किन्तु क्रिया-पक्ष में अष्टक स्वर प्रबल रहा है।

मूर्च्छना

भरत ने शुद्धा जाति के लिये दो ग्रामों की अलग-अलग मूर्च्छनाओं का निर्देश किया है। उन मूर्च्छना-विशेष का आरम्भिक स्वर ही ग्रह-अंश-न्यास बनता है। भरतोत्तर काल में जाति तथा ग्रामराग की मूर्च्छनाओं का उल्लेख किया गया है। मतंग ने अपने गुरू आचार्य नन्दिकेश्वर का अनुसरणकर द्वादश मूर्च्छना का प्रतिपादन किया है। यह पूर्णतः सारिकायुक्त वीणाओं को मिलाने के लिए प्रयुज्य था। मतंगोत्तर काल में यह सिद्धान्त मान्य न हुआ तथा सप्त स्वर मूर्च्छना का ही प्रचलन रहा।

देशी राग-वर्गीकरण रागांगादि के आधार पर किये जाने के बावजूद कहीं-कहीं मूर्च्छना का उल्लेख रागों के साथ किया जाता था उदाहरणतः श्रीराग की मूर्च्छना षाड्जी मानी गयी। परवर्ती काल में मध्ययुग के ग्रंथकारों ने भी श्रीराग का ग्रहांशन्यास 'षड्ज' माना, जबकि इस समय मूर्च्छना के स्थान पर मेल या थाट-पद्धति का विकास हुआ।

जाति व ग्राम-रागों से हटकर देशी रागों का विकास हुआ। इसका उल्लेख मतंग ने नन्दिकेश्वर के ग्रन्थों से अवश्य किया होगा। किन्तु नन्दिकेश्वर का ग्रंथ तथा बृहद्देशी का देशी अंश अप्राप्य होने से हमें परवर्ती ग्रंथकारों के उद्धरणों पर अभी तक निर्भर करना पड़ रहा है। अभिनवगुप्त ने भी परिवर्तन की ओर संकेत दिया है—'गान्धर्वशास्त्रं (स्त्रे) ईषद्समाप्ते गान्धर्वे ग्रामरागरूप इति वानेन भाषादेशी-मार्गादिषु मध्यमस्यापि विनाशित्वमभ्युपगत भवति। जातिलक्षणे वक्ष्यमाणे मध्यमस्य लोपो न क्वचिद् वक्ष्यते। तन्मध्यमस्य नाशो न कर्त्तव्य इति।'

'संगीत-रत्नाकर' की टीका करते हुए कल्लिनाथ ने ग्राम-मूर्च्छना के नियमों में परिवर्तन ग्राम-संश्लेष, स्वर-श्रुति सिद्धान्त तथा लक्ष्य-लक्षण में परिवर्तन की ओर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संकेत किया है। उनमें से मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(अ) स्वर-श्रुति सिद्धान्त

1. दो ग्रंथों का संश्लेष होता रहा है।

2. ग्रामों का संश्लेष बहुलता से होने से भरतोक्त मूर्च्छना नियम में शिथिलता आ गयी।

3. मूर्च्छना-नियम के जो दो प्रकार शार्ङ्गदेव ने बताये हैं, उनमें से प्रथम प्रकार गान्धर्व के लिए है तथा 'परे विदुः' कहकर जो मूर्च्छना-स्थापन का दूसरा नियम बताया है, वह देशी या गान के लिए है।

इस विषय पर मैंने अपने शोध-ग्रंथ पर विस्तार से विवेचन किया है।

(ब) देशी सिद्धान्त

1. देशीति। देश शब्देन तत्रत्या जनाः लक्ष्यन्ते, तैर्यथेच्छं क्रियमाणायां गीतादि क्रियायामाचार्य कृता संज्ञा।

2. देशीत्वादेतेषामनियमो न दोषायेति।

3. एतेषु देशीरागेषु यत्र तारमन्द्रयोरुभयोरेकस्य वावधिर्नोच्यते, तत्र कामचारो द्रष्टव्य।

4. तथा चाह आंजनेय—

येषां श्रुतिस्वरग्राम जात्यादिनियमो न हि।
नानादेशगतिच्छाया देशी रागास्तु ते स्मृता।।

5. एवं वाद्यनृत्ययोरपि कामचार प्रवर्तितयोर्देशीत्वमवगन्तव्यम्।

(स) लक्ष्य-लक्षण सिद्धान्त

1. विरोध की उद्भावना में रागादि ग्रामद्वय से जाति की परम्परा से (भाषादि से रागांगादि) उत्पन्न हुए हैं और ऐसे राग मध्यम (स्थान) में स्थित 'षड्ज' या मध्यम स्थान की उन-उन मूर्च्छनाओं से आरम्भ होने के आश्रय की अपेक्षा रखते हैं और यही शास्त्रविहित है। फिर भी मध्यम ग्राम से उत्पन्न मध्यमादि-तोड़ी प्रभृति रागों का मध्य-मध्यम से आरम्भ होने का नियम छोड़कर मध्य षड्ज स्थान से आरंभ होने का नियम लक्षित होता है। उल्लेखनीय है कि यह नियम अकस्मात् एक दिन में ही प्रतिपादित नहीं हुआ, बल्कि कल्लिनाथ को परम्परा से ही इसके व्यवहार का पता था। इससे स्पष्ट है कि देशी पद्धति में आधार-स्वर के रूप में षड्ज स्वर के प्रयोग की महत्ता बढ़ी और ग्राम-मूर्च्छना पद्धति से हटकर मेल के उद्भव का मूल-कारण यही है। इस पर हम आगे और विचार करेंगे।

2. लक्षण के विरोध में ग्रह-स्वर से आगे (उत्तरोत्तर) के स्वर-साधारण का अभाव हो गया है। देशी पद्धति में ग्रह-अंश या आरम्भिक स्वर 'षड्ज' होने से ग्रह-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वर का अर्थ भी बदल चुका था। ग्रह-स्वर 'षड्ज' होने से जातिगत स्वर-साधारण के स्थान पर क्या द्वादश स्वर-स्थान का व्यवहार होने की ओर यहाँ संकेत नहीं मिलता ?

3. पंचम के त्रिचतुःश्रुतिकत्व होने से वह ग्रामद्वय का भेदक रहा, किन्तु पंचम के अलोपी होने से प्रयोग में सभी रागों में एकरूपता दिखती है।

4. क्रियांग राग राग-क्रिया में पंचम की दो श्रुति का आक्रमण मध्यम करता है। स्पष्ट है कि कल्लिनाथ विकृत-मध्यम (तीव्र या वराली) की ओर ध्यानाकर्षण करना चाहते हैं।

5. नट्ट-देवकी प्रकृति रागों में ऋषभ-धैवत्, अन्तर (गान्धार)-काकली (निषाद) स्वर की दो-दो श्रुतियों को ग्रहण कर पंचश्रुतिक हो जाता है, जो शास्त्र विवक्षित है। अर्थात् दो गान्धार का प्रयोग स्वीकृत है।

6. श्रीराग में गान्धार-निषाद के द्वारा मध्यम-षड्ज की प्रथम श्रुति को ग्रहण करने से गान्धार-निषाद की त्रिश्रुतिकत्व शास्त्र में विहित होने पर भी षड्ज-मध्यम का त्रिश्रुतित्वकरण अशास्त्रविहित है जिससे आधी क्रिया दिखती है। देशी-रागों में इस प्रकार षड्ज मध्यम का त्रिश्रुतिकत्व अशास्त्रीय नहीं है।

देशी रागों में कामचारप्रवर्तितत्व का अर्थ उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट होता है। 'कामचार' का अर्थ 'यथेच्छाचार' नहीं है।

7. षाडव-औडुव रागों में कभी-कभी लोप्य स्वरों का प्रयोग भी हो जाता है।

8. जन्य-जनक मेलन-भेद से रसादि के विनियोग के नियम में लक्ष्य-लक्षण में अनेक समय विरोध आ जाता है। जन्य-जनक निश्चित रूप से 'मेल' या 'थाट' की ओर संकेत करता है।

मुकाम

13वीं शताब्दी के पश्चात् उल्लिखित राग-वर्गीकरण पद्धति मेल या थाट को आधुनिक काल के कुछ विद्वान् फारसी या अरबी 'मुकाम' के साथ जोड़ने की चेष्टा करते हैं तथा इसका खूब प्रचार भी किया गया है। परन्तु विद्वानों से विचार-विमर्श करने एवं इस विषय पर लिखे गए ग्रंथों का गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात् जो निष्कर्ष सामने आया है, वह किसी भी प्रकार से यह सिद्ध नहीं करता कि मुकाम मेल-राग वर्गीकरण का आधारभूत तत्व है।

यह इतिहास प्रामाण्य सत्य है कि ईसा पूर्व 420-38 में सासानियन काल में कई हजार भारतीय संगीतज्ञ ईरान के बादशाह की इच्छा से वहां जाकर बस गये थे। ईरानी संगीत में प्रारम्भ में 7 मुकम्मात् को आधार रूप में माना गया; जिसे तुरुक मुल्किया नाम दिया गया। क्रमशः 30 मुकम्मात् की ईजाद हुई जो अनुमान है कि सप्ताह और माह की कल्पना से बने। उसी तरह, जैसे उनकी वीणा ऊद से चार तारों को चार ऋतु से और बाद में 12 मुकम्मात् को 12 महीने से जोड़ा गया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इब्न सिना (1037 ई०) तथा इब्न जैला (1045 ई०) ने भी 12 मुकम्मातों का उल्लेख किया है। अरबों ने क्रमशः 13वीं शताब्दी में इन 12 मुकम्मातों को अपने संगीत में अपनाया, जिसका एकवचन मुकाम है। इनमें से दो भिन्न मुकामों के लिए दो-दो स्वर-समूहों से 'आवाजात्' या 'आवारः' का जन्म होता है और इस तरह 12 मुकामों के 6 आवारः हैं। 12 मुकामों के 24 खण्ड शोबः हैं और प्रत्येक शोबः दो खण्डों को जन्म देकर 48 गोशः या शुदाद बनाती हैं।

मध्य प्राच्य के संगीत में स्वरग्राम (scale) का इतिहास पूर्णतः स्पष्ट है। इस्लामी संगीत में अष्टक स्वरों का विभाजन कई शताब्दियों तक कभी 25, कभी 17 तो कभी 15 स्वरों के रूप में होता रहा है। अतः स्वरग्राम के नाम में भी स्पष्टता नहीं मिलती। अलग-अलग देशों में एक ही स्वरग्राम में कई प्रकार की स्वर-समष्टियों का योग भी देखने को मिलता है। स्वरग्राम का प्राचीन नाम तबक्वा था और बाद में सुल्लम कहा गया। 14वीं शताब्दी में मध्य प्राच्य ने पाइथागोरस के स्वरग्राम को ग्रहण किया, फलतः मुकम्मात्, आवारः और शोबः के स्वर तथा स्वरूप में परिवर्तन आ गया। यह परिवर्तन 18वीं शताब्दी के पूर्व तक चला जब तक आधुनिक क्वार्टर टोन या राबः जैसे स्वरग्राम का उद्भव नहीं हुआ।

अरबी सम्प्रदाय का इतिहास मुकाम-सिद्धान्त के स्वरूप और प्राचीन स्वरूप के बारे में मौन है। इस्लाम में मुकाम एक पद्धति है जिसके अन्तर्गत उनके शास्त्रीय संगीत का खाका खींचा जाता है। सांगीतिक रचनायें मुकाम के आधार पर ही निर्भर हैं—**अर्थात् मुकाम स्वरों के समुदाय से बना एक स्वरग्राम नहीं है, बल्कि यह गाया जाने वाला स्वरों के समूह का स्पष्ट रूप है जो मोटे तौर पर हमारे रागों के साथ तुलनीय है।**

समस्त मध्य प्राच्य में 12 मुकामों का प्रचार 13वीं शताब्दी से हुआ, जिनमें से 7 का नाम फारसी में है।

अंश-स्वर यानी drone का सिद्धान्त इस पद्धति में न होने से वादक अक्सर असम्बन्धित स्वरों का भी जगह-जगह प्रयोग किया करते थे; हालांकि उन्हें यह ख्याल भी रहता था कि इस प्रयोग से असंगीतात्मकता न उभरने पाये। आधुनिक काल में सदा छेड़े जाने वाले drone स्वर का प्रयोग तो होता है, किन्तु उसका प्रयोग भारतीय संगीत-सिद्धान्त से हटकर है। उदाहरणतः, फारसी 'सेहतार' में प्रथम दो तार षड्ज और पंचम में मिले तो होते हैं किन्तु अन्तिम दो तार मूल स्वर (tonic) यानी दस्तगाह के अनुसार अपना स्वर बदलता है। जैसे—दस्तगाह 'सेगाह' का मूल स्वर तीव्र ग है, अतः सदा बजने वाले drone के रूप में इसी स्वर को मिलाया जायेगा। यह प्रक्रिया सूत्र रूप में ग्राम-मूर्च्छना पद्धति में प्रयुक्त ग्रह या अंश-स्वर का स्मरण कराती है।

फारसी 'दस्तगाह' और अरबी 'मुकाम' पर्यायवाची हैं। इसका मुख्य नियम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है—खास स्वर ग्राम (scale) हो, विशेष संक्रमात्मक (melodic) स्वर-समुच्चय हो, निश्चित स्वर-विस्तार का क्षेत्र हो तथा एक या एकाधिक मुख्य (अंश) स्वर हो।

अतः दस्तगाह या मुकाम मात्र किसी स्वरग्राम-विशेष (specific scale) को ही नहीं मानना चाहिए। यह संक्रम सिद्धान्त (melodic formulae) और सौन्दर्यात्मक विशेषता (aesthetic characteristic) को मूर्त रूप देता है। उदाहरणतः अगर केवल स्वरग्राम को ही मुख्यता दी जाती है तो दस्तगाह 9 ही बनते हैं, परन्तु जब गाया-बजाया जाता है तो 12 की संख्या मानकर प्रयोग किया जाता है। सत्यतः, जब केवल मुकाम के स्वरग्राम की स्वर लिपि (notation) बनायी जाती है, तो उससे दस्तगाह या मुकाम का सही चित्रण नहीं होता। प्रयोक्ता कभी भी स्वरग्राम को मुख्यता नहीं देता। अर्थात् जब मुकाम गाया या बजाया जाता है तो प्रयोक्ता आरोह-अवरोह यानी कोरा scale पर नहीं बल्कि उसमें लगने वाले स्वर-समुदाय के प्रयोग पर ध्यान देते हैं।

दस्तगाह या मुकाम में अनेक छोटे-छोटे स्वर-समुदायों का प्रयोग होता है। इन स्वर-समुदायों का नाम 'गोशः' है। 'गोशः' का शाब्दिक अर्थ है—आच्छादन (cover), गला, कोण। स्वरों के सौन्दर्य को उद्भाषित करने का काम 'गोशः' का है जो भारतीय दृष्टि में राग के अन्दर लगने वाले स्वर-समुच्चयों का होता है।

एक ही स्वरात्मक संरचना (nodal structure) से दो अलग मुकाम बन सकते हैं और अलग-अलग नामों से जाने जा सकते हैं, किन्तु वहीं लयात्मक भिन्नता व काव्यात्मक स्वरूप में भेद होना आवश्यक है। क्या यह प्रमाण हमें एक ही स्वर ग्राम से उत्पन्न एकाधिक रागों की याद नहीं दिलाता जो वादी-संवादी में भिन्नता आने से स्वरूप में भी अलग दिखते हैं? इसी प्रकार विभिन्न मुकामों के लिए स्वर-मान (pitch) भी अलग-अलग निश्चित किये जाते हैं। क्या यहां भारतीय मूर्च्छना-पद्धति का प्रभाव नहीं दिखता?

फारसी दस्तगाह के प्रयोगात्मक स्वरूप को देखने से स्पष्ट होता है कि छोटे-छोटे संक्रमात्मक समुदायों (small melodic pieces) की यहां प्रधानता है जो स्वतन्त्र मुकाम इकाई (independent muquam unit) का रूप देता है। परन्तु अरबी संगीत-पद्धति में एक सम्पूर्ण संक्रम इकाई (complete melodic unit) का सहज दर्शन होता है, जिसमें सौन्दर्यात्मक अनुभूति का मिश्रण है।

भारतीय संगीत-पद्धति पर ग्रन्थ लिखने वाले मुस्लिम ग्रन्थकार इब्राहिम आदिलशाह ने 'किताब-ए-नौरस' में रागों के नाम देते हुए राग के स्थान पर दर-ए-मुकाम शब्द का प्रयोग राग के अर्थ में ही किया है क्योंकि प्राप्त प्रमाणानुसार मुकाम गेय है। अतः मुकाम को स्वरग्राम या scale मानने का आग्रह नितान्त अनुपयुक्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेल या थाट-पद्धति

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि 'मेल', 'संस्थान', 'थाट' समानार्थक शब्द हैं तथा इन शब्दों का प्रयोग अनुमानतः 14वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। 'संस्थान' का अर्थ है, 'सम्यक् रूप से जांचा गया स्थान।' 'मेल' का अर्थ है, 'मेलन-प्रकार या किसी विशिष्ट स्वरावली को प्राप्त करने की विधि' तथा 'थाट' का अर्थ है, 'स्थिर रहना या ढांचा प्रस्तुत करना'। 'मेल' और 'थाट' लोक भाषा के शब्द हैं, तथा 'संस्थान' उसका संस्कृत रूप।

मेल, संस्थान, थाट-व्यवस्था 12 स्वरों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। इन तीनों शब्दों का आविर्भाव वीणा के स्वरों को प्राप्त करने के उद्देश्य से हुआ, क्योंकि कण्ठ से स्वर-प्राप्ति शरीर के आभ्यन्तरीन प्रचेष्टा से होती है, जो बाहर दृष्टिगत नहीं होता। 'शारीर' से भिन्न होने के कारण 'दारवी' में स्वर प्राप्त करने के लिए कुछ चेष्टायें करनी होती हैं। जैसे—तारों को चढ़ाना, उतारना या पर्दों को ऊपर-नीचे खिसकाकर इप्सित स्वरों को मिलाना, आदि। चाक्षुष होने से उपर्युक्त शब्दों के आधार पर स्वरों पर विचार करना भी कठिन नहीं होता है। अतः चिन्तकों द्वारा मेलादि पर किये गये विचारों ने वीणा के साथ-साथ कण्ठ को भी प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप गायकी में भी मेल या थाट के आधार पर शिक्षण दिया जाने लगा।

रघुनाथ भूप के अनुसार, 'विजयनगर साम्राज्य के मन्त्री विद्यारण्य माधवाचार्य ने 14वीं शताब्दी में 50 रागों का वर्गीकरण 15 मेलों के आधार पर किया।' आश्चर्य की बात तो यह है कि किसी भी परवर्ती ग्रन्थकार ने (रघुनाथ को छोड़कर) इस क्रान्तिकारी कार्य का उल्लेख नहीं किया। रामामात्य से वेंकटमखी तक सभी दाक्षिणात्य ग्रन्थकारों ने अपनी इच्छा के अनुसार मेल-संख्या का निर्धारण किया है। वेंकटमखी ने गणित के आधार पर 72 मेल स्थिर करने के बाद 19 मेलों के अन्तर्गत ही समसामयिक रागों का वर्गीकरण किया है।

उत्तर भारत में संस्थान, मेल, थाट तीनों शब्दों का स्वेच्छापूर्वक प्रयोग ग्रन्थकारों ने किया है। हृदयनारायण देव ने संस्थान, ठाठ व मेल तीनों शब्दों का प्रयोग किया। लोचन ने केवल 'संस्थान' शब्द का प्रयोग किया है। भावभट्ट, हृदय नारायण देव, अहोबल एवं श्रीनिवास ने 'मेल' शब्द का प्रयोग किया है। शास्त्रपरक रचनाओं में 'मेल' शब्द का प्रयोग होता था और भाषा या बोली में थाट (ठाठ) शब्द का।

सामान्यतः यह माना जाता है कि दक्षिण में 'मेल' शब्द का तथा उत्तर में 'थाट' शब्द का व्यवहार है, जो भ्रमोत्पादक है। वास्तव में 'मेल' शब्द का प्रयोग दक्षिण में शास्त्र व लोक दोनों में होता रहा और उत्तर में केवल शास्त्र के लिए। उत्तर में शास्त्रज्ञ का क्रमशः अभाव व संगीतज्ञों का बोलबाला होने के कारण लोक-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भ:षा का प्रभाव केवल 'मेल' पर ही नहीं, वल्कि संगीत की अन्य पारिभाषिक शव्दा-वलियों पर भी बहुत पड़ा।

देशी संगीत के स्वर-श्रुति में भिन्नता का संकेत तो शार्ङ्गदेव ने दिया है किन्तु स्वर की सही स्थिति के बारे में ये मौन हैं। मेल या थाट के आधार पर राग का वर्गीकरण करने वालों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने प्रचलित स्वरों को वीणा के पर्दों पर स्थापित किया है, जिससे स्वरों की स्थिति विल्कुल स्पष्ट हो जाती है। दक्षिण के लगभग सभी ग्रन्थकारों ने वीणा के पर्दों के स्वर-नाम बताये हैं तथा उत्तर के अहोवल तथा श्रीनिवास ने वीणा के तार की लम्वाई को घटा-वढ़ाकर स्वरों को पर्दों पर स्थापित किया है। यह निश्चित रूप से हमें निर्दिष्ट परिणाम को दर्शाने में समर्थ है।

एक स्वर के दो रूपों को दो नामों से अभिहित करने की प्रथा मध्यकाल में उत्तर में भी रही। दो मध्यम लगने वाले सारंग संस्थान या मेल में शुद्ध मध्यम को अति तीव्रतम गांधार के नाम से जाना जाता था। 'अति तीव्रतम गेस्तु सारंगे परिगीयते'। आपात दृष्टि में निरक्षर किन्तु परम्परावादी गायक-वादकों के लिए केवल षड़ज-पंचम के अतिरिक्त अन्य पांच स्वरों के दो रूप हैं— चढ़ी' व 'उत्तरी'। दक्षिण में इन्हें क्रमशः 'चिन्न' (छोटा) और 'पेरिया' (बड़ा) कहते हैं। ग्रन्थकारों के प्रभाव से कालान्तर में ये भी तीव्र-कोमल तथा चतुः श्रुतिक, पंचश्रुतिक, ऋषभ, साधारण-अन्तर गांधार शब्दों का प्रयोग करने लगे।

मेल व थाट में अन्तर

वैसे थाट व मेल में कोई तात्विक अन्तर नहीं है, किन्तु गहन अध्ययन से कुछ विशेष अर्थ का प्रयोग स्पष्ट होता है —

1. आधुनिक यग में थाट-पद्धति में एक स्वर के दो रूपों का प्रयोग मान्य नहीं है जवकि दक्षिण में अभी तक ऐसा प्रयोग सर्वमान्य है।

2. एक स्वर के दो रूपों को भिन्न समझाने के लिए दक्षिण में 'सरगम' गान का वहुल प्रचार है। उत्तर में ऐसा प्रयोग अभी भी नहीं के बरावर है। हालांकि उस्ताद अमान अली खां, पं० भातखण्डे आदि ने 'सरगम' गान का प्रचार किया है, किन्तु वहां भी स्वर के दो रूपों को अन्य स्वर-नाम से नहीं जाना जाता।

3. एक स्वर के दो रूपों का प्रयोग मेल में मानकर गणित के आधार पर 17वीं शताव्दी के अन्त में वेंकटमखी द्वारा 72 मेल की कल्पना की गई, जबकि उत्तर में लोचन ने 12 संस्थान (थाट), हृदय नारायण देव ने 13 मेल-संस्थान थाट, अहोवल ने 13/14 मेल का उल्लेख किया। आधुनिक काल में 10 थाट के आधार पर ही राग के वर्गीकरण की कल्पना की गई। 10 थाट के आधार पर राग-वर्गीकरण का श्रेय पं० भातखण्डे को दिया ज ता है, किन्तु रामपुर लाइब्रेरी में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति उस्ताद सादिक अली खां का ग्रन्थ सरमा-ए-इशरत में इन्हीं दस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

थाटों का उल्लेख है। यह ग्रन्थ भातखण्डे के ग्रन्थों से पूर्व लिखा गया था। कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि इसी ग्रन्थ से पं० भातखण्डे को 10 थाट की कल्पना व प्रचार की प्रेरणा मिली, परन्तु स्वयं भातखण्डे ने ऐसा कहीं स्वीकार नहीं किया है। आचार्य बृहस्पति के अनुसार, पं० भातखण्डे की प्रेरणा के स्रोत वेंकटमखी नहीं, उस्ताद सादिक अली खां थे।

मेल या थाट राग-वर्गीकरण में कल्लिनाथ का 'श्रीराग', लोचन का 'भैरवी' संस्थान, अहोवल का 'शुद्ध मेल' स्वर-व्यवस्था में निरन्तर प्रवाह के समान एकरूपता लिए हुए है। नाम-भेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं है। किन्तु 19वीं शताब्दीं के उत्तरार्द्ध में बिहाग या बिलावल को शुद्ध थाट के रूप में प्रयोग व प्रचार करने के पक्ष में भातखण्डे तथा अन्य ग्रन्थकारों ने जोर दिया। डॉ० बृहस्पति के अनुसार, तानसेन के द्वारा बिलावल को अकबर-युग (16वीं शताब्दी) का मूल थाट माना गया (यद्यपि 18वीं शताब्दी के ग्रन्थों में आधुनिक काफी थाट जैसी स्वरावली को शुद्ध थाट माना गया) जो दाक्षिणात्य शंकराभरण मेल है। प्रमाणस्वरूप उन्होंने तानसेन रचित एक ध्रुवपद, जो अड़ाना राग तथा चौताल में निबद्ध है, का उल्लेख किया है :—

घइवत पंचम मधिम गन्धार रे
रखव षरज सुर साधि साधि साधि
गुनी निषाद रे
तैरो अलंकार बाइस श्रुति साधि बाद चारि
सरेगम पधनिस सुधर
सनि धनि धप मगरे।
त्रिविधि त्रिविधि सुरनि मधि त्रतीम्र
त्रतीम्र त्रतीम्र अरे वितंत जानत वेदमान
सप्त सुर तीनो ग्राम इक्कइस मूरछिना
छतीस भेद नाद वाद तान
तानसैनि विधान रे।

इस पद के आधार पर डॉ० बृहस्पति ने यह प्रमाणित किया है कि तानसेन मूर्च्छना-पद्धति से भली-भांति परिचित थे तथा संकेतों द्वारा इस पद में मूर्च्छना के आधार पर विलावल के स्वरों को स्पष्ट किया है। शंका उठती है कि फिर यह पद अड़ाना में क्यों बांधा गया, विलावल में क्यों नहीं ?

तुलनात्मक अध्ययन

मूर्च्छना, मुकाम तथा मेल या थाट के इस अध्ययन के पश्च त् हमारे सामने कुछ बातें उभरकर आती हैं :—

मूर्च्छना-पद्धति के अतिरिक्त मुकाम-पद्धति का प्रभाव मेल या थाट-पद्धति में देखने की चेप्टा कुछ आधुनिक विद्वानों ने की है। इसके विपरीत श्री क्षेत्रमोहन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गोस्वामी ने मुक़ाम, शोब, गोश: को क्रमश: राग, रागिणी, पुत्र के रूप में माना है। इब्राहीम ने भी राग के स्थान पर मुक़ाम शब्द का प्रयोग किया है।

ग्राम-मूर्च्छना पद्धति से हटकर देशी-पद्धति की धारा अबाध रूप से चली आ रही थी जिसके फलस्वरूप 9 के स्थान पर 12 स्वरों का प्रयोग मान्य हुआ। अतः उत्तर भारत में षड्ज-पंचम के अतिरिक्त अन्य पांच स्वरों के विकार को स्वीकार करने में संगीतज्ञों को कोई आपत्ति नहीं हुई। मुकाम की विशेषताओं को देखने के पश्चात् अब प्रश्न यह उठता है कि—

1. फारसी संगीत में 17 स्वर विद्यमान थे, जिनमें एक प्रमाण श्रुतिक (त्रिश्रुतिक) पंचम भी है। विदेशी स्वरों के ग्रहण के समय उस स्वर-विशेष को क्यों त्यागा गया, जबकि ग्राम-मूर्च्छना पद्धति में यह ग्राम-भेदक स्वर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा ?

2. सत्रह स्वरों में से केवल बारह स्वर ग्रहण करने का क्या कारण था ? ऐसा समझौता किस आधार पर किया गया ?

3. अगर वीणा (आलापिनी या देशी किन्नरी) की आधारभूत स्वरावली स्वाभाविक स्वर-संवाद का परिणाम नहीं है तो विकृत स्वरों के वे नाम क्यों नहीं हैं, जो फारसी संगीत के नियमानुसार हैं ? वहां प्रत्येक स्वर स्वयं सम्पूर्ण है तथा वे सात स्वरों के परिवर्तित रूप नहीं हैं। जबकि परम्परागत भारतीय संगीत में स्वर सर्वदा सात ही माने गये हैं और श्रुत्यन्तर के आधार पर प्राप्त अन्य स्वर केवल उनका विकार-रूप हैं ?

4. क्या यह सम्भव है कि संगीत के ग्रामिक स्वर में तो परिवर्तन आ गया, किन्तु षड्ज-पंचम के अतिरिक्त अन्य पांच स्वरों के विकृत रूप माने गये भले ही उत्तर-दक्षिण में संज्ञा-भेद रहा हो ?

5. ईमन (या कल्याण) संस्थान का उल्लेख लोचन ने अपने ग्रन्थ में किया, जिसके आधार पर डॉ० बृहस्पति ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि मुकाम-सिद्धांत का प्रभाव भारतीय संगीत पर पड़ा। तथ्य यह है कि ऐमन या ईमन 12 मुकामों में से है ही नहीं। ईमन की स्वरावली मूर्च्छना-पद्धति में भली प्रकार से मिल जाती है, फिर नाम-ग्रहण मात्र से एक संगीत-पद्धति पर वैदेशिक सिद्धान्त को खोजने का प्रयाम व प्रचार कहां तक उचित है ?

मुकाम और संस्थान या थाट के प्रयोजन में निम्न अन्तर हैं :

1. सबसे बड़ा अन्तर यह है कि मुकाम एक क्रमबद्ध स्वरग्राम नहीं है, थाट है। थाट में आरोहात्मक स्वरावली होनी चाहिए जो क्रमबद्ध यानी 'अव्युत्क्रम' हो— 'क्रमरूपा:, आनुपूर्व्या स्वरारोहणमेव रूपं येषां ते, अव्युत्क्रमस्थापितस्वरा इति यावत्।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2. मुकाम गाया जाता है, थाट गाया नहीं जाता। थाट विभिन्न स्वरग्राम बताने का साधन-मात्र है।

3. यह अनुमान निराधार नहीं होगा कि देशी रागों में ग्राम-मूर्च्छनादि नियमों का पालन न होने से तथा सारिकायुक्त वाद्यों का महत्व अधिकाधिक बढ़ने से ही थाट-पद्धति की कल्पना की गई। थाट का आधार मूर्च्छना-पद्धति है, जिसे अहोबल ने भी स्वीकारा है—'मूर्च्छना मेला ज्ञेयाः विचक्षणैः।' मूर्च्छना का प्रयोजन केवल जाति तथा ग्राम-रागों की स्वरावली बताना मात्र था। विभिन्न स्वरग्रामों (scale) के आधार पर रागों को व्यवस्थित करने की प्रथा भारतीय ही है। किसी मुख्य जाति या ग्राम-राग की स्वरावली मूर्च्छना-विशेष से प्राप्त होती थी तथा उस स्वरावली के अन्तर्गत विभिन्न अंशों से जो विशेष स्वर-सन्निवेश बनते थे वे उस मूर्च्छना के अन्तर्गत माने जाते थे। संस्थान, मेल, थाट का भी यही स्वभाव है। थाट-राग के स्वरूप में भिन्नता है, अतः जब मूलभूत विषयवस्तु में सामंजस्य नहीं है, फिर थाट-सिद्धांत का आधार मुकाम को मानना कहां तक उचित है ?

4. मेल या थाट सदा सम्पूर्ण होता है, भले जन्य राग षाड्व या औडुव हो। ऐसी कोई कल्पना मुकाम-सिद्धान्त में नहीं की गयी है। मेल को सम्पूर्ण मानने के कारण ही गणितिक व्यवस्था को बल मिला और दक्षिण में 15 से 72 मेल की धारणा समय-समय पर पुष्ट हुई। दक्षिण में शास्त्रकारों ने संगीतज्ञों को प्रभावित किया। अतः अनपढ़ संगीतज्ञों को स्वर-सम्बन्धी प्रमादों को भी मान लेना पड़ा। उत्तर में संगीतज्ञों को दरबार में अधिक सम्मान मिलने के कारण शास्त्र का प्रभाव इन पर उतना अधिक नहीं पड़ा, और हृदय नारायणादि शास्त्रकारों को आधुनिक काल से पूर्व किसी ने महत्व नहीं दिया। इसीलिए उत्तर के गायकों ने 'ठाठ' को केवल स्वर-प्राप्ति का 'साधन-मात्र' माना, 'एकमात्र साधन' नहीं। यह आधुनिक विद्वानों (पं० भातखण्डे आदि) की निरन्तर चेष्टा का फल है जो 'ठाठ' पद्धति को 'राग का जनक' मानने को प्रेरित करते हैं। असलियत तो यह है कि मुख्य राग के नाम से थाट का नामकरण किया गया है।

5. राग-वर्गीकरण-प्रथा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि संगीत में दृश्य-तत्व को अधिकाधिक बल मिला। पर्दे वाली वीणा को विकसित करने का भी यही कारण है। अतः स्वरों को स्थिर रखने की प्रबल इच्छा ने मेल या थाट की कल्पना की। मुकाम-पद्धति अपने-आप में इतनी धनी नहीं है कि वह भारतीय संगीत-पद्धति को प्रभावित कर सके।

6. 'मेल-थाट पद्धति' को 'मुकाम-पद्धति की देन' माननेवालों ने दोनों स्वर-ग्रामों में सामंजस्य दिखाने की चेष्टा की है, जिसकी उपयुक्तता के बारे में सन्देह है। यहां न एक श्रुति के कमोवेश की ओर ध्यान दिया गया, न वीणा के पर्दों पर मिलनेवाले स्वाभाविक संवाद पर। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'उश्शाक मुकाम' की जिस स्वरावली में खमाज थाट को बैठाया गया है, लाख चाहने पर भी उस थाट का स्वर 'फिट' नहीं बैठता। प्राचीन यूनानी अष्टक है –

0	4	4	1	4	4	4	1
स	रे	ग	म	प	ध	नि	स

अथवा

1	5	9	10	14	18	22	2
स	रे	ग	म	प	ध	नि	स

उक्त स्वरावली के पंचम से 'उश्शाक मुकाम' की प्राप्ति मानी गयी है और खमाज थाट को उसमें 'फिट' किया गया है। नीचे देखने से स्पष्ट होगा कि यह व्यवस्था त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है—

	4	4	4	1	4	4	1	4
उश्शाक—	प	ध	नि	स	रे	ग	म	प
खमाज—	स	रि	ग	म	प	ध	नि	स

उपर्युक्त अष्टक को देखने से स्पष्ट होता है कि (1) भारतीय संगीत में शुद्ध स्वर-सप्तक (चाहे विलावल हो, चाहे काफी) कभी भी ऐसा न रहा, (2) भारतीय परम्परा में प्रथम श्रुति पर षड्ज का स्थान निर्दिष्ट करने की प्रथा नहीं है—भले पं० भातखण्डे ने षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना बिलावल, यानी आधुनिक शुद्ध थाट पर दिखाने के मोह से ग्रसित हो स्वरों को अपनी प्रथम श्रुति पर स्थापित कर एक असंभव व अयथार्थ सिद्धान्त का प्रचार किया, जिसके पीछे यूरोपीय सिद्धान्त का प्रभाव झलकता है, (3) कम से कम वर्तमान षड्ज-शुद्ध गांधार और पंचम-शुद्ध निषाद (अन्तर गांधार—काकली निषाद) तथा मध्यमधैवत् में सप्त श्रुतिक अन्तराल आज भी भारतीय संगीत में है जो प्राकृतिक संवाद-युक्त है।

स्वरों पर इतना अत्याचार तो 'कामचार' युग में भी शायद न हुआ होगा। मध्ययुग के किसी भी उत्तर के ग्रंथकार ने खमाज, मारवा, विलावल को संस्थान या थाट नही माना। अतः मुकामों में आधुनिक 10 थाटों को ढूंढ़ना और उनका उपहास करना कहां तक युक्तिसंगत है ? मेल या थाट-पद्धति का विकास 15वीं शताब्दी के आरम्भ से ही हो चुका है, अतः हृदयनारायणदेव, लोचन या आहोवल को इस कार्य के लिए उत्तरदायी ठहराना अनुचित है। अपने पूर्व निर्मित सिद्धान्तों को उन्होंने स्वमत द्वारा बल मात्र प्रदान किया। थाट-पद्धति के जनक नहीं थे। ईमन को ही दक्षिण के ग्रंथकार तथा अहोबल ने कल्याणी मेल (थाट) के नाम से पुकारा है। अतः भले ही 17वीं शताब्दी में ईमन नाम का प्रचार हो, स्वरग्राम पहले से ही मौजूद थे। यह प्रमाणित तथ्य है कि लोचन 17वीं शताब्दी के थे; अतः उन्होंने 12

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वरों का ग्रहण फारसी से किगा, न मुकाम-पद्धति के आधार पर संस्थान (थाट) बनायें। 'स्वदेशी' रागों के वर्णन में उन्होंने पहले राग रागिणी, उनके ध्यान तथा 12 संस्थानों (थाटों) का वर्णन किया है। इनके समय तक मुस्लिम साम्राज्य स्थापित हो चुका था। अनेक भारतीय राग-ताल-वाद्यों का मुसलमानीकरण हो रहा था। अतः रागों का फारसी नाम प्रचारित हो जाये या पारिभाषिक शब्दावली में फारसी या उर्दू का प्रयोग हो जाये तो आश्चर्य की बात नहीं है। अमीर खुसरो को राग फिरोदस्त का रचियता मानने पर यह भी मानना होगा कि इस राग की आमदनी फारस से नहीं हुई बल्कि इसकी जन्मभूमि भारत ही है। ऐसा कोई इतिहास साक्ष्य प्रमाण नहीं है कि अमीर खुसरो को कभी फारस जाना पड़ा। वह स्वयं को भारतीय संगीत का ज्ञाता कहने में गर्व महसूस करता था। भारतीय संगीत को विश्व का सर्वश्रेष्ठ संगीत कहने में वह कहीं नहीं हिचकिचाया। अतः लोचन की रागतरंगिणी में ईमन व फिरोदस्त रागों का उल्लेख प्रक्षिप्त नहीं, बल्कि एक महत्वपूर्ण राग के रूप में किया गया है।

थाट-पद्धति के विकास-क्रम में मूर्च्छना ही आधार रही। मूर्च्छना व थाट में समानधर्मिता निम्न है—

1. मूर्च्छना एक स्वरग्राम मात्र है; जिसके फलस्वरूप नवीन स्वरावली की प्राप्ति होती है। थाट का उद्देश्य भी यही है।

2. स्वरग्राम (scale) प्राप्त करने के पश्चात मूर्च्छना का प्रयोजन समाप्त हो जाता है, थाट में भी ऐसा होता है।

3. मूर्च्छना गाया नहीं जाता है, थाट भी गाया नहीं जाता।

4. मूर्च्छना क्रमयुक्त सातों स्वरों का समाहार है, थाट का भी यही नियम है।

5. मूर्च्छना से नित्य नवीन स्वरग्राम की प्राप्ति की जा सकती है, भले आधार-स्वर के रूप में षडज या कोई अन्य स्वर मान लिया जाये। थाट से नवीन स्वरावली की प्राप्ति षडज को आधार मानकर की जाती है।

6. जिस प्रकार मूर्च्छना में शुद्ध-विकृत मिलाकर 9 स्वर होते थे, किन्तु अलग-अलग मूर्च्छनाओं की प्राप्ति के समय 22 श्रुतियों का प्रयोग हो जाता था; उसी प्रकार थाट-पद्धति में मुख्य स्वर 12 होते हैं, किन्तु विभिन्न रागों के नियमानुसार स्वरों का प्रयोग करने पर समस्त श्रुतियों का व्यवहार हो जाता है।

मूर्च्छना और थाट में प्रमुख अन्तर निम्न है :

1. मूर्च्छना में कोई भी स्वर आधार-स्वर बनकर नवीन स्वरावलीं दे सकता था; 'देशी' पद्धति के अन्तर्गत आने के थाट-निर्माण में 'षड़ज' आधार-स्वर होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् षड्ज-पंचम को स्थिर रखकर तथा अन्य 5 स्वरों में परिवर्तन कर नये स्वर-ग्राम की प्राप्ति की जाती है।

2. दो ग्रामों की मूर्च्छनाओं की अपनी संज्ञायें हैं तथा जाति या ग्राम-रागों के नाम से मूर्च्छना नाम स्थिर नहीं किया गया; जबकि मुख्य राग के नाम से थाट का नाम पड़ा। फिर भी स्वर-प्राप्ति का साधन होने के कारण थाट को 'जनक' और राग को 'जन्य' माना गया।

अब मुकाम व थाट के मुख्य अन्तर की ओर एक दृष्टि डालें तो विषयवस्तु स्पष्ट हो जायेगी—

1. थाट का प्रयोजन केवल स्वरग्राम (scale) प्राप्त करना मात्र है; मुकाम का प्रयोजन ऐसा नहीं है। मुकाम छोटे स्वरों का unit है, जिसे गाया जाता है।

2. मुकाम गाया जाता है, थाट गाया नहीं जाता।

3. Drone सिद्धान्त की प्रमुखता थाट में है, मुकाम में नहीं है। वादीत्व (यानी वदति इति वादी) का अंशत्व को प्रमुखता देकर Drone के रूप में इसका प्रयोग करना भारतीय संगीत की विशेषता है जो अन्य किसी देश के संगीत में दुर्लभ है।

4. थाट का उद्देश्य केवल स्वरों को प्राप्त करना है, उसमें संवेगात्मक तत्त्व नहीं है, मुकाम को गाए जाने से उसमें संवेगात्मक तत्व निहित है।

5. मुकाम में 17 स्वर हैं तथा प्रत्येक स्वर अलग-अलग तथा सम्पूर्ण इकाई (unit) का है जबकि थाट में स्वर मुख्यतः सात हैं और षड्ज-पंचम के अतिरिक्त अन्य पांच स्वरों में विकार लाकर कुल 12 स्वर माने गये हैं जो स्वरों के अन्तराल-भेद का परिणाम है।

6. मुकाम गेय होने से उनमें कुछ नियम हैं अतः शोबः और गोशः जैसे नवींन गेय-रूपों की कल्पना भी रही। यह नियम राग तथा उसकी रागिणी और पुत्र में परिलक्षित होताहै। थाट का प्रयोजन स्वर-ग्राम देने के पश्चात समाप्त हो जाता है।

अतः उपर्युक्त अध्ययन हमें यह मानने के लिए बाध्य करता है कि थाट-सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप से भारतीय विचारधारा है, जिसका आधार सूत्र रूप में मूर्च्छना-नियम में देखा जा सकता है, परन्तु मुकाम कभी भी थाट या मेल-पद्धति का जन्म-दाता नहीं हो सकता; क्योंकि दोनों के मूलभूत सिद्धान्त में ही अन्तर है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. नाट्य शास्त्र—अध्याय 28, अभिनव भारती टीका सहित।
2. वृहद्देशी।
3. संगीत रत्नाकर— 1 म अध्याय, मूर्च्छना प्रकरण, टीका सहित।
4. भरत भाष्यम्—मूर्च्छना प्रकरण।
5. राग विवोध।
6. AL-THA-ALBI.
7. An Outline History of Music & Musical Theory, A Survey of Persian Art, The Influence of Music.
8. R. D. Erhinger
9. A Critical and Comparative Study of Indian Music and Music of Middle East.
10. संगीत सार।
11. संगीत चिन्तामणि, ध्रुव पद और उसका विकास।
12. लोचन का समय 1607-85 ई० अथवा 1670.1705 ई० वि० द्र० स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान।
13. संगीत परिजात।
14. संगीत सुधा।
15. सरमाये इशरत।
16. किताब-ए-नौरस।
17. भातखण्डे संगीत शास्त्र।
18. राग तरंगिणी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिशिष्ट क

सारिणी

षड्जग्रामिक प्रथम मूर्छना का श्रुति-स्थान	:	3 2 4 4 3 2 4 स → रि → ग → म → प → ध → नि → स
भातखंडे द्वारा निश्चित बिलावल का श्रुति-स्थान	:	4 3 2 4 4 3 2 स ← रि ← ग ← म ← प ← ध ← नि ← सं
वास्तविक श्रुति-स्थान	:	4 3 2 4 3 4 2 स → रि → ग → म → प → ध → नि → सं
बिलावल की मूर्च्छना मध्यम ग्रामिक निषाद को ग्रह मानने पर	:	4 3 2 4 3 4 2 नि → स → र → ग → म → प → ध नि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिशिष्ट ख

राग देवविभा

परिचय—कल्पना व रचना मनुष्य की सह जात वृत्ति है, उसका परिपालन व परिपोषण जरूरी है। शिक्षण-क्रम के साथ-साथ यह वृत्ति भी विकसित होती रहती है। छात्रावस्था से ही मैं नवीन कल्पनाएँ करती रही व नई-नई बन्दिशों की रचना की। सन् 1981 की बात है, जब मूर्च्छना-अभ्यास करते-करते कुछ नवीन स्वरावली सामने आई। अधिकाधिक प्रयोग व विश्लेषण करने के पश्चात् यह पाया कि जनगीत में इस स्वरग्राम (Scale) का मिलना दुष्कर नहीं, किन्तु रागरूप में इसका कहीं अस्तित्व नहीं। फलतः 'देवविभा' ईश्वरीय ज्योति के समान सामने आयी।

गुरू देवता-रूप हैं। अपने देवोपम गुरू प्रोफेसर देवव्रत चौधरी को यह राग समर्पित है। 'विभा' का अर्थ प्रकाश या ज्योति है, उत्तरांग में 'विभास' राग की छाया मिलने के कारण इस नवीन प्रयोग-बिन्दु का नाम 'देवविभा' रखा गया। इस राग को विभिन्न जलसों तथा गोष्ठियों में प्रस्तुत किया गया एवं विद्वत्जनों की राय में इस राग में रागत्व का अभाव नहीं व स्वयं में ही पूर्णता का प्रतीक है।

स्वरपरिचय—संगीत का प्रथम स्वरग्राम औडुव-औडुव या, 'देवविभा' भी औडुव-औडुव है। मध्यम तथा निषाद वर्ज्य है। धैवत कोमल तथा अन्य स्वर शुद्ध हैं। अंश तथा ग्रह स्वर मन्द्र धैवत, न्यास स्वर गान्धार है। रे ग प रे ग रे स में शुद्ध कल्याण की छाया दिखती है। विवादी स्वर के रूप में कभी-कभी शुद्ध निषाद का प्रयोग धैवत के साथ कण द्वारा किया जाता है। मन्द्र धैवत इस राग का प्राण-स्वरूप है।

आरोह—स रे ग प ध, प ध सं।

अवरोह—सं ध प, ग, रे ग प रे ग रे ग, ध॥

विशेष स्वर—सं, ध, स रे ग, प ग, ध प ग, रे ग प रे ग रे स ध।

ग्रह—मन्द्र धैवत

अंश—मन्द्र धैवत

न्यास—गान्धार

अपन्यास—षड्ज

जाति—औडुव-औडुव

समय—सार्वकालिक

भाव—मधुर-गम्भीर,, निवेदनात्मक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वर विस्तार

1. स, धग, पधप, पधस, पधपस, धप, धस, धपग,

रेगपध, पधस, धधस॥

मोहरा:—स-, सस-, धधरेस।

2. स—धपधस, धरेसध, धसरे, रे, रे, रे, स—ध, धसधरे

स, ध, पधपरेस, ध, पधसरेस—ध, परेस—ध, धपग,

रे
रेगपरेगरेस॥

3. धधधस, पधसरे, स—ध, धसधरे, सरे, ग, गरेसध

धग, रेग, रेसध, धसरे-ग, रेसध, धधग, रेग, प—ग,

रेगरेसध, धस॥

4. सरेगप, रेगरेप, गरेसध, सरेगप, प, प, प, गरेगप,

ध—, धप, रेगरे, गपध, ध, धप, धसरेगपध— ध—ध,

धपग, रेसध, ग ध, ध, ध—पग, रेगपरेगरेसध, धस।

5. रेगप रेगपध, पध, नि धप, ग, गरेगपध, पध,

धपगरे, गपध, ध, सं, धपगरेगप ध, ध, ध, सं, सं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प धु सं, प धु प सं, ग रे ग प धु—सं, धु रें सं, सं ऽ धु प

ग रे ग प, रे ग प रे ग रे स, धु, धु स।

6. ग रे ग प धु—सं, धु सं रें गं, गं रें सं धु, धु—गं, गं रें सं धु,

रें सं धु प, ग प धु—रें, गं , रेंसं, धु सं रेंगं, रेंगंपं, धुं, धुं, धुं—पं,

गं रें गं पं, रें गं रें सं धु, धु गं, गं रें सं, सं रें सं धु, धु-धु-धु-,

प ग, रे ग रे प, ग प ध, ध प ग, रे ग प रे ग रे स धु-, धु स।

विशेष संकेत - मसीत खानी तथा रजा खानी के बोलों का परम्परागत निर्वाह न कर पाने के कारण इन बन्दिशों को विलम्बित तथा द्रुतगत नाम दिया गया।सेनिया घराने में बोलों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पर चूंकि इन बन्दिशों में दिये गए बोलों से ही गतें ज्यादा फबती है, अतः इनका नाम भी तदनुरूप रखा गया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विलम्बित गत-तीनताल

स्थायी

□ 3

ग ग
रे ग प ध़ ध़ प ग —ध़ प रे—स

दा—रा— दा दारा —दारा दा—रा

× 2

ध़ ध़ प़ प़ प़ ध़ स स रे ग प ध़

दा दा रा दिर दा दिर दा दा—रा

□ ग रे 3 ग

ध़—प ग रे ग प रे—स, रे ग प ध़ ध़ प ग —ध़ प रे—स

दा—दा रा दा— दा—रा दा रा— दा दा रा —दा रा दा—रा

× 2

ध़ ध़ प़ रे ग प़ ध़ ध़ स ग रे

दा दा रा दिर दा दिर दा रा

□

रे ग प रे ग रे स,

दा रा— दा— रा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तरा 3

ग रे

—ग—प रे— — ग ग प ध़

—दा—रा दा— दि र दा रा

× 2

सं स सं सं सं ध़ रें रें सं सं

दा दा रा दि र दा दि र दा रा

☐ 3 गं

ध़ ध़ प रें गं पं धं धं पं गं —धं पं रें—सं

दा दा रा दा—रा— दा दा रा —दा रा दा—रा

× 2

ध़ ध़ प प प ग प ध़ सं ध़ प

दा दा रा दि र दा दि र दा रा—

☐

ग रे ग रे स,

दा— दा— रा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तोड़ें व तानें

1. प — — ध — — स — | — स — — स —
2 | 0

2. सरेगप, रेगपध, ।धपग, रेरेसस |
0

धधपप पधसरे गग | ध
×

3. —गगरेस रेरेसध स.रेगप | धपगप गपधप गगरेसं
2 | 0

सरेगरे | ग सरेगरे ग सरेगरे | ध
3 ×

4. ——सरेग, स —रेगप | धपगप धधसं— धरेंसं, ध —पगप |
2

गपधप गरेस—(स——, रें ——ग—) 3 बार | ×

5. गरेसरे रेसधप पधधपध सरेगरे | सरेगप धपगप
×

धसंरेंगं रेंसंधप | पधसंरें गंरेंसंरें संसंधप गरेस— |

गरेसरे ग—, गरे सरेग— गरेसरे | ×

6. —गरेग —रेसरे —सधस —धपंध पधधसरे गरेसरे
⊠

गगग, प पपधध संसंरेंगं रेंसंधप गपधप गरेस—

(गरेसध —स—रे ग)3 | ×

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

7. 3 ध़ ध़ ध़ स स स रे रे रे ग ग ग स स स रे रे रे ग ग ग प प प

× ग ग ग प प प ध॒ ध॒ ध॒ सं सं सं ध॒ ध॒ ध॒ रें रें रें सं सं सं ध॒ ध॒ ध॒

2 प प प ग ग ग रे रे रे स स स (ग ग ग रे रे रे स स स रे रे रे |

0 ग)3 | ×

8. स — स रे रे ग ग | 2 रे — रे ग ग प प ग — ग प प ध॒ ध॒ प — प ध॒ ध॒ सं सं

सं — सं रें ग रें सं | 0 ध॒ — ध॒ रें रें सं सं सं — सं ध॒ ध॒ प प ग — प ग रे स स

(ध़ — ध़ स स रे रे | 3 ग)3 | ×

9. 0 स रे ग प रे ग प ध॒ ग प ध॒ प प ध॒ सं- ध॒ सं रें गं रें सं ध॒ प

सं सं ध॒ प ग ग रे स 3 (ग ग रे रे स स रे रे ग — —) 3 | ×

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रुत गत—तीनताल

स्थायी

×				2			
				—	पप	गए	गरे
				ऽ	दिर	दारा	दारा
☐				3			
सस	ध—	ध,स	—स,	रे—	रे,ग	—ग	प
दिर	दा—	रदा	—र	दा—	रदा	—र	दा
× ग				ग			
ध	—	—	प	—			
दा	ऽ	ऽ	रा	ऽ			

अन्तरा

×				2			
ध	—	—,	प	—	ध	सं	रें
दा	ऽ	ऽ	दा	ऽ	र	दा	रा
☐				3			
गं	रें	संसं	रेंरें	सं—	सं,ध	—ध,	प—
दा	रा	दिर	दिर	दा—	रदा	—र	दा—
×				2			
प,ग	—ग,	रे	स	—,			
रदा	—र	दा	रा				

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तानें

1. सरे गरे सरे सध | रेग पग रेग प— | ×
0 3

2. रेग पग रेग रेस | रे ग प ध | ×
0 3

3. प— ध, ग —प, रे— | ग, स —रे ग प | ×
0 3

4. गप धप गप गरे | रेग पग रेग रेस | सरे गप ध—, सरे
× 2 0

गप ध— सरे गप | ×
3

5. ध— सरे गरे स— | रेग पग रेग रेस | ×
0 3

6. गप गप —ग रेग | स रे ग प | ×
0 3

7. पध —, ग प—, रेग | —, स रे—, गरे सरे | ग —, गरे सरे
× 2 0

ग —, गरे सरे | ×
3

8. ध— सरे गग रेस | रेग पग रेग रेस | स, ध स रे
3 × 2

ग, ध स रे | ग, ध स रे | ×
0 3

9. सरे गरे सरे गरे | सरे गरे सरे गरे | रेग पग रेग पग
0 3 ×

रेग पग रेग पग | गप धप गप धप | गप धप गप धप
2 0 3

...

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पध संध पध संध | पध संध पध संध | संरें गंरें संरें गंरें
X 2 0

संरें गंरें संरें गंरें | सं रें गं पं | धं, धंपं गंरें संसं
3 X 2

धसं धप गप धप | गप गरे सरे, स— | (संसं धसं धप गरे
0 3 X

रेग रेस स रे | ग — — —)₃ | X
2 0

10. रेग रेग रे — | गप गप ग — | पध पध प —
X 2

गप धप गध पग | रेग पग रेग रेस | गप धप ध—
3 2

—, गप धप ध | — —, गप धप | X
0 3

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

झाला

×	धध	धध	धध	धध	2	धध	धध	धध	धध
□	सस	सस	सस	सस	3	सस	सस	सस	सस
×	रे	>	>	>	2	स	>	>	>
□	स	>	>	>	3	स	>	>	>
×	पप	पप	पप	पप	।	धध	धध	धध	धध
	सस	सस	सस	सस	।	रेरे	रेरे	रेरे	रेरे
×	रे	>	>	>	।	स	>	>	>
	स	>	>	>	।	स	>	>	>
×	धध	धध	सस	सस	।	धध	धध	रेरे	रेरे
	धध	धध	गग	गग	।	रेरे	रेरे	सस	सस
×	रे	>	>	>	।	रे	>	>	>
	स	>	>	>	।	स	>	>	>
×	(प	>	>	>	।	ग	>	प	>
	रे	>	>	>	।	स	>	>	>)2
×	स	>	>	रे	।	>	>,	ग	>
	>,	प	>	>	।	ध	>	प	>
×	प	>	>	>	।	ग	>	प	>
	रे	>	>	>	।	स	>	>	>
×	रे	>	>	म	।	>	>,	ध	>
	>,	प	>	>	।	ग	>	प	>
×	रे	>	>	>	।	स	>	>	>
	स	>	>	>	।	स	>	>	>

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

×	स	>	रे	>	।	ग	>	प	>
	रे	>	ग	>	।	प	>	ध॒	>
×	ध॒	>	>	>	।	प	>	>	>
	प	>	>	>	।	प	>	>	>
×	ग	>	>,	प	।	>	>,	रे	>
	ग	>	>	प	।	>	>,	ध॒	>
×	ध॒	>	>	>	।	प	>	>	>
	प	>	>	>	।	प	>	>	>
×	प	>	>,	ग	।	>	>,	प	>
	>,	ध॒	>	>	।	प	>	ध॒	>
×	ग	>	प	>	।	ध॒	>	प	>
	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
×	ग	>	>,	प	।	>	>,	रे	>
	>,	ग	>	>	।	प	>	ध॒	>
×	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
×	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
×	प	>	>,	ध॒	।	>	>	सं	>
	>,	रें	>	>	।	सं	>	रें	>
×	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
×	>	सं	>	>	।	>	सं	>	>
	>	सं	>	>	।	>	सं	>	>
×	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
×	ध॒	>	सं	>	।	ध॒	>	रें	>
	सं	>	>	>	।	सं	>	<	>

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

×	सं	>	>	>	।	रें	>	>	>
	गं	>	>	>	।	गं	>	>	>
×	रें	>	गं	>	।	पं	>	धं	>
	धं	>	>	>	।	पं	>	>	>
×	धं	>	>,	पं	।	>	>,	गं	>
	>,	रें	>	>	।	सं	>	रें	>
×	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
×	ध ध	ध ध	सं सं	सं सं	।	रें रें	रें रें	गं गं	गं गं
	रें रें	रें रें	सं सं	सं सं	।	ध ध	ध ध	सं सं	सं सं
×	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
×	सं	>	ध	>	।	सं	>	रें	>
	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
×	सं	>	ध	>	।	सं	>	रें	>
	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
×	ध	>	>	सं	।	>	>	ध	>
	>	रें	>	>	।	सं	>	रें	>
×	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
	सं	>	>	>	।	सं	>	>	>
×	सं रें	सं रें	ध सं	ध सं	।	प ध	प ध	ग प	ग प
	रे रे	ग ग	प प	ग ग	।	रे रे	ग ग	रे रे	स स
	स स	रे रे	ग ग	प प	।	ध	—	स स	रे रे
×	ग ग	प प	ध	—	।	स स	रे रे	ग ग	प प
	ध								
	×								

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिशिष्ट ग

ग्रन्थ पञ्जी

बंगला, हिन्दी तथा संस्कृत ग्रन्थ

1. अंग्रेजी हिन्दी कोष : फादर कामिल बुल्के, कैथलिक प्रेस, रांची, 2 य सं. 1971
2. काव्य प्रकाश मम्मट, बम्बई संस्करण 1917
3. काव्य मीमांसा : राज शेखर, बड़ौदा संस्करण
4. किताब-ए-नौरस : इब्राहिम आदिलशाह, सं०ना० अकादमी, नई दिल्ली, 1956
5. चतुर्दण्डी प्रकाशिका : वेंकटमखी, पं० एस सुब्रह्मण्य शास्त्री, (1 म भाग) 1934
6. दत्तिलम् : दत्तिल, लक्ष्मीनारायण गर्ग, संगीत कार्यालय हाथरस, उ०प्र० 1960
7. ध्वनि और संगीत : प्रो० ललित किशोर सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण। 1962
8. नादरूप : प्रमुख सम्पादक डा० प्रेमलता शर्मा, श्री कला संगीत भारतीय (संगीत महाविद्यालय) का०हि०वि०वि। 1961
9. नाट्यशास्त्र : भरत, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, बनारस 1929
10. —वही— : (अभिनव भारती सहित) भरत, श्री राम कृष्ण कवि, ओरिएन्टल इन्सटीट्यूट बड़ौदा 1956
11. नारदीय शिक्षा : नारद, भट्ठ शोभाकर की टीका सहित श्री पीताम्बर पीठ संस्कृत परिषद् दतिया (म० प्र०) सं० 2011
12. प्रणव भारती (1 म भाग) : पं० ओमकार नाथ ठाकुर 1956
13. बृहद्देशी : मतंग, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली प्रकाशन 1928
14. भरत का संगीत सिद्धान्त : डा० कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, (उ० प्र०) 1956
15. भरत कोष : प्रो० रामकृष्ण कवि, तिरुमलाई तिरुपति 1951
16. भरत भाष्यम : नान्यदेव, चैतन्य देसाई, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, (म० प्र०) 1961
17. भातखण्डे संगीत शास्त्र : पं० विष्णु नारायण भातखण्डे, अनु० विश्वम्भर (1-4 भाग) नाथ भट्ट, सु०प्र०दुबे, संगीत कार्यालय हाथरस 1956-1964

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

18. भारतीय संगीत का इतिहास : डा० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी 1969
19. भारतीय संगीतवाद : डा० लालमणि मिश्र भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली 1973
20. महाभाष्य : पतंजलि, निर्णयसागर संस्करण
21. मानसोल्लास : सोमेश्वर, जी० के० श्री गोंडेकर, ओरिएन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा 1961
22. मीमांसा दर्शन : जैमिनी, आनन्दाश्रम संस्करण
23. मुसलमान और भारतीय संगीत : डा० बृहस्पति, राजकमल प्रकाशन दिल्ली
24. मेघदूत : कालिदास ग्रन्थावली, भारत प्रकाशन मन्दिर
25. याज्ञवल्क्य स्मृति : अलीगढ़, बम्बई संस्करण सं 2019
26. रस कौमुदी : श्रीकण्ठ
27. राग तत्त्व विबोध : श्रीनिवास, मालचन्द्र शर्मा, आर्यभूषण प्रेस, पूना 1918
28. रागतरंगिणी : लोचन, दरभंगा राज प्रेस, पं० बलदेव मिश्र, 1934
29. रागविबोध : सोमनाथ, पं० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री अडयार लाइब्रेरी, मद्रास 1945
30. राग मंजरी : पुण्डरीक विट्ठल, मालचन्द शर्मा, निर्णय सागर प्रकाशन, बम्बई 1914
31. राग माला : —वही—
32. श्रुति वीणा : डा० लालमणि मिश्र 1964
33. सरमा-ए-एशरत : उस्ताद सादिक अली खां, हस्तलिखित प्रति, रामपुर लाइब्रेरी
34. संगीत चिन्तामणी : डा० बृहस्पति तथा सुमित्रा कुमारी, संगीत कार्यालय, हाथरस 1966
35. संगीत दर्पण : चतुर दामोदर, के० वासुदेव शास्त्री, सरस्वती महल, तंजोर 1952
36. संगीत दामोदर : भट्ट शुभंकर, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, 1960
37. संगीत पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन : पं० भातखण्डे, संगीत कार्यालय हाथरस 1958
38. संगीत नारायण : गजपति नारायण देव, ओड़िसा संगीत अकादमी, भुवनेश्वर 1966

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

39. संगीत पारिजात : अहोवल, संगीत कार्यालय, हाथरस तथा डा० प्रेमलता शर्मा के पास सुरक्षित एक अन्य संस्करण

40. संगीत रत्नाकर : शार्ङ्गदेव पं० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री अडयार (भाग 1, 2, 3) लाइब्रेरी मद्रास 1943-51

41. संगीत राज (भाग 1, 2) : राणा कुम्भ, डा० प्रेमलता शर्मा, का हि०वि०वि० तथा अप्रकाशित संस्करण 1963

42. संगीत शास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, हिन्दी समिति, सूचना विभाग (उ० प्र०) 1968

43. संगीत सार : क्षेत्रमोहन गोस्वामी, कलकत्ता, 2 य सं 1979

44. संगीत सारामृत : तुल पं० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री, संगीत अकादमी, मद्रास 1942

45. संगीत सुधा : रघुनाथ भूप, —वही— 1940

46. संगीताञ्जलि (भाग 1, 6) : पं० ओमकार नाथ ठाकुर, 1959-62

47. संगीत समयसार : पार्श्व देव, डा० बृहस्पति, श्री कुन्द, कुन्द भारती, दिल्ली 1977

48. सदागचन्द्रोदय : पुण्डरीक विट्ठल, मालचन्द्र शर्मा, निर्णय सागर संस्करण, बम्बई 1912

49. संस्कृत हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, 2य सं० 1969

50. संग्रह चूड़ामणि : गोविन्द, पं० सुब्रह्मण्य शास्त्री अड़यार लाइब्रेरी मद्रास 1938

51. स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान : डा० इन्द्राणी चक्रवर्ती, चौखम्भा ओरिएन्टालिया, वाराणसी। 1979

अंग्रेजी ग्रंथ

1. A Comparative Study of the Musical Systems of Northern and Southern India (Thesis) : Dr. N. Rajam. Library of Department of Musicalogy, B.H.U.

2. AL-THA-ALBI : H. Zohenburg, Histoire des-rios de Persis. 1900

3. An Outline of Music and Musical Theory : Arthur uphan Pope,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4. A Survey, of Persian Art : Oxford University Press London vol III : The Influence of Music.

5. R. D. Erhinger :

6. A Critical and Comparative Study of Indian Music and Music of Middle East : Dr. R. D. Chakraborty unpublished thesis, B. H. U.

7. Hindu Music : Sir Shourindra Mohan Tagore, Chaukhambha Prakashan, Varanasi 3rd Edition. 1965

8. Universal History of Music : *Ibid* (Reprint) Mittal Publications, Delhi, 1984

9. Psychoaccoustics of Music and Speech : Dr. B. C. Deva The Music Akademi, Madras. 1967

10. The 22 Srutis of Indian Music : M. R. Telang Oriental Book Agency, Poona. 1933

पत्र-पत्रिकाएँ

संगीत पत्रिका : संगीत कार्यालय, हाथरस 1972-74

Music Academy : Madras, Vol XLI, Pt IV 1970
Journal, प्रबन्ध

नाम, Gandharva and Deshi by C. Desai.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुद्धि पत्र

पृष्ठ संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
2.	भारत	भरत
2.	गन्धर्व	गान्धर्व
3.	निर्णीत	निर्गीत
4.	कोष	कोष में
5.	जितन्त्री	त्रितन्त्री
5.	डूमरी	ठूमरी
6.	विर	दिर
6.	तिर्ट	तिट
7.	ध्रुवगान	ध्रुवागान
7.	व्यावहारिक	व्यवहारिक
8.	जो	वह
8.	वह	—
10.	श्रोतृचित	श्रोतृचित्त
10.	जान्य राग	जन्य राग
11.	रामामान्य	रामामात्य
11.	षड़ज	षड्ज, हर स्थान पर यही पाठ होगा
11.	ध्र	ध
11.	कौशिक	कैशिक (जहाँ स्वर के साथ हो)
12.	19वीं शताब्दी	14वीं शताब्दी
12.	राज	राग
17.	अनाहत का	अनाहत नाद
18.	यंग	यंत्र
19.	तखें	तरबे (हर स्थान पर यही पाठ होगा)
20.	रूवाब	रबाब
20.	ने	—
21.	में	ने
23.	निजराव	मिजराब
24.	तबाला	तबला

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

26.	भले ही ग्राम मूर्च्छना	तबला
27.	षड्जक्रमिक	षड्जग्रामिक
27.	चलुक्षुतिक	चतुःश्रुतिक
28.	प्रतिम	प्रति म
28.	तीव्रम	तीव्र म
28.	प्रतिमा	प्रति म
28.	रि-पा	रि-ध
28.	चतुश्रुति	चतुःश्रुति
28.	मुरवारी	मुखारी
28.	माल वगोल	मालवगौल
29.	अभिरागों	मार्गरागों
29.	रुचिभेद से के	रुचिभेद से 9 के
29.	स्वरनाम	दक्षिण में तीव्र तीव्रतर आदि स्वरनाम
30.	व्यंकटभरती	वेंकटमखी
30.	रि - ग - पा - नि	रि - ग - ध - नि
31.	अतिकृत	अविकृत
31.	चन्न	चिन्न
32.	ताल	तालु
33.	व्यास	न्यास
33.	ग्रामिक, ग्रामिभ	ग्रामिक
33.	स्तुति	श्रुति
34.	विशेषकर में	विशेषकर वादकों में
36.	घुने	छुने
36.	म - प - ग - नि - स	म - प - ध - नि - स
37.	मारता	मारवा
40.	गायक का	गायक या
40.	अतिश्य	अतिशय
41.	प्रत्याहिक	प्रात्यहिक
43.	विपुष्वेव	विपुष्पेव
43.	गीतिगातृच्चोतृणा	गीतिगातृश्रोतृणां
45.	सं सं से	सं सं से (स्वरलिपि में से के स्थान पर सं पढ़ा जायगा)
46.	मा धा नी	मा पा धा नी
46.	यद्या	यद्यपि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

46.	स इ रि	स्वरलिपि में जहाँ दो स्वरों के बीच इ मुद्रित है उसे ३ पढ़ा जायेगा जैसे स ३ रि, रि ३ ग आदि
47.	शिवप्तिय	शिवप्रिय
47.	प्रेख, प्रेखित	प्रेंख, प्रेंखित, हर जगह यही पाठ होगा
48.	प्रायोजन	प्रयोजन
49.	मधपनिस	मधपनिम
52.	श्री कणाग्रणी	श्री करणाग्रणी
53.	सप्तसूलादि	सप्तसूडादि
54.	गगमगगगमग	गगममगगमग
62.	—	हसित के उदाहरण में एक नि और
62.	स्वरयुग	स्वरयुग्म
63.	मस्तकरेश्वकः	मस्तकरेखकः
64.	गरि	ग रि
64.	संगीतरत्नाडार	संगीतरत्नाकर (हर स्थान पर यही पाठ होगा)
69.	व्यंकटमखी	वेंकटमखी
70.	सोर	सीर
75.	श्लक्षण	श्लक्ष्ण
78.	क्रमवद्ध से	क्रमवद्ध रूप से
78.	अपार्थक	असार्थक
79.	टँकी	ढेंकी
88.	तच्चारीरनिति	तच्छारीरमिति
89.	कपिःतं	कम्पितं
93.	सुसगीत	सुसंगीत
93.	संख्या से	संख्या तक
94.	वेगाद्गातागते	वेगाद्गतागते
97.	मर्दत्व	मर्दल
98.	गृह	ग्रह
99.	किसी का	किसी का कम
103.	पुरुष	परुष
105.	ग्रहाणाप्राधान्यम्	ग्रहाणांप्राधान्यम्
105.	स्रोतोगतयतः समयग्रहमार्गाणां	स्रोतोगतायति समग्रहमार्गाणां
105.	रक्षिणा	दक्षिणा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

106.	यस्तत्रतुलयो मध्यस्तग्रमाणा	यस्तत्र तु लयो मध्यस्ततप्रमाणा
106.	एकक	एककल
106.	विकल	द्विकल
106.	दिलम्बिल	विलम्बित
111.	वृत्ति को	वृत्ति की
111.	पहले ताल पुनः गीत	पहले गीत पुनः ताल
112.	व्यजन	व्यंजन
113.	ग्रघात	ग्राघात
114.	drution	duration
114.	तिनी	वर्तिनी
116.	ग्रवृत्ति	ग्रावृत्ति
116.	मगधदेशोम्दव	मगधदेशोद्भव
120.	पट्वंचक	षट्पंचक
122	षोडनेन	पीडनेन
122.	राजलक्षण	रागलक्षण
122.	स्वरलाप	स्वरालाप
123.	इन्द्र	इदं
125.	25	—
125.	छष्ट	दृष्ट
125.	नष्टोच्छिष्ट	नष्टोद्दिष्ट
125.	श्रेयसेऋतिचोदिता	श्रेयसेश्रुतिचोदिता
125.	श्रृति	श्रुति (हर स्थान पर यही पाठ होगा)
125.	तदनुगृहोता	तदनुगृहीताः
125.	लक्ष्यमानलक्षण	वक्ष्यमानलक्षणं
126.	ऋतिचोदिता	श्रुतिचोदिता
126.	डम्युदयाय	ऽम्युदयाय
126.	नानादि	तानादि
		चोपयोगिनो भवंति । मन्द्रमध्य-ताराख्यस्थानप्राप्तस्य उपयोगिनो भवन्ति
128.	श्रवणाच्तयो माताः	श्रवणाच्छ्रुतयो मताः
128.	वैंविक	वैणिक
129.	श्रुति छोड़ना	श्रुति छेड़ना
130.	सारता	सारणा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

130.	भदगोत्रांक	मद्गोत्रांकं
130.	गेयमुद्रातुकामा	गेयमुद्गातुकामा
130.	तन्त्रीमांद्रां	तन्त्रीमाद्रीं
130.	क्रमिका	कम्रिका (यही पाठ होगा)
131.	भरत ने	भरत को
131.	तज्जोनित	तज्जनित
132.	स्वरत्वोपलभः	स्वरत्वोपलम्भः
134.	दाखी	दारवी (यही पाठ होगा)
135.	तता तोद्य	ततातोद्य
136.	अध्याय को	अध्याय की
137.	समुदायस्तथैँथेपां	समुदायस्तथैँतेषां
139.	—	समस्त स्वरलिपि चिन्हों को व्याख्या के अनुसार पढ़ा जायगा
139.	त्रिरुन्तर	त्रिरुत्तर
141	रिमित	रिभित
142.	सातुवन्ध	सानुबन्ध
142.	अपरेडत्र्वन्	अपरेऽव्वन्
144.	क्रमिकायुक्त	कम्रिकायुक्त
145.	उन्मुप्ट	उन्मृष्ट
147.	लवाई	लम्बाई
149.	अन्वर्यक	अन्वर्थक
151.	कृतन	कृन्तन
152.	घन्न्	घञ
153.	हस्तयापार	हस्तव्यापार
156.	बहु	वह
158.	पह्मपत्र	पद्मपत्र
160.	विकाशील	विकासशील
162.	विवंची	विपंची
164.	वहाँ	यहाँ
164.	सरिकायुक्त	सारिकायुक्त
165.	शृव्यन्तरादि	श्रुत्यन्तरादि
165.	शृत्यां	श्रुतौ
165.	श्रुतिनियमेनान्यस्थापयेदित्युक्त-वान्	श्रुतिनियमेनान्यान्स्वरां न्स्थापयेदित्युक्तवान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

165.	स्थापयेत्तदवेक्षया	स्थापयेत्तदपेक्षया
165.	मध्यमात्पंचमस्तद्धर्तृतायो	मध्यमात्पंचमतद्वत्तृतीयो
165.	षड्जवस्थानमंगोकृत्यैव	षड्जावस्थापनमंगीकृत्यैव
166.	त्रिश्रुतिक और चतुश्श्रुतिक	त्रिश्रुतिक और चतुःश्रुतिक
69.	चर्चित-चर्वण	चर्वित-चर्वण
74.	द्वादशटौ	द्वादशाष्टौ
174.	ययोरन्तगोचरा··· स्त	ययोरन्तरगोचराः······तौ
174.	अवस्थानुश्रुति	अवस्थान श्रुति
180.	शुण्डक्रिया	गुण्डक्रिया
182.	चाक्रिक प्रक्रिया	चक्रिक प्रक्रिया
182.	तुच्छायो	तुच्छ्रायो
182.	यत्राप्युद्गाह	यत्राप्युद्ग्राह
184.	तारमन्द्रयोरम्भयोरेकस्य	तारमन्द्रयोरारम्भयोरेकस्य
187.	स्वतत्र	स्वतन्त्र
188.	पर्दों	पर्दों
189.	यग	युग
190.	पश्चत	पश्चात्
193.	आहोबल	अहोबल

[लेखिका के प्रेस से दूर होने, जिस कारण वे व्यक्तिगत रूप से प्रूफ नहीं देख सकीं, संगीत विषयक कुछ तकनीकी शब्दों की दुरुहता के कारण उनकी वर्तनी में अशुद्धियां तथा कतिपय अन्य मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियां प्रस्तुत पुस्तक में रह गई हैं, जिसका परिणाम है—यह शुद्धि पत्र। जिसका हमें खेद है। आगामी संस्करण में ये ठीक कर दी जायेंगी। —प्रकाशक]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डाँ. इन्द्राणी चक्रवर्ती ने संगीत-शिक्षा के क्षेत्र में अपनी विशेष व अमिट छाप छोड़ी है। भारत की कनिष्ठतम संगीत अध्यक्षा के रूप में आपने संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला में सन् १९८१ में पदभार सम्भाला और अब तक उसे बखूबी निभा रही हैं। इस विभाग में एम.फिल. व व पीएच.डी. जैसी उच्च शिक्षा का प्रारम्भ कर आपने छात्रों को नई दिशा दी, तथा प्रेरणा की स्रोत बनी। आप संगीत के अध्ययन-अध्यापन व प्रयोगपक्ष का गम्भीर चिन्तन तथा मनन करती रहती हैं। इन्द्राणी आकाशवाणी तथा दूरदर्शन की नियमित कलाकार हैं।

डाँ. इन्द्राणी की अनुसन्धानप्रियता के कारण संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली, व विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली ने इन्हें नवीन खोज के लिए अनुदान दिया है जो संगीत के क्षेत्र में गौरव का विषय है। गम्भीर चिन्तन व मनन का परिणाम आपका शोध-ग्रन्थ "स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान" है, जिसके प्रकाशनार्थ संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली ने अनुदान दिया।

निरन्तर प्रवाहमान चिन्तन ने ही 'संगीत मंजुषा' को जन्म दिया है, जो संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ, उ.प्र. से अनुदान प्राप्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

MITTAL PUBLICATIONS
DELHI-110035 (INDIA)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi